सन्मति आगम-साहित्य रत्नमाला का प्रथम रत्न

सामायिक-सूत्र

[प्रवचन, मूल, अर्थ एव विवेचन सहित]

लेखक :

उपाध्याय अमरमुनि
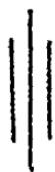
प्रकाशक :

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

पुस्तक :
सामायिक-सूत्र

•

लेखक :
उपाध्याय मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज

•

अन्तर्दर्शन
पं० बेचरदासजी दोशी

•

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण
दीपावली, १९६९

•

मूल्य :
पाँच रुपये मात्र

•

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा-२

•

मुद्रक
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

प्रकाशकीय

धर्म यदि जीवन का आधार है तो व्रत उसकी आधारशिला है। धार्मिक जागरण, उसमें श्रद्धा, निष्ठा एव भक्ति-भाव ही हमारे अदर आध्यात्मिकता का विकास कर, हममे देवोपम जीवन का पर्याय बनाता है, तो व्रत हमें आत्मशुद्धि, आन्तरिक सौम्यता, ऋजुता, विन-यिता एव 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावभूमि तैयार करता है।

प्राणिमात्र से समता का आधार ही सामायिक व्रत का अर्थ है। सामायिक, जितना अतर की शुद्धता, समता एवं सहजता पर बल देता है, बाह्य का उतना विधान नही करता। हाँ बाह्य का विधान उतनी ही दूर तक करता है, जैसे कि दरिया के उस पार जाने के लिए नौका का विधान आवश्यक होता है।

प्रस्तुत पुस्तक सामायिक-सूत्र धर्म एव व्रत की इसी मूल भावना पर भाष्य के साथ-साथ मौलिक विवेचन एव चिंतन प्रस्तुत करती है। धर्म एव व्रतों पर आज अनेकानेक पुस्तकें देखने को मिलती हैं किन्तु हमारा उद्देश्य मात्र धर्म के नाम पर धर्म की पुस्तकें आँख मूँद कर छापने का नहीं है, बल्कि धर्मप्रेमी श्रद्धालु सज्जनों को धर्म व व्रतों के सूत्रों का सरल भाषा में स्पष्ट एव चिंतनपूर्ण भाष्य प्रस्तुत करने के साथ ही उन्हें धर्म व व्रतों की मूल बातों से अवगत कराना है, जो उन्हें वास्तविकता का समुचित ज्ञान कराता है।

सामायिक-सूत्र, हमारा इस दिशा में सफल प्रयास है, यह बात इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि प्रस्तुत संस्करण इस पुस्तक का तृतीय संस्करण है। इस संस्करण में जैसा कि मैंने बहुत पूर्व सोचा था कि हम धर्मप्रेमी सज्जनों को सामायिक की मूल बातों के मौलिक

एव तात्त्विक विवेचन से अवगत कराएँ, हमारी कल्पना साकार हो चुकी है। श्रद्धेय कविश्री उपाध्याय अमरचंद्रजी महाराज की कृपा एव आशीर्वाद के अर्घ्यस्वरूप हम सुधी पाठको के समक्ष, सामायिक-सूत्र का यह तृतीय सशोधित एव परिवर्द्धित सस्करण प्रस्तुत करते अपार गौरव की अनुभूति कर रहे है। इसमे कवि श्रीजी की व्रत एवं धर्मपरक नितान्त मौलिक एव तात्त्विक चितना को सर्वसाधारण के व्यवहारयोग्य सरल एव बोधगम्य भाषा-शैली मे सजोया गया है।

हमे विश्वास है, धर्मप्रेमी सज्जन, पूर्व की भाँति इस सस्करण को भी हृदय से अपनाएँगे तथा अपना अमूल्य सुझाव देकर हमे इस दिशा मे बल प्रदान करेंगे। सामायिक सबके लिए मगलमय हो!

मत्री,

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

अन्तर्दर्शन

उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी द्वारा लिखित सामायिक सूत्र मैं सम्पूर्ण पढ़ गया हूँ। इसमे मूल पाठ तथा उसका संस्कृतानुवाद (संस्कृत शब्दच्छाया) दोनों ही हैं। मूल पाठ के प्रत्येक शब्द का हिन्दी में अर्थ तो है ही, साथ ही प्रत्येक सूत्र के अन्त मे उसका अखंड संस्कृत भावार्थ भी दिया गया है। और भी, कविरत्न जी ने हिन्दी-विवेचन के रूप में सप्रमाण युगोपयोगी तथा जीवन-स्पर्शी शास्त्रीय चर्चाओं एव विवेचनाओं से इसे अध्ययनशील हृदयो के लिए अत्यंत ही उपयोगी रूप दिया है। सम्प्रदाय के सीमित क्षेत्र के बीच रहते हुए भी कविरत्नजी की विवेचना प्राय साम्प्रदायिक भावना से शून्य है, व्यापक है। तुलनात्मक पद्धति का अनुसरण कर उन्होंने इस ओर एक नया प्रकाश दिया है। इस प्रकार तुलनात्मक पद्धति तथा व्यापक भाव की दृष्टि का अनुसरण देखकर मुझे सविशेष प्रमोद होता है।

कविरत्न जी का जैन-जगत् मे साधुत्व के नाते एक विशेष स्थान है। फिर भी उन्होंने विनयशील स्वभाव, विद्यानुशीलन की प्रवृत्ति, विवेक-दृष्टि और असाम्प्रदायिक विचारो के सहारे अपने-आप को और भी ऊपर उठाया है। मेरा और उनका अध्यापक-अध्येता का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, अत. जितना मैं स्वय उन्हें नजदीक से समझ पाया हूँ, उतना ही यदि उनके अनुयायी भी अपने गुरु कविरत्न जी को समझने की चेष्टा करें, तो निश्चय ही वे अपना और अपनी सम्प्रदाय का श्रेय-साधन करने में एक सफल पार्ट अदा करेंगे।

प्रत्येक प्राणी में स्वरक्षण-वृत्ति का भाव जन्म से होता है। इस स्वरक्षण-वृत्ति को सर्वरक्षण-वृत्ति में बदल देना ही सामायिक का प्रधान

उद्देश्य है। मानव की दृष्टि सर्वप्रथम अपनी ही देह, इन्द्रियाँ और भोग-विलास तक पहुँचती है, फलत उसकी रक्षा के लिए वह सारे कार्य-अकार्य करने को तैयार रहता है। जब वह आगे बढकर पारिवारिक चेतना प्राप्त करता है, तब उसकी वह रक्षणवृत्ति विकसित होकर परिवार की सीमा मे पहुँच जाती है। परन्तु, सामायिक का दूरगामी आदर्श हमे बताता है कि स्वरक्षण वृत्ति के विकास का महत्त्व केवल अपनी देह और परिवार तक ही सीमित नही, वह तो विश्वव्यापी है। वह शांति परिषद् (पीस कान्फ्रेंस) की तरह केवल विचारमात्र मे नही, अपितु व्यवहार मे प्राणि-मात्र की रक्षा-वृत्ति मे है। विश्व-रक्षण का भाव रखने वाला और उसी के अनुसार कार्य करने वाला मानव ही सच्ची सामायिक करता है। फिर भले ही वह श्रावक हो या और कोई गृहस्थ हो, किंवा सन्यस्त साधु हो। किसी भी सम्प्रदाय-मत का अथवा देश का क्यो न हो और किसी भी विधि-परपरा से सम्बन्ध रखने वाला क्यो न हो। विभिन्न जातियाँ, विभिन्न भाषाएँ और विभिन्न विधियाँ सामायिक मे अन्तर नही डाल सकती, रुकावट पैदा नही कर सकती। जहाँ समभाव है, विश्वरक्षण-वृत्ति है और उसका आचरण है, वही सामायिक है। बाह्य भेद गौण है, मुख्य नही।

प्राणि-मात्र को आत्मवत् समझते हुए सब व्यवहार चलाने का ही नाम सामायिक है—सम+आय+इक=सामायिक। सम=समभाव, सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति, आय=लाभ, जिस प्रवृत्ति से समता की, समभाव की प्राप्ति हो, वही सामायिक है।

जैन शास्त्र मे सामायिक के दो भेद बताए गए है—एक द्रव्य-सामायिक, दूसरी भाव-सामायिक। समभाव की प्राप्ति, समभाव का अनुभव और फिर समभाव का प्रत्यक्ष आचरण-भाव सामायिक है। ऐसे भाव-सामायिक की प्राप्ति के लिए जो बाह्यसाधन और अतरंग-साधन जुटाए जाते है, उसे द्रव्य-सामायिक कहते है। जो द्रव्य-सामायिक हमे भाव-सामायिक के समीप न पहुँचा सके, वह द्रव्य-सामायिक नहीं, किन्तु शून्य-सामायिक है, मिथ्या सामायिक है, यदि थोड कर भाषा मे कह दूँ, तो छल-सामायिक है।

हम अपने नित्य प्रति के जीवन मे भाव-सामायिक का प्रयोग करें, यही द्रव्य-सामायिक का प्रधान उद्देश्य है। हम घर मे हो, दुकान मे

हो, कोर्ट-कचहरी मे हो, किसी भी व्यावहारिक कार्य मे और कही भी क्यो न हों, सर्वत्र और सभी समय सामायिक की मौलिक भावना के अनुसार हमारा सब लौकिक व्यवहार चलना चाहिए। उपाश्रय या स्थानक मे, "सावज्ज जोग पच्चक्खामि"—'पाप-युक्त प्रवृत्तियो का त्याग करता हूँ'—सामायिक के रूप मे ली गई उक्त प्रतिज्ञा की सार्थकता वस्तुत आर्थिक, राजनीतिक और घरेलू व्यवहारो मे ही सामने आ सकती है। दृढ निश्चय के साथ जीवन मे सर्वत्र सामायिक-प्रयोग की भावना अपनाने के लिए ही तो हम प्रतिदिन उपाश्रयादिक पवित्र स्थानो मे देवगुरु के समक्ष, "सावज्ज जोग पच्चक्खामि" की उद्घोषणा करते है, सामायिक का पुन -पुन. अभ्यास करते है। जब हम अभ्यास करते-करते जीवन के सब व्यवहारो मे सामायिक का प्रयोग करना सीख जाएं और इस क्रिया मे भली-भाँति समर्थ हो जायें, तभी हमारा द्रव्य सामायिक के रूप मे किया हुआ नित्यप्रति का अभ्यास सफल हो सकता है और तभी हम सच्चे सामायिक का परिणाम प्रत्यक्ष रूप मे देख सकते है, अनुभव कर सकते हैं।

जो भाई यह कहते हैं कि उपाश्रय और स्थानक मे तो सामायिक करना शक्य है, परन्तु सर्वत्र और सभी समय सामायिक कैसे निभ सकती है? उनसे मैं कहूँगा कि जब आप दुकान पर हो तो ग्राहक को अपने सगे भाई की तरह समझें, फलत उससे किसी भी रूप मे छल का व्यवहार नही करें, तोलमाप में ठगाई नही करें, वह जैसा सौदा मागता है वैसा ही सौदा यदि दुकान मे हो, तो उचित मूल्यो में दें। यदि सौदा खराब हो, बिगडा हुआ हो, तो स्पष्ट इन्कार कर दे, तो इस सत्य व्यवहारमय दुकानदारी का नाम भी सामायिक होगा। निश्चय ही आप उस समय बिना मुख-वस्त्रिका और रजोहरण के, बिना आसन और माला के होते हैं, परन्तु समभाव मे रहकर संयत वाणी बोलते हुए भगवान् महावीर की बताई हुई सच्ची सामायिक-विधि का पालन अवश्य कर लेते है।

इसी प्रकार, आप घर के व्यवहार मे भी समभाव रखते है। यदि आप घर मे माता, पिता, भाई, बहिन, बहू, बेटे और बेटी इत्यादि सभी स्वजनो के साथ आत्मवत् व्यवहार करने में सदा जागरूक है। कभी अज्ञान, मोह या लोभ के कारण उत्पात खडे होने की सम्भावना हो, तो आप समभाव से अपना कर्तव्य सोचते है। किसी भी प्रकार का

क्षुब्ध वातावरण हो, अपने विवेक को जागृत रखते है, तो यह भी सच्ची सामायिक होगी। इसी तरह लेन-देन, खेती के कामो और मजदूरो आदि की समस्या भी सुलझाई जा सकती है। साहूकार, कृषक और किसी भी श्रमजीवी का झगडा, आप समभाव-रूप सामायिक के सतत अभ्यास और विवेक के द्वारा प्रेम-पूर्वक सुलझा सकेंगे।

एक बात और। सच्ची सामायिक का फल वैभव-प्राप्ति नही है, भोग-प्राप्ति नही है, पुत्र और राज्य-प्राप्ति भी नही है। सामायिक का फल तो सर्वत्र समभाव की प्राप्ति, समभाव का अनुभव, प्राणि-मात्र मे समभाव की प्रवृत्ति, मानव-समाज मे सुख-शाति का विस्तार, अशाति का नाश और कलह-प्रपच का त्याग है। यही सामायिक का लक्ष्य है और यही सामायिक का उद्देश्य है।

सामायिक समभाव की अपेक्षा रखता है। वह मुख-वस्त्रिका, रजोहरण और आसन आदि की तथा मन्दिर आदि की अपेक्षा नही रखता। उक्त सब चीजो को समभाव के अभ्यास का साधन कहा जा सकता है। परन्तु यदि वे चीजें समभाव के अभ्यास मे हमे उपयोगी नही हो सकी, तो परिग्रहमात्र है, आडम्बरमात्र हैं। सामायिक करते हुए हमे लोभ, क्रोध, मोह, अज्ञान, दुराग्रह, अन्ध-श्रद्धा तथा साम्प्रदायिक द्वेष को त्यागने का अभ्यास करना चाहिए। अन्य सम्प्रदायो के साथ समभाव से बर्ताव करना तथा उनके विचारो को सरल भाव से समझना, सामायिक के साधक का यह आवश्यक कर्त्तव्य है। उक्त बातो पर कविश्री जी ने अपने विवेचन में विस्तार के साथ बहुत अच्छे ढंग से प्रकाश डाला है।

कभी-कभी हम धार्मिक क्रिया-काडो और विधि-विधानो को प्रपच-सिद्धि का निमित्त भी बना लेते है, धर्म के नाम पर खुल्लम-खुल्ला अधर्म का आचरण करने लगते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हम उन विधानो का हृदय एव भाव ठीक तरह समझ नही पाते। आज के धर्म और सम्प्रदायो के अधिकतर अनुयायियो का प्रत्यक्ष आचरण तथा धर्म-विधान इसकी साक्षी दे रहा है।

दूसरी, फूट की मनोवृत्ति है—धार्मिक फूट की मनोवृत्ति को ही ले लीजिए। हमारे पूर्वजो ने, सुधारको ने समय-समय पर युगानुकूल उचित परिष्कार और क्राति की भावना से प्रेरित होकर प्राचीन

जीर्ण-शीर्ण धार्मिक क्रिया-कलापों में थोड़ा-सा नया हेर-फेर क्या किया—हमने उसे फूट का प्रमाण ही मान लिया—भेदभाव का आदर्श सिद्धान्त ही समझ लिया। जैन समाज का श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय तथा श्वेताम्बर सप्रदाय मे भी, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी आदि के भेद और दिगम्बर सम्प्रदाय मे भी तारण पंथ तथा तेरह पंथ आदि की विभिन्नता, इसी मनोवृत्ति के प्रतीक है। फूट का रोग फैल रहा है, धर्म के नाम पर निन्दनीय प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, सर्वत्र एक भयंकर अराजकता फैली हुई है।

समाज में दो श्रेणी के मनुष्य होते है, एक पडित-वर्ग के लोग, जिनकी आजीविका एव प्रतिष्ठा शास्त्रो पर चलती है। पडित वर्ग मे कुछ तो वस्तुत नि स्पृह, त्यागी, स्व-पर श्रेय के साधक, समभावी होते है और कुछ उसके विपरीत सर्वथा स्वार्थजीवी, दुराग्रही और प्रतिष्ठा-प्रिय। दूसरी श्रेणी गतानुगतिक, परपरा-प्रिय, रूढ़िवादी अज्ञानियो की होती है। और, कहना नही होगा कि पडित-वर्ग मे अधिकता प्राय उन्ही लोगो की होती है, जो स्वार्थजीवी और दुराग्रही, प्रतिष्ठा-प्रिय होते है। समाज पर प्रभाव भी उन्ही का रहता है। फल यह होता है कि जनता को वास्तविक सत्य की प्रेरणा नही मिल पाती। इसके विपरीत, एक-दूसरे को झूठा आदि कठोर शब्दो से सम्बोधित कर घोर हिंसा की, पारस्परिक द्वेष की प्रेरणा ही प्राप्त होती है। शुद्ध धर्माचरण का प्रतिबिंब हमारे व्यवहारो मे आए तो कैसे? हम तो पाखडाचरण, साम्प्रदायिक द्वेष के भक्त बन जाते है, व्यवहाराचरण को धर्माचरण से सर्वथा अलग मान लेते है। हमारे साम्प्रदायिक हठ का राग हमे दबा लेता है। संप्रदाय के कर्णधार हमे सत्य की ओर नही ले जाते, प्रत्युत भ्रान्ति मे डाल देते है। धर्म के नाम पर आज जो हो रहा है, वह सत्य की असाधारण विडम्बना नही तो और क्या है?

धार्मिक मनुष्य के लिए धर्माचरण केवल कुछ प्रचलित क्रियाकाण्डो की पालना तक ही सीमित नही है, वस्तुतः प्रत्येक धर्माचरण का प्रतिबिम्ब हमारे नित्यप्रति के व्यवहाराचरण मे उतरना चाहिए। संक्षेप मे कहे, तो शुद्ध और सत्य व्यवहार का नाम ही तो धर्म है। जब हम व्यवहाराचरण को धर्माचरण से सर्वथा अलग वस्तु समझते है, तब सारी गड़बड़ी पैदा हो जाती है और मनुष्य सब साम्प्रदायिक

कर्मकाण्ड एक पाखंड बन कर रह जाता है। यदि शुद्ध व्यवहार को ही धर्माचरण समझें, तो फिर अनेक मत-मतान्तरों के होने पर भी किसी प्रकार की हानि की संभावना नहीं है। धर्म और मत-पंथ कितने ही क्यों न हों, यदि वे सत्य के उपासक हैं, पारस्परिक अखंड सौहार्द के स्थापक हैं, आध्यात्मिक जीवन को स्पर्श करने वाले हैं, तो समाज का कल्याण ही करते हैं। परन्तु, जब मुमुक्षा कम हो जाती है, भावना-वृत्ति शिथिल पड़ जाती है और केवल पूर्वजों का राग अथवा अपने हठ का राग बलवान् बन जाता है तब संप्रदाय पुराने विधि-विधानों की कुछ की-कुछ व्याख्या करने लगते हैं और जनता को भ्रान्ति में डाल देते हैं। ऐसी दशा में गतानुगतिक साधारण जनता सत्य के तट पर न पहुँच कर क्रियाकाण्ड के विकट भँवर में ही चक्कर काटने लगती है।

जबतक साधारण जनता में प्रचुर अज्ञान है, विवेक-शक्ति का अभाव है, तबतक किसी भी कर्मकाण्ड से उसको लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है। धार्मिक कर्मकाण्ड में हानि नहीं है, जनता का स्वयं का अज्ञान या उपदेशकों द्वारा दिया गया मिथ्या उपदेश ही हानि का कारण है। संक्षेप में, हमारे कहने का भाव यह है कि यदि धार्मिक क्रियाकाण्ड के द्वारा जनता को वस्तुतः लाभ पहुँचाना अभीष्ट हो, तो धार्मिक कर्मकाण्ड में परिवर्तन करने की अपेक्षा, तद्गत अज्ञानता को ही दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। मैं आज के जन-हितैषी आचार्यों से प्रार्थना करूँगा कि वे मुमुक्षु जनता को धार्मिक कर्मकाण्डों की पृष्ठभूमि में रहने वाले सत्य का प्रकाश दें और निष्प्राण क्रियाकाण्ड में प्राण डालने का प्रयत्न करें। हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों में इसीलिए कहा है—

"जो वर्ग धर्मगुरु या धर्मप्रज्ञापक का पद धारण करता है, उसको गंभीर भाव से अन्तर्मुख होकर शास्त्रों का अध्ययन-मनन और परिशीलन करना चाहिए। मात्र शास्त्रीय सिद्धान्तों के ऊपर राग-दृष्टि रखने से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। यदि ज्ञान हो भी जाए, तो ऐसा ज्ञान शास्त्रों के प्रज्ञापन में निश्चित और प्रामाणिक नहीं हो सकता।"

"जिस धर्मगुरु की प्रसिद्धि बहुश्रुत के रूप में जनता में होती है, जिसका लोग आदर करते हैं, जिसकी शिष्य-परम्परा विस्तृत है, यदि उसकी शास्त्रीय-ज्ञान की परम्परा निश्चित नहीं है, तो वह जिन

धर्म का आचार्य है, उसी धर्म का शत्रु होता है। अर्थात् ऐसा धर्मगुरु धर्मशत्रु का काम करता है।"

"द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, सयोग और भेद इत्यादि को लक्ष्य मे रखकर ही शास्त्रो का विवेचन करना चाहिए। अधिकारी जिज्ञासु का ख्याल किए बिना ही किया गया धर्म-विवेचन, वक्ता और श्रोता दोनो का ही अहित करता है।"

धर्म-साधना के लिए बाह्य साधनो का त्याग कर देना ही कोई साधना नही है। साधन से त्याग से ही विकारी मनोवृत्ति का अन्त नही हो जाता। कल्पना कीजिए, एक आदमी कलम से अश्लील शब्द लिखता है। उसे कोई धर्मोपदेशक यह कहे कि कलम से अश्लील शब्द लिखे जाते है, अत कलम को फेंक दो, तो क्या होगा? वह कलम फेंक देगा, और कलम से अश्लील शब्द लिखना बन्द हो जायगा, परन्तु फिर पेन्सिल से लिखने लगेगा। वह भी छुड़ा दी जायगी, तो खड़िया या कोयले से लिखेगा। यदि उसे भी अधर्म कह कर फिकवा देंगे, तो नख-रेखाओ मे अश्लीलता प्रकित करने की भावना जोर पकड़ेगी। इस प्रकार साधन के फेंकने अथवा बदलने से मानव कभी भी अश्लील प्रवृत्ति का परित्याग नही कर सकता। वह साधन बदलता चला जायगा, परन्तु भावना को नही बदलेगा। अतएव धर्मोपदेशक गुरु को विचार करना चाहिए कि अश्लील प्रवृत्ति का मूल कहाँ है? उसका मूल साधन मे नही, अज्ञान मे है, और, अज्ञान का मूल कहाँ है? अज्ञान का मूल अशुद्ध सकल्प मे मिलेगा। ऐसी स्थिति मे अश्लील प्रवृत्ति को रोकने के लिए हमारे हृदय मे जो अशुद्ध सकल्प है, उसका परिहार आवश्यक है। उदाहरण के लिए, अश्लील-लेखन को ही लीजिए। अश्लील-लेखन को रोकने के लिए कलम फिकवा देना आवश्यक नही है। आवश्यक है मनुष्य के मन मे रहने वाले अशुद्ध सकल्पो का त्याग, बुरे भावो का त्याग। अतः, अशुद्ध सकल्पो के त्याग पर ही जोर देना चाहिए, और बताना चाहिए कि अशुद्ध सकल्प ही अधर्म है, पाप है, हिंसा है। जबतक मन मे से वह विष न निकलेगा, तबतक केवल साधनो को छोड़ देने अथवा साधनो मे परिवर्तन कर लेने भर से किसी प्रकार की शुद्धि होना सम्भव नही। जो समाज केवल बाह्य साधना पर ही धर्मभाव प्रतिष्ठित करता है, अन्तर्जगत् मे उभर कर अशुद्ध सकल्पो

का बहिष्कार नहीं करता, वह क्रिया-जड हो जाता है। अशुद्ध संकल्पों के त्याग से ही शुद्ध व्यवहार, शुद्ध आचरण और शुद्ध धर्म-प्रवृत्ति संभव है, अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त सभी बातों पर कविरत्नजी ने सम्यक् रूप से विवेचना प्रस्तुत की है। इस ओर उनका यह प्रयास सर्वथा स्तुत्य कहा जायगा। कम से-कम मैं तो इस पर अधिक प्रसन्न हूँ और प्रस्तुत प्रकाशन को एक श्रेष्ठ अनुष्ठान मानता हूँ। सर्वसाधारण मे धर्म की वास्तविक साधना के प्रचार के लिए, यह जो मगल प्रयत्न किया गया है, उसके लिए कविश्री जी को भूरि-भूरि धन्यवाद।

मेरा विश्वास है, प्रस्तुत सामायिक-सूत्र के अध्ययन से जैन-समाज मे सर्व-धर्म समभाव की अभिवृद्धि होगी और भाई-भाई के समान जैन-सम्प्रदायो में उचित सद्भाव एवं प्रेम का प्रचार होगा। इतना ही नही, जैन-संघ को हानि पहुँचाने वाली उलझनें भी दूर होंगी।

कविरत्नजी दीर्घजीवी बनकर समाज को यथावसर ऐसे अनेक ग्रन्थ प्रदान करें और अपनी प्रतिभा का अधिकाधिक योग्य परिचय दे, यह मेरी सघन कामना है।

१२ ब, भारतीय निवास सोसाइटी
अहमदाबाद (गुजरात)

—बेचरदास दोशी

अनुक्रमणिका

सामायिक सूत्र १३३—२८७

परिशिष्ट २८९—३०४

---

१ ‖ विश्व क्या है ?

प्रिय सज्जनो ! यह जो कुछ भी विश्व-प्रपञ्च प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में आपके सामने है, यह क्या है ? कभी एकान्त मे बैठकर इस सम्बन्ध मे कुछ सोचा-विचारा भी है या नही ? उत्तर स्पष्ट है—'नही'। आज का मनुष्य कितना भूला हुआ प्राणी है कि वह जिस संसार मे रहता-सहता है, अनादिकाल से जहाँ जन्म-मरण की अनन्त कड़ियो का जोड़-तोड़ लगाता आया है, उसी के सम्बन्ध मे नही जानता कि वह वस्तुत क्या है ?

आज के भोग-विलासी मनुष्यों का इस प्रश्न की ओर, भले ही लक्ष्य न गया हो, परन्तु हमारे प्राचीन तत्त्वज्ञानी महापुरुषो ने इस सम्बन्ध मे बड़ी ही महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की है। भारत के बड़े-बड़े दार्शनिको ने संसार की इस रहस्यपूर्ण गुत्थी को सुलझाने के प्रति स्तुत्य प्रयत्न किए हैं और वे अपने प्रयत्नो में बहुत-कुछ सफल भी हुए हैं।

जैन दृष्टि

परन्तु, आज तक की जितनी भी संसार के सम्बन्ध में दार्शनिक विचारधाराएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें यदि कोई सबसे अधिक स्पष्ट सुसंगत एवं तर्कपूर्ण स्पष्ट विचारधारा है, तो वह केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन के धर्ता, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी जैन तीर्थंकरों की है। भगवान् ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकरों का कहना है कि 'यह विश्व चेतन और जड़ रूप से उभयात्मक है, अनादि है अनन्त है। न कभी बना है और न कभी नष्ट होगा। द्रव्य की दृष्टि से [illegible]-प्रवाह रूप,

रूप का परिवर्तन होता रहता है, परन्तु मूल-स्थिति का कभी भी सर्वथा नाश नही होता है। मूल-स्थिति का अर्थ 'द्रव्य' है।"[1]

चैतन्याद्वैत

*

चैतन्याद्वैतवादी वेदान्त के कथनानुसार—"विश्व केवल चैतन्य-मय ही है।" यह जैन धर्म को स्वीकार नही। यदि जगत् की उत्पत्ति से पहले केवल एक परब्रह्म चैतन्य ही था, जड अर्थात् प्रकृति नामक कोई दूसरी वस्तु थी ही नही, तो फिर यह नानाप्रपचरूप जगत कहाँ से आगया? शुद्ध ब्रह्म मे तो किसी भी प्रकार का विकार नही आना चाहिए? यदि माया के कारण विकार आ गया है, तो वह माया क्या है? सत् या असत्? यदि सत् है, अस्तित्वरूप है—तो अद्वैतवाद—एकत्ववाद कहाँ रहा? ब्रह्म और माया, द्वैत न हो गया? यदि असत् है, नास्तित्वरूप है—तो वह शश-शृङ्ग अथवा आकाश-पुष्प के समान अभाव-स्वरूप ही होनी चाहिए। फलत वह शुद्ध परब्रह्म को विकृत कैसे कर सकती है? जो वस्तु ही नही, अस्तित्वरूप ही नही, वह क्रियाशील कैसे? कर्त्ता तो वही बनेगा, जो भावस्वरूप होगा, क्रियाशील होगा। यह एक ऐसी प्रश्नावली है, जिसका वेदान्त के पास कोई उत्तर नही।

जडाद्वैत

*

अब रहा जडाद्वैतवादी चार्वाक अर्थात् नास्तिकवादी विचार, जो यह कहता है कि "संसार केवल प्रकृति-स्वरूप ही है, जडरूप ही है, उसमे आत्मा अर्थात् चैतन्य नाम का कोई दूसरा पदार्थ किसी भी रूप मे नही है।"

जैन धर्म का उसके प्रति भी तर्क है कि "यदि केवल प्रकृति ही है, आत्मा है ही नही, तो फिर कोई सुखी, कोई दुखी, कोई क्षमाशील, कोई त्यागी, कोई भोगी, यह विचित्रता क्यो? जड प्रकृति तो सदा एक जैसी रहना चाहिए। दूसरे, प्रकृति तो जड है, उसमे भले-बुरे का ज्ञान कहाँ? कभी किसी जड ईंट या पत्थर

---

१. भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक १

आदि को तो ये सङ्कल्प नही हुए ? एक नन्हे-से कीड़े मे भी सकल्प शक्ति है। वह जरा-सा छेड़ने पर झटपट सिकुड़ता है और आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न करता है, परन्तु ईंट या पत्थर को कितना ही पीटिए, उनकी ओर से किसी भी तरह की चेतना का प्रदर्शन नही होगा।" चार्वाक उक्त प्रश्नो के समक्ष मौन है।

अतएव सक्षेप मे यह सिद्ध हो जाता है कि यह अनादि ससार, चैतन्य और जड उभयरूप है, एकरूप नही। जैन तीर्थंकरो का कथन इस सम्बन्ध मे पूर्णतया सौ टची सोने के समान निर्मल और सत्य है। * * *

२ चैतन्य

प्रस्तुत प्रसग चैतन्य अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध मे ही कुछ कहने का है, अत पाठको की जानकारी के लिए इसी दिशा मे कुछ पंक्तियाँ लिखी जा रही है। दार्शनिक क्षेत्र मे आत्मा का विषय बहुत ही गहन एव जटिल माना जाता है, अत एक स्वतन्त्र पुस्तक के द्वारा ही इस पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा सकता है। परन्तु, समयाभाव के कारण, अधिक विस्तार मे न जाकर, संक्षेप मे, मात्र स्वरूप-परिचय कराना ही यहाँ हमारा लक्ष्य है।

आत्मा क्या है, इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न दर्शनो की भिन्न-भिन्न धारणाएँ है। किसी भी वस्तु को नाममात्र से मान लेना कि वह है, यह एक चीज है, और वह किस प्रकार से है, किस रूप से है, यह दूसरी चीज है। अत आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाले दर्शनो का भी, आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे परस्पर मतैक्य नही है। कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। सब के सब परस्पर विरोधी लक्ष्यो की ओर दौड रहे है।

सांख्यदर्शन

*

सांख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानता है। वह कहता है कि आत्मा सदाकाल कूटस्थ-एकरूप रहता है। इसमे किसी भी प्रकार का परिवर्तन-विवर्त नही होता। प्रत्यक्षत जो ये सुख, दुःख आदि के परिवर्तन आत्मा मे दिखलाई देते है, सब प्रकृति के धर्म है, आत्मा के नही।

अस्तु, सांख्य-मत में आत्मा अकर्त्ता है। अर्थात् वह किसी भी प्रकार के कर्म का कर्त्ता नहीं है। करने वाली प्रकृति है। प्रकृति के दृश्य आत्मा देखती है, अतः वह केवल द्रष्टा है। सांख्य-सिद्धान्त का यही सूत्र है।

> प्रकृतेः क्रियमाणानि, गुणैः कर्माणि सर्वशः।
> अहंकार-विमूढात्मा, कर्त्ताहमिति मन्यते॥ —गीता, ३।२७

वेदान्तदर्शन

वेदान्त भी आत्मा को कूटस्थ-नित्य मानता है। परन्तु, उसके मत में ब्रह्मरूप आत्मा एक ही है, सांख्य के समान अनेक नहीं। प्रत्यक्ष में जो नानात्व दिखलाई देता है, वह माया-जन्य है, आत्मा का अपना नहीं। परब्रह्म के साथ ज्योंही माया का स्पर्श हुआ, वह एक से अनेक हो गया, संसार बन गया। पहले, ऐसा कुछ नहीं था। वेदान्त जहाँ आत्मा को एक मानता है, वहाँ सर्वव्यापी भी मानता है। अखिल ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा का पसारा है, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। वेदान्त के आदर्श-सूत्र हैं—

> सर्वं खल्विदं ब्रह्म। —छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१
> एकमेवाद्वितीयम्। —छा० उ० ६।२।१

वैशेषिकदर्शन

वैशेषिक आत्मा को अनेक मानते हैं, पर मानते हैं सर्वव्यापी। उनका कहना है कि "आत्मा एकान्त नित्य है। वह किसी भी परिवर्तन के चक्र में नहीं आती। जो सुख-दुःख आदि के रूप में परिवर्तन नजर आता है, वह आत्मा के गुणों में है, स्वयं आत्मा में नहीं। ज्ञान आदि आत्मा के गुण अवश्य हैं, पर, वे आत्मा को बद्ध करने वाले हैं, संसार में फँसाने वाले हैं। जब तक वे नष्ट नहीं हो जाते, तब तक आत्मा का मोक्ष नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वरूपतः आत्मा 'जड़' है। आत्मा से भिन्न पदार्थ के रूप में माने जाने वाले ज्ञान-गुण के सम्बन्ध से आत्मा में चेतना है, स्वतः नहीं।"

बौद्धदर्शन

बौद्ध आत्मा को एकान्त अनित्य मानते हैं। उनका अभिप्राय

यह है कि प्रत्येक आत्मा क्षण-क्षण मे नष्ट होती रहती है और उस से नवीन-नवीन आत्मा उत्पन्न होती रहती है। यह आत्माओ का जन्म-मरण-रूप प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। जब आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मा को समूल नष्ट कर दिया जाए, वर्तमान आत्मा नष्ट होकर आगे नवीन आत्मा उत्पन्न ही न हो, तब उसकी मोक्ष होती है, दु खो से छुटकारा मिलता है। न रहेगी आत्मा और न रहेंगे उसमे होने वाले सुख-दु ख। न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी।

आर्यसमाज

आजकल के प्रचलित पंथो मे आर्यसमाजी आत्मा को सर्वथा अल्पज्ञ मानते हैं। उनके सिद्धान्तानुसार आत्मा न कभी सर्वज्ञ होती है और न वह कर्म-बन्धन से छुटकारा पाकर कभी मोक्ष ही प्राप्त कर सकती है। जब शुभ कर्म होता है तो मरने के बाद कुछ दिन मोक्ष मे आनन्द का भोग प्राप्त होता है। और जब अशुभ कर्म होता है, तो इधर उधर की दुर्गतियो मे दु ख का भोग प्राप्त होता है। आत्मा अनन्तानन्त काल यो ही ऊपर-नीचे भटकती रहेगी। सदा के लिए अजर, अमर, अखण्ड शान्ति कभी नही मिलेगी।

देवसमाज

देवसमाजी आत्मा को प्रकृति-जन्य जड-पदार्थ मानते हैं, स्वतन्त्र चैतन्य नही। वे कहते है कि "आत्मा भौतिक है, अत वह एक दिन उत्पन्न होती है और नष्ट भी हो जाती है, आत्मा अजर, अमर, सदाकाल स्थायी नही है। जब आत्मा ही नही है, तो फिर मोक्ष का प्रश्न ही कहाँ रहा?" आध्यात्मिक साधना का चरम लक्ष्य, आर्यसमाज के समान देवसमाज के ध्यान मे भी नही है।

जैन दर्शन का समाधान

आत्मा परिणामी नित्य है

आत्मा के उक्त विभिन्न दर्शनो मे से जैन दर्शन आत्मा के सम्बन्ध मे एक सुन्दर ही धारणा रखता है, जो पूर्णतया स्पष्ट एव तर्कसिद्ध है। जैन धर्म का कहना है कि "आत्मा परिणामी—परिवर्तनशील

नित्य है, कूटस्थ—एकरस नित्य नहीं। यदि वह सांख्य की मान्यता के अनुसार कूटस्थ नित्य होता, तो फिर नरक, देव, मनुष्य आदि नाना गतियों में कैसे घूमता? कभी क्रोधी और कभी शान्त कैसे होता? कभी सुखी और कभी दुःखी कैसे बनता? कूटस्थ को तो सदा काल एक जैसा रहना चाहिए। कूटस्थ में परिवर्तन कैसा? यदि यह कहा जाए कि ये सुख, दुःख, ज्ञान, आदि सब प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के नहीं, तो यह भी मिथ्या है। क्योंकि, ये वस्तुतः प्रकृति के धर्म होते, तब तो आत्मा के निकल जाने के बाद, जड़ प्रकृति-रूप से अवस्थित मृतक शरीर में भी होने चाहिएँ थे, पर उसमें होते नहीं। क्या कभी किसी ने सजीव शरीर के समान, निर्जीव हड्डी और मांस को भी दुःख से घबराते और सुख से हर्षित होते देखा है? अतः सिद्ध है कि आत्मा परिणामशील नित्य है। सांख्य के अनुसार कूटस्थ नित्य नहीं। परिणामी नित्य से यह अभिप्राय है कि आत्मा कर्मानुसार नरक, तिर्यंच आदि में तथा सुख-दुःख रूप में बदलती भी रहती है और फिर भी आत्मतत्त्व-रूप में स्थिर, नित्य रहती है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता। सुवर्ण-कंकण आदि गहनों के रूप में बदलता रहता है, साथ ही सुवर्ण रूप से ध्रुव भी रहता है। इसी प्रकार आत्मा भी।"

आत्मा अनन्त है

वेदान्त के अनुसार आत्मा एक और सर्वव्यापी भी नहीं। यदि ऐसा होता, तो जिनदास, कृष्णदास, रामदास आदि सब व्यक्तियों को एक समान ही सुख-दुःख होना चाहिए था। क्योंकि जब आत्मा एक ही है, और वह सर्वव्यापी भी है, फिर प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग सुख-दुःख का अनुभव क्यों करे? कोई धर्मात्मा और कोई पापात्मा क्यों बने? दूसरा दोष यह है कि सर्वव्यापी मानने से परलोक भी घटित नहीं हो सकता। क्योंकि जब आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापी है, उसका कहीं आना-जाना ही नहीं, तब फिर नरक स्वर्ग आदि विभिन्न स्थानों में जाकर पुनर्जन्म कैसे लेगी? सर्वव्यापी का गमनागमन भी नहीं हो सकता। क्या कभी सर्वव्यापी आकाश भी किसी अन्य स्थान में जाता है? और यदि वह जाता ही नहीं, फिर मोक्ष कहाँ जाएगा?

ज्ञान : आत्मा का गुण है

*

"आत्मा का ज्ञान-गुण स्वाभाविक नहीं है", वैशेषिक दर्शन का उक्त कथन भी अभ्रान्त नहीं है। प्रकृति और चैतन्य दोनों में विभेद की रेखा खींचने वाला आत्मा का यदि कोई विशेष लक्षण है, तो वह एक ज्ञान ही है। आत्मा का कितना ही क्यों न पतन हो जाए, वह वनस्पति आदि स्थावर जीवों की अतीव निम्न स्थिति तक क्यों न पहुँच पाए, फिर भी उसकी ज्ञानस्वरूप चेतना पूर्णतया नष्ट नहीं हो पाती। अज्ञान का पर्दा कितना ही घनीभूत क्यों न हो, ज्ञान का क्षीण प्रकाश, फिर भी अन्दर में चमकता ही रहता है। सघन बादलों के द्वारा ढँक जाने पर भी क्या कभी सूर्य के प्रकाश का दिवस-सूचक स्वरूप नष्ट हुआ है? कभी नहीं। और ज्ञान के नष्ट होने पर ही मुक्ति होगी, यह कहना तो और भी अटपटा है! आत्मा का जब ज्ञान-गुण ही नष्ट हो गया, तब फिर शेष में क्या स्वरूप बच रहेगा? तेजोहीन अग्नि, अग्नि नहीं, राख हो जाती है। गुणी का अस्तित्व अपने निजी गुणों के अस्तित्व पर ही आश्रित है। क्या कभी बिना गुण का भी कोई गुणी होता है? कभी नहीं। ज्ञान आत्मा का एक विशिष्ट गुण है, अतः वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा के साथ सदैव अविच्छिन्न रूप में रहता है। भगवान महावीर तो आत्मा और ज्ञान में अभेद सम्बन्ध मानते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि "जो ज्ञाता है, वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञाता है"।

जे विन्नाया से आया, जे आया से विन्नाया।

जेण वियाणइ से आया। —आचारांग १।५।५

आत्मा निरन्वय क्षणिक नहीं

*

"आत्मा क्षण-क्षण में उत्पन्न एवं साथ ही नष्ट होती रहती है", बौद्ध धर्म का यह सिद्धान्त भी अनुभव एवं तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। क्षणभंगुर का अर्थ तो यह हुआ कि "मैंने पुस्तक लिखने का संकल्प किया, तब अन्य आत्मा थी, लिखने लगा, तब अन्य आत्मा थी, अब लिखते समय अन्य आत्मा है और पूर्ण लिखने के बाद जब पुस्तक समाप्त होगी, तब अन्य ही कोई आत्मा उत्पन्न हो जाएगी। यह सिद्धान्त प्रत्यक्षतः सर्वथा बाधित है। क्योंकि, मुझे

संकल्पकर्त्ता के रूप में निरन्तर एक ही प्रकार का संकल्प है कि "मैं ही संकल्प करनेवाला हूँ, मैं ही लिखनेवाला हूँ और मैं ही पूर्ण करूँगा।" यदि आत्मा उत्तरोत्तर अलग-अलग है, तो संकल्प आदि में विभिन्नता क्यों नही? दूसरी बात यह है कि आत्मा को निरन्वय क्षणिक मानने में कर्म और कर्म-फल का एकाधिकरण-रूप सम्बन्ध भी अच्छी तरह नही घट सकता। एक आदमी चोरी करता है और उसे दण्ड मिलता है। परन्तु, बौद्ध के विचार में आत्मा बदल गयी। अत: चोरी की किसी ने और दण्ड मिला किसी दूसरे को। भला, यह भी कोई न्याय है? चोरी करनेवाली आत्मा का कृत-कर्म निष्फल गया और उधर चोरी न करनेवाली दूसरी आत्मा को बिना कर्म के व्यर्थ ही दण्ड भोगना पड़ा।

आत्मा सर्वज्ञ और मुक्त हो सकती है

*

"आत्मा कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकती मोक्ष नहीं पा सकती", यह आर्य समाज का कथन भी उचित नहीं। हमें अल्पज्ञ ही रहना है, संसार में ही भटकना है, तो फिर भला यम, नियम एवं तपश्चरण आदि की साधना का क्या अर्थ? धर्म साधना आत्मा के सद्गुणों का विकास करने के लिए ही तो है। और, जब गुणों के विकसित होते-होते आत्मा पूर्ण विकास के पद पर पहुँच जाती है, तो वह सर्वज्ञ हो जाती है, अन्त में वह सब कर्म बन्धनों को काटकर मोक्ष पद प्राप्त कर लेती है—सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाती है। मोक्ष प्राप्त करने के बाद, फिर कभी भी उसे संसार में भटकना नहीं पड़ता। जिस प्रकार जला हुआ बीज फिर कभी उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार तपश्चरण आदि की आध्यात्मिक अग्नि से जला हुआ कर्म-बीज भी फिर कभी जन्म-मरण का फिर-अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकता।

जहा दड्ढाणं बीयाणं न जायंति पुणंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा॥

—दशाश्रुतस्कन्ध ५।१५

जिस प्रकार दूध में से निकालकर अलग किया हुआ मक्खन, पुनः अपने स्वरूप को त्याग कर दूध-रूप नहीं हो सकता, यह प्रत्यक्ष है; और इसी प्रकार संसार से एक बार छूटकर सर्वथा मुक्त हुई आत्मा, पुनः

आवद्ध नही हो सकती, कर्म-जन्य सुख-दुख नही भोग सकती। विना कारण के कभी भी कार्य नही होता—यह न्यायशास्त्र का ध्रुव सिद्धान्त है। जव मोक्ष मे ससार के कारण कर्म ही नही रहे, तो फिर ससार मे पुनरागमनरूप उसका कार्य कैसे हो सकता है?

आत्मा पचभूतात्मक नहीं है

*

'आत्मा पाँच भूतो की वनी हुई है और एक दिन वह नष्ट हो जाएगी'—यह देव समाज आदि नास्तिको का कथन भी सर्वथा असत्य है। भौतिक पदार्थों से आत्मा की विभिन्नता स्वय सिद्ध है। किसी भी भौतिक पदार्थ मे चेतना का अस्तित्व नही पाया जाता। और इधर प्रत्येक आत्मा मे थोडी या वहुत चेतना अवश्य होती है। अत लक्षण-भेद से पदार्थ-भेद का सिद्धान्त सर्वमान्य होने के कारण जड प्रकृति से चैतन्य आत्मा का पृथक्त्व युक्तिसगत है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पाँच जड भूतो के सम्मिश्रण से चैतन्य आत्मा कैसे उत्पन्न हो सकती है? जड के सयोग मे तो जड की ही उत्पत्ति हो सकती है, चैतन्य की नही। कारण के अनुरूप ही तो कार्य होता है। और उत्पन्न भी वही चीज होती है, जो पहले न हो। किन्तु, आत्मा सदा से है और सदा रहेगी। जव एक शरीर क्षीण हो जाता है और तज्जन्म-सम्बन्धी कर्म भोग लिया जाता है, तव आत्मा नवीन कर्मानुसार दूसरा शरीर धारण कर लेती है। शरीर-परिवर्तन का यह अर्थ नही कि शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है। अमूर्त आकाश के समान अमूर्त आत्मा भी न कभी वनती है, न विगडती है। वह अनादि है और अनन्त है, फलत अखण्ड है, अच्छेद्य है, अभेद्य है।

आत्मा अमूर्त-अरूपी है

*

आत्मा अरूपी है, उसका कोई रूप-रग नही। आत्मा मे स्पर्श रस, गन्ध आदि किसी भी तरह नही हो सकते क्योंकि वे सव जड पुद्गल-प्रकृति के धर्म है, आत्मा के नही।

आत्मा अतीन्द्रिय है

*

आत्मा इन्द्रिय, वाणी, बुद्धि और मन से अगोचर है—

सव्वे सरा नियट्टंति तक्का तत्थ न विज्जइ।*

—आचारांग १।५।६

आत्मा स्वपर-प्रकाशक है

*

अस्तु, आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने की शक्ति एकमात्र आत्मा में ही है, अन्य किसी भी भौतिक साधन में नहीं। जिस प्रकार स्व-पर प्रकाशक दीपक को देखने के लिए दूसरे किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती, अपने उज्ज्वल प्रकाश में ही वह स्वयं प्रतिभासित हो जाता है, ठीक इसी प्रकार स्व-पर प्रकाशक आत्मा को देखने के लिए भी किसी दूसरे भौतिक प्रकाश की आवश्यकता नहीं। अन्तर में रमा हुआ ज्ञान-प्रकाश ही, जिसमें से वह प्रस्फुरित हो रहा है, उस अनन्त तेजोमय आत्मा को भी देख लेता है। आत्मा की सिद्धि के लिए स्वानुभूति ही सबसे बड़ा प्रमाण है। अतएव आत्मा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'मैं' क्यों हूँ, चूंकि 'मैं' हूँ।

आत्मा सर्वव्यापी नहीं

*

आत्मा सर्वव्यापी नहीं, बल्कि शरीर-प्रमाण होती है। छोटे शरीर में छोटी और बड़े शरीर में बड़ी हो जाती है। छोटे बच्चे के शरीर में आत्मा छोटी होती है, और उत्तरोत्तर ज्यों-ज्यों शरीर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों आत्मा का भी विस्तार होता जाता है। आत्मा में संकोच-विस्तार का गुण प्रकाश के समान है। एक विशाल कमरे में रखे हुए दीपक का प्रकाश बड़ा होता है परन्तु यदि आप उसे उठाकर एक छोटे-से घड़े में रख दें, तो उसका प्रकाश उतने में ही सीमित हो जाएगा। यह सिद्धान्त अनुभव-सिद्ध भी है कि शरीर में कहीं पर भी चोट लगती है, सर्वत्र दुःख का अनुभव होता है।

---

* तुलना कीजिए—न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति नो मनः।

—केन उपनिषद्, खण्ड १, श्लोक ३

शरीर से वाहर किसी भी चीज को तोडिए, कोई दु:ख नही होगा। शरीर से वाहर आत्मा हो, तभी तो दु ख होगा न ? अत सिद्ध है कि आत्मा सर्वव्यापी न होकर शरीर-प्रमाण ही है।

आत्मा के स्वरूप के सम्वन्ध मे सक्षिप्त पद्धति अपनाते हुए भी काफी विस्तार के साथ लिखा गया है। इतना लिखना आवश्यक भी था। यदि आत्मा का उचित अस्तित्व ही निश्चित न हो, तो फिर आप जानते हैं, धर्म, अधर्म की चर्चा का मूल्य ही क्या रह जाता है ? धर्म का विशाल महल आत्मा की वुनियाद पर ही खडा है। * * *

---

२ ‖ मनुष्य और मनुष्यत्व

आत्मा अपनी स्वरूप-स्थितिरूप स्वाभाविक परिणति से तो शुद्ध है, निर्मल है, विकार-रहित है, परन्तु कषाय-मूलक वैभाविक परिणति के कारण वह अनादिकाल से कर्म-बन्धन में जकड़ी हुई है। जैन दर्शन का कहना है कि "कषाय-जन्य कर्म अपने एक-एक व्यक्ति की अपेक्षा आदि है और अनादिकाल से चले आनेवाले प्रवाह की अपेक्षा अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी न किसी तरह की कषाय-मूलक हलचल किया ही करता है। और यह हलचल ही कर्मबन्ध की जड़ है। अतः सिद्ध है कि कर्म, व्यक्तिशः अर्थात् किसी एक कर्म की अपेक्षा से आदि वाले हैं; परन्तु कर्म-रूप प्रवाह से—परम्परा से अनादि हैं। भूतकाल की अनन्त गहराई में पहुँच जाने के बाद भी, ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता, जबकि आत्मा पहले सर्वथा शुद्ध रही हो, और बाद में कर्म-स्पर्श के कारण अशुद्ध बन गई हो। यदि कर्म-प्रवाह को आदिमान् माना जाए, तो प्रश्न होता है कि विशुद्ध आत्मा पर बिना कारण अकस्मात् ही कर्म-मल लग जाने का क्या कारण है? बिना कारण के तो कार्य नहीं होता। और, यदि सर्वथा शुद्ध आत्मा भी, बिना कारण के यों ही कर्म-लिप्त हो जाती है, तो फिर जप-तप आदि की अनेकानेक कठोर साधनाओं के बाद मुक्त हुए, जीव भी पुनः कर्मों से लिप्त हो जाएँगे। इस दशा में, मुक्ति को भी [illegible] तुल्य [illegible] ही मानना चाहिए। और यह [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] और फिर [illegible]

मनुष्य जीवन देव-दुर्लभ है

हाँ, तो आत्मा, कर्म-मल से लिप्त होने के कारण अनादिकाल मे ससार-चक्र मे घूम रही है, त्रस और स्थावर की चौरासी लाख योनियो में भ्रमण कर रही है। कभी नरक मे गयी, तो कभी तिर्यच मे, नाना गतियो मे, नाना-रूप धारण कर, घूमते-घामते अनन्तकाल हो चुका है ; परन्तु दु ख से छुटकारा नही मिला। दु ख से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन मनुष्य जन्म है। आत्मा का जब कभी अनन्त पुण्योदय होता है, तब कही मानव जन्म की प्राप्ति होती है। भारतीय धर्मशास्त्रो मे मनुष्य-जन्म की बडी महिमा गाई गई है। कहा जाता है कि देवता भी मानव-जन्म की प्राप्ति के लिए तडपते है। भगवान महावीर ने अपने धर्म-प्रवचनो मे अनेक वार मनुष्य-जन्म की दुर्लभता का वर्णन किया है—

"कम्माण तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुपत्ता, आययन्ति मणुस्सय ॥" —उत्तराध्ययन ३।७

अनेकानेक योनियो मे भयकर दु ख भोगते-भोगते जब कभी अशुभ कर्म क्षीण होते हैं, और आत्मा शुद्ध-निर्मल होती है, तब वह मनुष्यत्व को प्राप्त करती है।

मोक्ष-प्राप्ति के चार कारण दुर्लभ बताते हुए भी, भगवान महावीर ने, अपने पावापुरी के अन्तिम प्रवचन मे, मनुष्यत्व को ही सबसे पहले गिना है। वहाँ बतलाया है कि "मनुष्यत्व, शास्त्र-श्रवण, श्रद्धा और सदाचार के पालन मे प्रयत्नशीलता—ये चार साधन जीव को प्राप्त होने अत्यन्त कठिन है।"

चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जतुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा, सजमम्मि य वीरियं ॥

—उत्तराध्ययन ३।१

क्या सचमुच ही मनुष्य जन्म इतना दुर्लभ है? क्या मनुष्य से बढ-कर अन्य कोई जीवन नही? इसमें तो कोई सन्देह नही कि मानव भव अतीव दुर्लभ वस्तु है। परन्तु, धर्म-शास्त्रकारो का आशय, इसके पीछे कुछ और ही रहा हुआ प्रतीत होता है। वे दुर्लभता का भार, मनुष्य शरीर पर न डाल कर, मनुष्यत्व पर डालते है। बात वस्तुत है भी ठीक। मनुष्य शरीर के पा लेने-भर से तो कुछ नहीं हो

जाता। हम एक दो बार क्या, अनन्त बार मनुष्य बन चुके हैं—लम्बे-चौड़े सुन्दर, सुरूप, बलवान! पर लाभ कुछ नहीं हुआ। कभी-कभी तो लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक उठानी पड़ी है। मनुष्य तो चोर भी है, जो निर्दयता के साथ दूसरों का धन चुरा लेता है! मनुष्य तो कसाई भी है, जो प्रतिदिन निरीह पशुओं का खून बहा कर प्रसन्न होता है! मनुष्य तो साम्राज्यवादी राजा लोग भी हैं, जिनकी राज्य-तृष्णा के कारण लाखों मनुष्य बात-की-बात में रणचण्डी की भेंट हो जाते हैं! मनुष्य तो वेश्या भी है, जो रूप के बाजार में बैठकर चन्द चांदी के टुकड़ों के लिए अपना जीवन बिगाड़ती है और देश की उठती हुई तरुणाई को भी मिट्टी में मिला देती है। आप कहेंगे, ये मनुष्य नहीं, राक्षस हैं। हाँ, तो मनुष्य-शरीर बेकार है, कुछ अर्थ नहीं। हम इतनी बार मनुष्य बन चुके हैं, जिसकी कोई गिनती नहीं। एक आचार्य अपनी कविता की भाषा में कहते हैं कि—

"हम इतनी बार मनुष्य-शरीर धारण कर चुके हैं कि यदि उनके रक्त को एकत्र किया जाए, तो असंख्य समुद्र भर जाएँ, मांस को एकत्र किया जाए, तो चांद और सूरज भी दब जाएँ, हड्डियों को एकत्र किया जाए, तो असंख्य मेरु पर्वत खड़े हो जाएँ।"

मनुष्यता की आवश्यकता

बात यह है कि मनुष्य शरीर पाना दुर्लभ नहीं, जितनी कि मनुष्यता दुर्लभ है। हम जो अभी संसार-सागर में गोते खा रहे हैं, इसका अर्थ यही है कि हम मनुष्य तो बने, पर दुर्भाग्य से मनुष्यत्व नहीं पा सके, जिसके बिना किया-कराया सब धूल में मिल गया, [illegible] मिट्टी में [illegible] हो गया!

मनुष्यता कैसे मिल सकती है? यह एक प्रश्न है, जिस पर हम [illegible] रूप से विचार करते हैं। मनुष्य जीवन के दो रूप हैं—एक बाहर की ओर [illegible], दूसरा अन्दर की ओर [illegible]। जो जीवन बाहर की ओर [illegible] है [illegible] में [illegible] जाता है, [illegible] है, पर मनुष्य [illegible] मनुष्यता [illegible] नहीं बन सकता।

मनुष्य का समग्र जीवन इस देह-रूपी घर की सेवा करने मे ही बीत जाता है। यह देह आत्मा के साथ आजकल अधिक-से-अधिक पचास, सौ या सवा सौ वर्ष के लगभग ही रहता है। परन्तु, इतने समय तक मनुष्य करता क्या है ? दिन-रात इस शरीर-रूपी मिट्टी के घरौंदे की परिचर्या ही मे लगा रहता है, दूसरे आत्म-कल्याणकारी आवश्यक कर्त्तव्यो का तो उसे भान ही नही रहता। देह को खाने के लिए कुछ अन्न चाहिए, लेकिन प्रातःकाल से लेकर अर्धरात्रि तक तेली के बैल की तरह आँखें बन्द किए, तन-तोड परिश्रम करता है। देह को ढाँपने के लिए कुछ वस्त्र चाहिए, किन्तु सुन्दर-से-सुन्दर वस्त्र पाने के लिए वह व्याकुल हो जाता है। देह के रहने के लिए एक साधारण-सा घर चाहिए, पर कितने ही क्यो न अत्याचार करने पडें, गरीबो के गले काटने पडें, येन केन प्रकारेण वह सुन्दर भवन बनाने के लिए जुट जाता है। साराश यह है कि देह-रूपी घर की सेवा करने में, उसे अच्छे-से-अच्छा खिलाने-पिलाने मे, मनुष्य अपना अनमोल नर-जन्म नष्ट कर डालता है। घर की सार सँभाल रखना, उसकी रक्षा करना, यह घरवाले का आवश्यक कर्त्तव्य है, परन्तु यह तो नही होना चाहिए कि घर के पीछे घरवाला अपने आपको ही भुला डाले, बरबाद कर डाले। भला, जो शरीर अन्त मे पचास-सौ वर्ष के बाद एक दिन अवश्य ही अपने को छोडने वाला है, उसकी इतनी गुलामी क्यो ? आश्चर्य होता है, मनुष्य की इस मूर्खता पर ! जो शरीर-रूपी घर मे रहता है, जो शरीर-रूपी घर का स्वामी है, जो शरीर से पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा; उस अजर, अमर, अनन्त शक्तिशाली आत्मा की कुछ भी सार-सँभाल नही करता। बहुत-सी बार तो उसे, देह के अन्दर कौन रह रहा है, इतना भी भान नही रहता। अत शरीर को ही 'मैं' कहने लग जाता है। देह के जन्म को अपना जन्म, देह के बुढापे को अपना बुढापा, देह की आधि-व्याधि को अपनी आधि-व्याधि, देह की मृत्यु को अपनी मृत्यु समझ बैठता है, और काल्पनिक विभीषिकाओ के कारण रोने-धोने लगता है। शास्त्रकार इस प्रकार के भौतिक विचार रखने वाले देहात्मवादी को बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि कहते है। मिथ्या सकल्प, मनुष्य को अपने वास्तविक अन्तर्जगत की ओर अर्थात चैतन्य की ओर झाँकने नही देते, हमेशा बाह्य जगत के भौतिक भोग-विलास की ओर ही, उसे उलझाये रखते है। केवल बाह्य जगत् का द्रष्टा

मनुष्य, आकृति-मात्र से मनुष्य है, परन्तु उनमें मोक्ष-साधक मनुष्यत्व नहीं।

आत्मदर्शन

मनुष्य-जीवन का दूसरा पहलू अन्दर की ओर झाँकना है। अन्दर की ओर झाँकने का अर्थ यह है कि मनुष्य देह और आत्मा को पृथक्-पृथक् वस्तु समझता है, जड़ जगत् की अपेक्षा चैतन्य को अधिक महत्त्व देता है, और भोग-विलास की ओर से आँखें बन्द करके अन्तर् में रमे हुए आत्मतत्त्व को देखने का प्रयत्न करता है। शास्त्र में उक्त जीवन को अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि का नाम दिया गया है। मनुष्य के जीवन में मनुष्यत्व की भूमिका यहीं से शुरू होती है। अधोमुखी जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाला सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त और कौन है? यही वह भूमिका है, जहाँ अनादिकाल के अज्ञान-अन्धकाराच्छन्न जीवन में सर्वप्रथम सत्य की सुनहली किरण प्रस्फुटित होती है।

पाठकों ने समझ लिया होगा कि मनुष्य और मनुष्यत्व में क्या अन्तर है? मनुष्यशरीर का होना दुर्लभ है, या मनुष्यत्व का होना? सम्यग्दर्शन मनुष्यत्व की पहली सीढ़ी है। इस पर चढ़ने के लिए अपने-आपको कितना बदलना होता है, यह अभी ऊपर की पंक्तियों में लिख आया हूँ। वकील, बैरिस्टर, जज या डाक्टर आदि की अनेक कठिन-से-कठिन परीक्षाओं में तो प्रतिवर्ष हजारों, लाखों व्यक्ति उत्तीर्ण होते हैं परन्तु मनुष्यत्व की परीक्षा में, समग्र जीवन काल में भी, उत्तीर्ण होने वाले कितने मनुष्य हैं? मनुष्यत्व की सच्ची शिक्षा देने वाले स्कूल, कालेज, विद्यामन्दिर तथा पाठशालाएँ आदि भी कहाँ हैं? स्कूल-कालेजों में पढ़े-लिखे अनेक मनुष्य दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य होकर भी मनुष्यता की [illegible]। [illegible] मनुष्यत्व से रहित मनुष्य-जीवन पशु-जीवन से भी गया-गुजरा होता है। [illegible]

आत्माएँ, जो सत्यासत्य का विवेक प्राप्त कर अपने जीवन मे मनुष्यता का विकास करते है जो कर्म-बन्धनो को काट कर पूर्ण आध्यात्मिक स्वतन्त्रता स्वय प्राप्त करते है और दूसरो को भी प्राप्त कराते है, जो हमेशा करुणा की अमृत-धारा से परिप्लावित रहते है, और समय आने पर ससार की भलाई के लिए अपना तन-मन-धन आदि सर्वस्व निछावर कर डालते है, अतएव उनका जीवन यत्र-तत्र-सर्वत्र उन्नत-ही उन्नत होता जाता है, पतन का कही नाम ही नही मिलता।

हाँ, तो जैन-धर्म मनुष्य-शरीर की महिमा नही गाता है, वह महिमा गाता है, मनुष्यत्व की। भगवान् महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन मे यही कहा है—

"माणुस्स खु सुदुल्लह।" —उत्तराध्ययन २०।११

अर्थात् 'मनुष्यो! मनुष्य होना बडा कठिन है।' भगवान् की वाणी का आशय यही है कि मनुष्य का शरीर तो कठिन नही, वह तो अनन्त बार मिला है और मिल जाएगा, परन्तु आत्मा मे मनुष्यता का प्राप्त होना ही दुर्लभ है। भगवान ने अपने जीवन-काल मे भारतीय जनता के इसी सुप्त मनुष्यत्व को जगाने का प्रयत्न किया था। उनके सभी प्रवचन मनुष्यता की ज्योति से जगमगा रहे है। अब आप यह देखिए कि भगवान् मनुष्यत्व के विकास का किस प्रकार वर्णन करते है। * * *

मीमासक आदि दर्शन केवल आचार—क्रियाकाण्ड से ही मोक्ष स्वीकार करते है। परन्तु, जैनधर्म ज्ञान और क्रिया दोनो के सयोग से मोक्ष मानता है, किसी एक से नही। यह प्रसिद्ध बात है कि रथ के दो चक्रो मे से यदि एक चक्र न हो तो रथ की गति नही हो सकती। और एक चक्र छोटा हो तब भी रथ की गति भली-भाँति नही हो सकती। एक पाँख से कोई भी पक्षी आकाश मे नही उड सकता है। भगवान् महावीर ने स्पष्ट बतलाया है कि 'यदि तुम्हे मोक्ष की सुदूर भूमिका तक पहुँचना है, तो अपने जीवनरथ मे ज्ञान और सदाचरण-रूप दोनो ही चक्र लगाने होंगे। केवल लगाने ही नही, दोनो चक्रो मे से किसी एक को मुख्य या गौण बना कर भी काम नही चल सकेगा, ज्ञान और आचरण दोनो को ठीक बराबर सुदृढ रखना होगा। ज्ञान और क्रिया की दोनो पाँखो के बल पर ही, यह आत्म-पक्षी, नि श्रेयस की ओर ऊर्ध्वगमन कर सकता है।"

जीवन के चार प्रकार

स्थानाग-सूत्र (४) मे प्रभु महावीर ने चार प्रकार के मानव-जीवन बतलाए हैं—

(१) एक मानव-जीवन वह है जो सदाचार के स्वरूप को तो पहचानता है, परन्तु सदाचार का आचरण नही करता।

(२) दूसरा वह है, जो सदाचार का आचरण तो अवश्य करता है, परन्तु सदाचार का स्वरूप भली-भाँति नही जानता। आँखे बन्द किए गति करता है।

(३) तीसरा वह व्यक्ति है, जो सदाचार के रूप को यथार्थ रूप से जानता भी है और तदनुसार आचरण भी करता है।

(४) चौथी श्रेणी का वह जीवन है, जो न तो सदाचार का स्वरूप ही जानता है और न सदाचार का कभी आचरण ही करता है। वह लौकिक भाषा मे अन्धा भी है, और पद-हीन पंगु भी।

उक्त चार विकल्पो मे से केवल तीसरा विकल्प ही, जो सदाचार को जानने और आचरण करने रूप है, मोक्ष की साधना को सफल बनाने वाला है। आध्यात्मिक जीवन-यात्रा के लिए ज्ञान के नेत्र और आचरण के पैर अतीव आवश्यक हैं।

सर्व और देश चारित्र

जैनदर्शन की परिभाषा में आचरण को 'चारित्र' कहते हैं। चारित्र का अर्थ है—संयम, वासनाओं का—भोगविलासों का त्याग, इन्द्रियों का निग्रह, अशुभ से निवृत्ति, और शुभ में—शुद्ध में प्रवृत्ति।

चारित्र के मुख्यतया दो भेद माने गए हैं—'सर्व' और 'देश'। अर्थात् पूर्ण रूप से त्याग-वृत्ति सर्व-चारित्र है और अल्पांश में अर्थात् अपूर्णरूप से त्याग-वृत्ति, देश-चारित्र है। सर्वांश में त्याग महाव्रत-रूप होता है—अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह का सर्वथा प्रत्याख्यान साधुओं के लिए होता है। और, अल्पांश में अमुक सीमा तक हिंसा आदि का त्याग गृहस्थ के लिए माना गया है।

प्रस्तुत प्रसंग में मुनि-धर्म का वर्णन करना हमें अभीष्ट नहीं है। अतः सर्व-चारित्र का वर्णन न करके देश-चारित्र का यानी गृहस्थ-धर्म का ही हम वर्णन करेंगे। भूमिका की दृष्टि से भी गृहस्थ-धर्म का वर्णन प्रथम अपेक्षित है। गृहस्थ, जैनतत्त्वज्ञान में वर्णित गुणस्थानों के अनुसार आत्मविकास की पंचम भूमिका पर है, और मुनि छठी भूमिका पर।

विकास की प्रथम श्रेणी : श्रावकधर्म

जैनागमों में गृहस्थ अर्थात् श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन किया गया है। इनमें पाँच अणुव्रत होते हैं। 'अणु' का अर्थ 'छोटा' होता है, और व्रत का अर्थ 'प्रतिज्ञा' है। [illegible]

पांच अणुव्रत

(१) स्थूल प्राणातिपात विरमण—बिना किसी अपराध के व्यर्थ ही जीवो को मारने के विचार से, प्राण-नाश करने के संकल्प से मारने का त्याग। मारने मे किसी प्राणी का नाश या कष्ट देना भी सम्मिलित है। इतना ही नही, अपने आश्रित पशुओ तथा मनुष्यो को भूखा-प्यासा रखना, उनसे उनकी अपनी शक्ति से अधिक अनुचित श्रम लेना, किसी के प्रति दुर्भावना, डाह आदि रखना भी हिंसा ही है। अपराध करने वालो की दण्डस्वरूप हिंसा का और पृथ्वी, जल आदि स्थावर-जीवो की सूक्ष्म हिंसा का त्याग गृहस्थ जीवन मे अशक्य है।

(२) स्थूल मृषावाद विरमण—सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय एव दूसरे जीवो को किसी भी प्रकार के कष्ट पहुँचाने वाले झूठ का त्याग। झूठी गवाही, झूठी दस्तावेज, किसी के गुप्त मर्म का प्रकाशन, झूठी सलाह, फूट डलवाना एव वर कन्या-सम्बन्धी और भूमि-सम्बन्धी मिथ्या भाषण आदि गृहस्थ के लिए अत्यधिक निषिद्ध माना गया है।

(३) स्थूल अदत्तादान विरमण—मोटी चोरी का त्याग। चोरी करने के संकल्प से किसी की बिना आज्ञा चीज उठा लेना, चोरी है। इसमे किसी के घर मे सेंध लगाना, दूसरी ताली लगाकर ताला खोल लेना, धरोहर मार लेना, चोर की चुराई हुई चीजे ले लेना, राष्ट्र द्वारा लगाई हुई चुगी तथा कर आदि न देना, नाप-तोल मे कम अधिक करना, असली वस्तु के स्थान पर नकली वस्तु दे देना आदि सम्मिलित हैं।

(४) स्थूल मैथुन विरमण—अपनी विवाहिता स्त्री को छोडकर अन्य किसी भी स्त्री से अनुचित सम्बन्ध न करना, मैथुन त्याग है। स्त्री के लिए भी अपने विवाहित पति को छोडकर अन्य पुरुषो से अनुचित सम्बन्ध के त्याग करने का विधान है। अपनी स्त्री या अपने पति से भी अनियमित संसर्ग रखना, काम-भोग की तीव्र अभिलाषा रखना, अनुचित कामोद्दीपक शृङ्गार करना आदि भी गृहस्थ ब्रह्मचारी के लिए दूषण माने गये हैं।

भाषण आदि का तथा किसी को चिढाने आदि व्यर्थ का चेष्टाओं का त्याग करना आवश्यक है। कामवासना को उद्दीप्त करनेवाले सिनेमा देखना गन्दे उपन्यास पढना, गन्दा मजाक करना, व्यर्थ ही शस्त्रादि का सग्रह कर रखना आदि भी अनर्थ-दण्ड मे सम्मिलित है।

चार शिक्षा व्रत

*

(१) सामायिक व्रत—दो घडी तक हिंसा, असत्य आदि के रूप मे पापकारी व्यापारो का परित्याग कर समभाव मे रहना सामायिक है। राग-द्वेष बढाने वाली प्रवृत्तियो का त्याग कर मोह-माया के दु सकल्पो को हटाना, सामायिक का मुख्य उद्देश्य है।

(२) देशावकाशिक व्रत—जीवन-भर के लिए स्वीकृत दिशा परिमाण मे से तथा भोगोपभोग परिमाण मे से और भी प्रतिदिन देशान्तर गमनादि एव भोगोपभोग की सीमा कम करते रहना, देशावकाशिक व्रत है। देशावकाशिक व्रत का उद्देश्य जीवन को नित्य-प्रति इधर-उधर गमनादि की एवं भोगोपभोग की आसक्ति-रूप पाप-क्रियाओ से बचाकर रखना है।

(३) पौषध व्रत—एक दिन और एक रात के लिए अब्रह्मचर्य, पुष्पमाला आदि सचित्त, शरीरशृङ्गार, शस्त्र-धारण आदि सासारिक पाप-युक्त प्रवृत्तियो को छोड कर, एकात स्थान मे साधु-वृत्ति के समान धर्म-क्रिया मे आरूढ रहना, पौषध व्रत है। यह धर्म-साधना निराहार भी होती है, और शक्ति न हो, तो अल्प प्रासुक भोजन के द्वारा भी की जा सकती है। परिस्थिति के अनुसार एक अहोरात्र से कम समय मे भी हो सकती है।

(४) अतिथि सविभाग व्रत—साधु, श्रावक आदि योग्य सदाचारी साधको को शुद्ध आहार आदि का उचित दान करना ही प्रस्तुत व्रत का स्वरूप है। सग्रह ही जीवन का उद्देश्य नही है। सग्रह के बाद यथावसर अतिथि की सेवा करना भी मनुष्य का महान् कर्तव्य है। अतिथि-सविभाग का एक लघु रूप, हर किसी अभावग्रस्त गरीब की अनुकम्पा-बुद्धि से योग्य सेवा करना भी है, यह ध्यान में रहना चाहिए।

विकास की दूसरी श्रेणी : साधुवर्ग

मनुष्यता के विकास की यह प्रथम श्रेणी पूर्ण होती है। दूसरी श्रेणी साधु-जीवन की है। साधु जीवन की श्रेणी, छठे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर तेरहवें गुणस्थान में केवल-ज्ञान प्राप्त करने पर अन्त में चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है। चौदहवें गुणस्थान की भूमिका तय करने के बाद कर्म-मल का प्रत्येक दाग साफ हो जाता है, आत्मा पूर्णतया शुद्ध, स्वच्छ एवं स्व-स्वरूप में स्थित हो जाता है। फलत. सदाकाल के लिए कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होकर, जन्म-जरा, मरण आदि के दुःखों से पूर्णतया छुटकारा पाकर मोक्ष-दशा को प्राप्त हो जाता है, परम—उत्कृष्ट आत्मा परमात्मा बन जाता है।

सामायिक का स्वरूप

हमारे पाठक अधिकांश अभी गृहस्थ हैं, अतः उनके समक्ष हमने साधु-जीवन की भूमिका की बात न रखके पहले उनकी ही भूमिका का स्वरूप रखा है। आपने देख लिया है कि गृहस्थ-धर्म के बारह व्रत हैं। सभी व्रत अपनी-अपनी मर्यादा में उत्कृष्ट हैं। परन्तु, यह स्पष्ट है कि नौवें सामायिक व्रत का स्थान सबसे महान् माना गया है। सामायिक का अर्थ 'सम-भाव' है। अतः सिद्ध है कि जब तक हृदय में 'सम-भाव' न हो, राग-द्वेष की परिणति कम न हो, तब तक तप-जप एवं जप आदि की साधना कितनी ही क्यों न की जाए, उससे आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती। वस्तुतः समस्त व्रतों में सामायिक ही मोक्ष का प्रधान अंग है। अहिंसा आदि ग्यारह व्रत इसी समभाव के द्वारा जीवित रहते हैं। अतएव अहिंसा आदि सभी व्रत सामायिक स्वरूप ही हैं। गृहस्थ-जीवन में प्रतिदिन अभ्यास की दृष्टि से जो [illegible] सामायिक व्रत लिया जाता है। [illegible] [illegible] है। [illegible] सामायिक [illegible] है। [illegible] [illegible] है, [illegible] है। [illegible] है, [illegible] है कि [illegible]

तीर्थंकर मुनि-दीक्षा लेते समय सर्वप्रथम सामायिक साधना की प्रतिज्ञा ग्रहण करते हैं।*

और, केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद प्रत्येक तीर्थंकर सर्वप्रथम जनता को इसी महान् व्रत का उपदेश करते हैं—

सामाइयाइया वा वयजीवणिकाय भावणा पढम।
एसो धम्मोवाओ जिणेहिं सव्वेहिं उवइट्ठो।

—आवश्यक-निर्युक्ति २७१

सामायिक को चौदह पूर्व का सारभूत (पिंड) बतलाते हुए आचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण कहते हैं—

"सामाइय मनेवो चोद्दसपुव्वत्थ पिंडो त्ति"

—विशे० भा० गा० २७९६

जैन जगत् के ज्योतिर्धर विद्वान् श्री यशोविजयजी सामायिक को सपूर्ण द्वादशागरूप जिनवाणी का रहस्य बताते हुए यही बात इस प्रकार कहते हैं—

"सकलद्वादशाङ्गोपनिषद्भूतसामायिकसूत्रवत्"

—तत्त्वार्थ-टीका, प्रथम अध्याय

अस्तु, मनुष्यता के पूर्ण विकास के लिए सामायिक एक सर्वोच्च साधन है। अत. हम पाठकों के समक्ष प्रस्तुत सामायिक के शुद्ध स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। * * *

सामाइयभावपरिणइ भावाओ जीव एव सामाइय।

—आ० नि० २६३६

सामायिक क्या है? आत्मा की स्वभाव-परिणति! इस दृष्टि से आत्मा (जीव) ही सामायिक है। * * *

---

*सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं ति कट्टु सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ।

चारित्र 'सम' कहलाते हैं, उनमे अयन यानी प्रवृत्ति करना सामायिक है।

(३) 'सर्वजीवेषु मैत्री साम, साम्नो आय = लाभ सामाय', स एव सामायिकम्।[1] सब जीवो पर मैत्रीभाव रखने को 'साम' कहते हैं, अत साम का लाभ जिसमे हो, वह सामायिक है।

(४) 'सम सावद्ययोगपरिहारनिरवद्योगानुष्ठानरूपजीव - परिणाम' तस्य आय = लाभ समाय', स एव सामायिकम्।'[2] सावद्य योग अर्थात् पापकार्यो का परित्याग और निरवद्ययोग अर्थात् अहिंसा, दया समता आदि कार्यो का आचरण, ये दो जीवात्मा के शुद्ध स्वभाव 'सम' कहलाते हैं। उक्त 'सम' की जिसके द्वारा प्राप्ति हो, वह सामायिक है।

(५) 'सम्यक् शब्दार्थ' समशब्द सम्यगयन वर्तनम् समय, स एव सामायिकम्।'[3] 'सम' शब्द का अर्थ अच्छा है और अयन का अर्थ आचरण है। अस्तु, श्रेष्ठ आचरण का नाम भी सामायिक है।

(६) 'समये कर्त्तव्यम् सामायिकम्।' अहिंसा आदि की जो उत्कृष्ट साधना समय पर की जाती है, वह सामायिक है। उचित समय पर करने योग्य आवश्यक कर्तव्य को सामायिक कहते है। यह अन्तिम व्युत्पत्ति हमे सामायिक के लिए नित्यप्रति कर्तव्य की भावना प्रदान करती है।

ऊपर शब्द-शास्त्र के अनुसार भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियो के द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट किए गए है, परन्तु जरा सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करेंगे, तो मालूम होगा कि सभी व्युपत्तियो का भाव एक ही है, और वह है 'समता।' अतएव एक शब्द मे कहना चाहे, तो 'समता' का नाम सामायिक है। राग-द्वेष के प्रसगो मे विषम न होना, अपने आत्म-स्वभाव मे 'सम' रहना ही, सच्चा सामायिक व्रत है।

---

१ अहवा साम मित्ती तत्थ अओ तेण वत्ति सामायो।
अहवा सामस्साओ लाभो सामाइयं नाम ॥३४८१॥

२ अहवा सम्मस्स आओ गुणाणलाभो त्ति जो समाओ सो ॥३४८०॥

३ सम्ममओ वा समओ सामाइयमुभय विद्धि भावाओ।
अहवा सम्मस्साओ लाभो सामाइयं होइ ॥३४८२॥

सामायिक का रूढार्थ

शब्दार्थ के अतिरिक्त शब्द का रूढ अर्थ भी हुआ करता है। वर्तमान में प्रचलित प्रत्येक धार्मिक-क्रिया का जो रूढार्थ है, वह ऊपर से तो बहुत संक्षिप्त, सीमित एवं स्थूल मालूम होता है परन्तु उसमें रहा हुआ आशय, हेतु या रहस्य बहुत ही गंभीर, विस्तृत एवं विचारपूर्वक मनन करने योग्य होता है।

सामायिक की क्रिया, जो एक बहुत ही पवित्र एवं विशुद्ध क्रिया है, उसका रूढार्थ यह है कि—'एकान्त स्थान में शुद्ध आसन बिछाकर शुद्ध वस्त्र अर्थात् अल्प हिंसा से बना हुआ, सादा (रंग-बिरंगा, भड़कीला नहीं) खादी आदि का वस्त्र-परिधान कर, दो घड़ी तक 'करेमि भंते' के पाठ से सावद्य व्यापारों का परित्याग कर, सांसारिक झंझटों से अलग होकर, अपनी योग्यता के अनुसार अध्ययन, चिन्तन, ध्यान, जप, धर्म-चर्चा आदि करना सामायिक है।'

क्या ही अच्छा हो, शब्दार्थ रूढार्थ से और रूढार्थ शब्दार्थ से मिल जाय ! सोने में सुगन्ध हो जाय !

सामायिक का लक्षण

समता

सामायिक का मुख्य लक्षण 'समता' है।[1] समता का अर्थ है—मन की स्थिरता, रागद्वेष का उपशमन समभाव, एकीभाव, सुख-दुःख मे निश्चलता इत्यादि। समता, आत्मा का स्वरूप है, और विषमता पर-स्वरूप, यानी कर्मो का स्वरूप। अतएव समता का फलितार्थ यह हुआ कि कर्म-निमित्त से होने वाले राग आदि विषम भावो की ओर से आत्मा को हटाकर स्व-स्वरूप मे रमण करना ही 'समता' है।

उक्त 'समता' लक्षण ही सामायिक का एक ऐसा लक्षण है, जिसमे दूसरे सब लक्षणो का समावेश हो जाता है। जिस प्रकार पुष्प का सार गन्ध है, दुग्ध का सार घृत है, तिल का सार तेल है, इसी प्रकार जिन-प्रवचन का सार 'समता' है। यदि साधक होकर भी समता की उपासना न कर सका, तो फिर कुछ भी नही। जो साधक भोग-विलास की लालसा मे अपनेपन का भान खो बैठता है, माया की छाया मे पागल हो जाता है, दूसरो की उन्नति देखकर डाह से जल-भुन जाता है, मान-सम्मान की गन्ध से गुदगुदा जाता है, जरा से अपमान से तिलमिला उठता है, हमेशा वैर, विरोध, दंभ, विश्वासघात आदि दुर्गुणो के जाल मे उलझा रहता है, वह समता के आदर्श को किसी भी प्रकार नही पा सकता। कपड़े उतार डाले, आसन बिछाकर बैठ गये, मुखवस्त्रिका बाघ ली, एक दो स्तोत्र के पाठ पढ़ लिए, इसका नाम सामायिक नही है। ग्रन्थकार कहते है—"साधना करते-करते अनन्त जन्म बीत गए, मुखवस्त्रिका के हिमालय जितने ढेर लगा दिए, फिर भी आत्मा का कुछ कल्याण नही हुआ।" क्यो नही हुआ ? समता के बिना सामायिक निष्प्राण जो है।

सच्चे साधक का स्वरूप कुछ और ही होता है। वह समता के गम्भीर सागर मे इतना गहरा उतर जाता है कि विषमता की ज्वालाएँ उसके पास तक नही फटक सकती। कोई निन्दा करे या प्रशसा, गाली दे या धन्यवाद, ताड़न-तर्जन करे या सत्कार, परन्तु

---

[1] सामाइयंमि समभावलक्खणं। —विशेषा० भा० गा० ६०५

आचार्य हरिभद्र पंचाशक मे लिखते है—

समभावो सामाइय,
तण-कचण सत्तु मित्त विसओ त्ति ।
णिरभिस्सग चित्त ,
उचिय पवित्तिप्पहाण च ॥११५॥

चाहे तिनका हो, चाहे सोना, चाहे शत्रु हो, चाहे मित्र, सर्वत्र अपने मन को राग-द्वेष की आसक्ति से रहित रखना तथा पाप-रहित उचित धार्मिक प्रवृत्ति करना, सामायिक है , क्योकि 'समभाव' ही तो सामायिक है । * * *

सावद्यकर्ममुक्तस्य दुर्ध्यानरहितस्य च ।
समभावो मुहूर्तंतद्-व्रत सामायिकाह्वयम् ।

—धर्म० अधि० ३७

आर्त रौद्र आदि दुर्ध्यानो से रहित तथा सावद्य कर्म से मुक्त होकर मुहूर्त भर तक जो समभाव की आराधना की जाती है—वह सामायिक व्रत कहलाता है । * * *

होने के लिए प्रयत्न करना, यथाशक्ति राग-द्वेष से रहित होते जाना, भाव सामायिक है। उक्त भाव को जरा दूसरे शब्दों में कहें, तो यों कह सकते हैं कि बाह्य दृष्टि का त्याग कर अन्तर्दृष्टि के द्वारा आत्म-निरीक्षण में मन को जोडना, विषमभाव का त्यागकर समभाव में स्थिर होना, पौद्गलिक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझ कर उनसे ममत्व हटाना एवं आत्मस्वरूप में रमण करना 'भाव सामायिक' है।

द्रव्य और भाव का सामंजस्य

*

ऊपर द्रव्य और भाव का जो स्वरूप व्यक्त किया गया है, वह काफी ध्यान देने योग्य है। आजकल की जनता, द्रव्य तक पहुँच कर ही थक कर बैठ जाती है, भाव तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करती। यह माना कि द्रव्य भी एक महत्वपूर्ण साधना है, परन्तु अन्ततोगत्वा उसका सार भाव के द्वारा ही तो अभिव्यक्त होता है! भाव-शून्य द्रव्य, केवल मिट्टी के ऊपर रुपये की छाप है। अत वह साधारण बालकों में रुपया कहला कर भी बाजार में कीमत नहीं पा सकता। द्रव्य-शून्य भाव, रुपये की छाप से रहित केवल चादी है। अत वह कीमत तो रखती है; परन्तु रुपये की तरह सर्वत्र निराबाध गति नहीं पा सकती। चादी भी हो और रुपये की छाप भी हो, तब जो चमत्कार आता है, वही चमत्कार द्रव्य और भाव के मेल से साधना में पैदा हो जाता है। अत द्रव्य के साथ-साथ भाव का भी विकास करना चाहिए, ताकि आध्यात्मिक जीवन भली-भांति उन्नत बन सके, मोक्ष की ओर गति-प्रगति कर सके।

बहुत से सज्जन कहते हैं कि भाव सामायिक का पूर्णतया पालन तो सर्वथा पूर्णवीतराग गुणस्थानों में ही हो सकता है, पहले नहीं। पहले तो राग-द्वेष के विकल्प उठते रहते ही हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ का प्रभाव बहता ही रहता है। पूर्ण वीतराग जीवन्मुक्त आत्मा से नीचे की श्रेणी के आत्मा, भाव सामायिक की ऊंची चट्टान पर हरगिज नहीं पहुँच सकते। अत जबकि भावरूप शुद्ध सामायिक हम कर ही नहीं सकते, तो फिर द्रव्य सामायिक भी क्यों करें? उससे हमें क्या लाभ?

उक्त विचार के समाधान में कहना है कि द्रव्य, भाव का

साधन है। यदि द्रव्य के साथ भाव का ठीक-ठीक सामंजस्य न भी बैठ सके, तो भी कोई आपत्ति नहीं। अभ्यास चालू रखना चाहिए। अशुद्ध करने वाले किसी दिन शुद्ध भी करने के योग्य हो जायेंगे। परन्तु, जो बिलकुल ही नहीं करने वाले हैं, वे भला क्या आगे बढ़ सकेंगे? उन्हें तो कोरा ही रहना पड़ेगा न? जो अस्पष्ट बोलते हैं, वे बालक एक दिन स्पष्ट भी बोल सकेंगे, पर जन्म के मूक क्या करेंगे?

सामायिक शिक्षा व्रत है

भगवान् महावीर का आदर्श तो 'कडेमाणे कडे' का है। जो साधक साधना के क्षेत्र में चल पड़ा है, भले वह थोड़ा ही चला हो; परन्तु चलने वाला यात्री ही समझा जाता है। जो यात्री हजार मील लम्बी यात्रा करने को चला हो, किन्तु अभी गाँव के बाहर ही पहुँचा हो, फिर भी उसकी यात्रा का मार्ग तो कम हुआ? इसी प्रकार पूर्ण सामायिक करने की भूमि में यदि थोड़ा-सा भी प्रयत्न किया जाए, तब भी वह सामायिक के छोटे-से-छोटे फल को अवश्य प्राप्त कर लेता है। आज थोड़ा तो कल और अधिक। बूँद-बूँद से सागर भरता है।

सामायिक शिक्षा व्रत है। आचार्य शान्तिचन्द्रसूरि ने कहा है— शिक्षाव्रत चतुष्टयम्।

ठीक तौर से लक्ष्य नहीं वेध सकता, आगा-पीछा-तिरछा हो जाता है, परन्तु निरन्तर के अभ्यास से हाथ स्थिर होता है, दृष्टि चौरस होती है, और एक दिन वा अनाडी निशानेबाज अचूक शब्द-वेधी तक बन जाता है। यह ठीक है कि सामायिक की साधना बडी कठिन साधना है, सहज ही यह सफल नहीं हो सकती। परन्तु अभ्यास करिए, आगे बढिए, आपको साधना का उज्ज्वल प्रकाश एक-न-एक-दिन अवश्य जगमगाता नजर आएगा। एक दिन का साधना-भ्रष्ट मरीचि तपस्वी, कुछ जन्मों के बाद भगवान महावीर के रूप में हिमालय-जैसा महान्, अटल, अचल, साधक बनता है और समभाव के क्षेत्र में एक महान् उच्च आदर्श उपस्थित करता है।।

* * *

सामाइयमाहु तस्स ज
जो अप्पाणभए ण दमए ॥

—सूत्र० १।२।१७

जो अपनी आत्मा को भय से मुक्त—अर्थात् निर्भयभाव में स्थापित करता है, वही सामायिक की साधना कर सकता है।

चार प्रकार की शुद्धि आवश्यक है—द्रव्य-शुद्धि, क्षेत्र-शुद्धि, काल-शुद्धि और भाव-शुद्धि। उक्त चार शुद्धियो के साथ की हुई सामायिक ही पूर्ण फलदायिनी होती है, अन्यथा नही। सक्षेप मे चारो तरह की शुद्धि की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) द्रव्य-शुद्धि—सामायिक के लिए जो भी आसन, वस्त्र, रजोहरण या पूंजणी, माला, मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि द्रव्य-साधन आवश्यक है, उनका अल्पारभ, अहिंसक एव उपयोगी होना आवश्यक है। रजोहरण आदि उपकरण, जीवो की यतना (रक्षा) के उद्देश्य से ही रखे जाते है, इसलिए उपकरण ऐसे होने चाहिए, जिनके उत्पादन मे अधिक हिंसा न हुई हो, जो सौन्दर्य की वृद्धि मे न रक्खे गये हो, संयम की अभिवृद्धि मे सहायक हो, जिनके द्वारा जीवो की भली-भाँति यतना हो सकती हो।

कितने ही लोग सामायिक मे कोमल रोयें वाले गुदगुदे आसन रखते है, अथवा सुन्दरता के लिए रग-बिरगे, फूलदार, आसन बना लेते है, परन्तु, इस प्रकार के आसनो की भली भाति प्रतिलेखना नही हो सकती। अत आसन ऐसा होना चाहिए, जो रोयें वाला न हो, रग-बिरगा न हो, भडकीला न हो, मिट्टी से भरा हुआ न हो, किन्तु स्वच्छ हो, साफ हो, श्वेत हो, सादा हो, जहा तक हो सके खादी का हो।

रजोहरण या पूंजणी भी योग्य होनी चाहिए, जिससे भली-भाति जीवो की रक्षा की जा सके। कुछ लोग ऐसी पूंजणियां रखते हैं, जो रेशम की बनी हुई होती है, जो मात्र शोभा-शृङ्गार के काम की चीज है, सुविधा-पूर्वक पूंजने की नही। पूंजने का क्या काम, प्रत्युत साधक उलटा और ममता के पाश मे बँध जाता है। वह पूंजनी को सदा ऊपर-अधर रखता है, मलिनता के भय से जरा भी उपयोग मे नही लाता।

सादगी और स्वच्छता

मुखवस्त्रिका की स्वच्छता पर भी अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। आजकल के सज्जन मुखवस्त्रिका इतनी गंदी, मलिन, एव बेडौल रखते है कि जिनमे जनता घृणा करने

पाप-कार्यों के त्याग का ही उल्लेख है, वस्त्र आदि के त्याग का नहीं। परन्तु, हमारी प्राचीन परंपरा इसी प्रकार की है कि अनुपयुक्त अलंकार तथा गृहस्थवेषोचित पगड़ी, कुरता आदि वस्त्रों का त्याग करना ही चाहिए, ताकि संसारी दशा से साधना-दशा की पृथक्ता मालूम हो, और मनोविज्ञान की दृष्टि से धर्म-क्रिया का वातावरण अपने-आपको भी अनुभव हो, तथा दूसरों की दृष्टि मे भी सामायिक की महत्ता प्रतिभासित हो।

कुछ सज्जनों का कहना है कि 'सामायिक मे कपड़े उतारने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि सामायिक के पाठ मे ऐसा कोई विधान नहीं है।' यह ठीक है कि पाठ मे विधान नहीं है। परन्तु, सब विधान पाठ मे ही हो, यह तो कोई नियम नहीं। कुछ अन्य पाठों पर भी दृष्टि डालनी होती है, कुछ परम्परा की प्राचीनता भी देखनी होती है। उपासकदशांग-सूत्र मे कुण्डकोलिक श्रावक के अध्ययन मे वर्णन आया है कि "उसने नाम-मुद्रिका और उत्तरीय अलग पृथ्वी-शिला पट्ट पर रखकर भगवान् महावीर के पास स्वीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति स्वीकार की।"[1] यह धर्म-प्रज्ञप्ति सामायिक के सिवा और कोई नहीं हो सकती। नाम-मुद्रिका और उत्तरीय उतारने का क्या प्रयोजन? स्पष्ट ही उक्त पाठ सामायिक की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त, कपड़े उतारने की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। इसके लिए आचार्य हरिभद्र तथा अभयदेव आदि के ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। आचार्य हरिभद्र चूर्णि का पाठ उद्धृत करते हुए कहते हैं—

'सामाइयं कुणन्तो मउडं अवणेति, कुंडलाणि, णाममुद्दं, पुप्फ-तंबोलपावरणमादी वोसिरति।' —आवश्यक-बृहद्वृत्ति प्रत्याख्यान ६ अध्ययन

आचार्य अभयदेव कहते हैं—

'स च किल सामायिकं कुर्वन् कुण्डले, नाममुद्रां चापनयति, पुष्प-ताम्बूलप्रावरणादिकं च व्युत्सृजतीत्येष विधिः सामायिकस्य।'

—पंचाशक-विवरण १

---

[1] नाममुद्दगं उत्तरिज्जगं च पुढवीसिलापट्टए ठवेइ, ठवेत्ता, समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तियं धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ताणं विहरति।

—उपासकदशांग, अध्ययन ६

(२) क्षेत्र-शुद्धि—क्षेत्र से मतलब उस स्थान से है, जहा साधक सामायिक करने के लिए बैठता है। क्षेत्र-शुद्धि का अभिप्राय यह है कि सामायिक करने का स्थान भी शुद्ध होना चाहिए। जिन स्थानो पर बैठने से विचारधारा टूटती हो, चित्त मे चचलता आती हो, अधिक स्त्री-पुरुष या पशु आदि का आवागमन अथवा निवास हो, लड़के और लड़किया कोलाहल करते हो—खेलते हो, विषय-विकार उत्पन्न करने वाले शब्द कान मे पड़ते हो, इधर-उधर दृष्टिपात करने से विकार पैदा होता हो, अथवा कोई क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना हो, ऐसे स्थानो पर बैठकर सामायिक करना ठीक नही है। आत्मा को उच्च दशा मे पहुँचाने के लिए, अन्तर्हृदय मे समभाव की पुष्टि करने के लिए क्षेत्र-शुद्धि सामायिक का एक अत्यावश्यक अग है। अत सामायिक करने के लिए वही स्थान उपयुक्त हो सकता है, जहा चित्त स्थिर रह सके, आत्मचिन्तन किया जा सके, और गुरुजनो के ससर्ग से यथोचित ज्ञान-वृद्धि भी हो सके।

सामायिक के योग्य स्थान

*

जहा तक हो सके, घर की अपेक्षा उपाश्रय मे सामायिक करने का ध्यान रखना चाहिए। एक तो उपाश्रय का वातावरण गृहस्थी की झझटो से बिलकुल अलग होता है। दूसरे, सहधर्मी भाइयो के परिचय मे अपनी जैनसस्कृति की महत्ता का ज्ञान भी होता है। उपाश्रय, ज्ञान के आदान-प्रदान का सुन्दर साधन है। उपाश्रय का शाब्दिक अर्थ भी सामायिक के लिए अधिक उपयुक्त है। उपाश्रय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है। 'उप = उत्कृष्ट, आश्रय = स्थान। अर्थात् मनुष्यो के लिए अपने घर आदि स्थान केवल आश्रय है, जबकि उपाश्रय इहलोक तथा परलोक दोनो प्रकार के जीवन को उन्नत बनाने वाला होने से एवं धर्म-साधना के लिए उपयुक्त स्थान होने से उत्कृष्ट आश्रय है।'

दूसरी व्युत्पत्ति है—'उप = उपलक्षण से आश्रय = स्थान।' अर्थात् निश्चयदृष्टि से आत्मा के लिए वास्तविक आश्रय—आधार तो स्वय ही है, और कोई नही। परन्तु उस आत्म-स्वरूप आश्रय की प्राप्ति, व्यावहारिक दृष्टि से

जिस कार्य का जो समय हो, उस समय वही कार्य करना चाहिए। यह कहां का धर्म है कि घर मे बीमार कराहता रहे और तुम उधर सामायिक मे स्तोत्रो की झडिया लगाते रहो ? भगवान् महावीर ने तो साधुओ के प्रति भी यहा तक कहा है कि 'यदि कोई समर्थ साधु, बीमार साधु को छोड कर अन्य किसी कार्य मे लग जाए, बीमार की उचित सार-सँभाल न करे, तो उसको गुरु चौमासी का प्रायश्चित आता है—

'जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा न गवेसइ, न गवेसंतं वा साइज्जइ आवज्जइ चउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं।"

—निशीथ १०।३७

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जब साधु के लिए भी यह कठोर अनुशासन है, तो फिर गृहस्थ के लिए तो कहना ही क्या ? उसके ऊपर तो घर गृहस्थी का, परिवार की सेवा का इतना विशाल उत्तरदायित्व है कि वह उससे किसी भी दशा मे मुक्त नही हो सकता। अत काल-शुद्धि के सम्बन्ध मे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बीमार को छोड कर सामायिक करना ठीक नही। हाँ, यदि सामायिक प्रतिदिन करने का का नियम ले रखा हो, तो रोगी के लिए दूसरी व्यवस्था करके अवश्य ही नियम का पालन करना चाहिए।

(४) भाव-शुद्धि—भाव-शुद्धि से अभिप्राय है—मन, वचन और शरीर की शुद्धि। मन, वचन और शरीर की शुद्धि का अर्थ है—उनकी एकाग्रता। जब तक मन, वचन और शरीर की एकाग्रता न हो, चचलता न रुके, तब तक दूसरा बाह्य विधि-विधान जीवन मे क्रान्ति नही ला सकता। जीवन उन्नत तभी होता है, जब कि साधक मन, वचन, शरीर की एकाग्रता भग करने वाले, अन्तरात्मा मे मलिनता पैदा करने वाले दोषो को त्याग दे। मन, वचन, शरीर की शुद्धि का प्रकार यो है—

(१) मन-शुद्धि—मन की गति बडी विचित्र है। एक प्रकार से जीवन का सारा भार ही मन के ऊपर पड़ा हुआ है। आचार्य कहते है— 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

—मैत्रायणी आरण्यक ६।३४-११

'मन ही मनुष्यो के बन्ध और मोक्ष का कारण है।'

वास्तव में यह बात है भी ठीक। मन का काम विचार करना है, चलन, आकर्षण-विकर्षण, कार्याकार्य, उन्नति-अवनति आदि सब कुछ, विचारशक्ति पर ही निर्भर है। और तो क्या, हमारा सारा जीवन ही विचार है। विचार ही हमारा जन्म है, मृत्यु है, उत्थान है, पतन है, स्वर्ग है, नरक है, सब-कुछ है। विचारों का वेग अन्य सब वेगों की अपेक्षा अधिक तीव्रगामी होता है। आजकल के विज्ञान का मत है कि प्रकाश की गति एक सेकण्ड में १,८०,००० मील है, विद्युत् की गति २,८८,००० मील है, जब कि विचारों की गति २२,६५,१२० मील है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि मनोगत विचारों का प्रभाव कितना महान है?

विचारशक्ति के दो रूप

मन का नियंत्रण

*

प्रश्न हो सकता है कि मन को नियंत्रण मे कैसे किया जाय? मन को एक बार ही नियत्रण में ले लेना बडी कठिन बात है। मन तो पवन से भी सूक्ष्म है। वह प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जैसे महात्माओं को भी अन्तर्मुहूर्त जितने अल्प समय मे सातवी नरक के द्वार तक पहुँचा देता है और फिर कुछ क्षणो मे ही वापस लौटकर केवलज्ञान, केवलदर्शन के द्वार पर भी खडा कर देता है। तभी तो कहा है—

'मनोविजेता जगतोविजेता'

—मन का जीतने वाला, जगत का जीतने वाला है।

मनुष्य की सकल्प शक्ति अपरपार है, वह चाहे तो मन पर अपना अखण्ड शासन चला सकता है। उसके लिए जप करना, ध्यान करना, सत्साहित्य का अवलोकन करना आवश्यक है[1]

(२) वचन-शुद्धि—मन एक गुप्त एव परोक्ष शक्ति है। अत वहा प्रत्यक्ष कुछ करना, कठिन-सा है। परन्तु, वचनशक्ति तो प्रकट है, उस पर तो प्रत्यक्ष नियत्रण का अकुश लगाया जा सकता है। प्रथम तो सामायिक करते समय वचन को गुप्त ही रखना चाहिए। यदि इतना न हो सके, तो कम-से-कम वचन समिति का पालन तो करना ही चाहिए। इसके लिए यह ध्यान मे रखना चाहिए कि साधक सामायिक-व्रत मे कर्कश, कठोर, और दूसरे के कार्य में विघ्न डालने वाला वचन न बोले। सावद्य अर्थात् जिनसे किसी जीव की हिंसा हो, ऐसा, सदोष वचन भी न बोले। क्रोध, मान, माया एव लोभ के वश मे होकर वचन बोलना भी निषिद्ध है। किसी की चापलूसी के लिए खुशामद करना, दीन वचन बोलना, विपरीत या अतिशयोक्ति से बोलना भी ठीक नही। सत्य भी ऐसा नही बोलना चाहिए जो दूसरे का अपमान करने वाला हो। वचन अन्तरग दुनिया का प्रतिबिम्ब है। अत मनुष्य को हर समय विशेषकर सामायिक के समय बडी सावधानी से वाणी का प्रयोग करना चाहिए। पहले

१—लेखक की 'महामन्त्र नवकार' नामक प्रसिद्ध पुस्तक मे इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

निर्धारित परिणाम का विचार करो और फिर बोलो - इस सूत्र के सिद्धान्त को भूलना, अपनी मनुष्यता को भूलना है।

(३) काय-शुद्धि—कायशुद्धि का यह अर्थ नहीं कि शरीर को साफ-सुथरा, सजा-धजा कर रखना चाहिए। यह ठीक है कि शरीर को गंदा न रखा जाए, स्वच्छ रखा जाए, क्योंकि गंदा शरीर मानसिक-शान्ति को ठीक नहीं रहने देता और रोग भी पैदा करता है। परन्तु, यहाँ काय-शुद्धि से हमारा अभिप्राय शारीरिक आचरण से है। आन्तरिक आचार का भार मन पर है और बाह्य आचार का भार शरीर पर है। जो मनुष्य उठने में, बैठने में, खड़ा होने में, हाथ-पैर आदि का इधर-उधर हिलाने डुलाने में विवेक से काम लेता है, असभ्यता नहीं दिखलाता है, किसी भी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाता है, वही काय-शुद्धि का सच्चा उपासक होता है। जब तक हमारा बाह्य शारीरिक आचार शुद्ध एवं अनुकरणीय नहीं होगा, तब तक दूसरे अनुकरणप्रिय लोगों पर हम अपना क्या धार्मिक प्रभाव डाल सकते हैं? हमारे में आन्तरिक शुद्धि है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर जनता को हमारे बाह्य-आचरण पर से ही तो मिलेगा? आन्तरिक शुद्धि की आधार भूमि बाह्य ही तो है न? अतएव सामायिक में आन्तरिक भाव शुद्धि के साथ शारीरिक शुद्धि की भी आवश्यकता है।

८ | सामायिक के दोष

शास्त्रकारों ने सामायिक के समय में मन, वचन और शरीर को संयम में रखना बताया है। परन्तु, मन बड़ा चंचल है, वह स्थिर नहीं रहता। आकाश से पाताल तक के अनेकानेक झूठे सच्चे घाट-कुघाट घड़ता ही रहता है। अतएव अविवेक, अहंकार आदि मन के दोषों से बचना, साधारण बात नहीं है। इसी प्रकार भूल, विस्मृति, असावधानता आदि के कारण वचन और शरीर की शुद्धि में भी दूषण लग जाते हैं। सामायिक को दूषित करने वाले तथा सामायिक के महत्त्व को घटाने वाले मन-वचन-शरीर सम्बन्धी, स्थूल रूप से, बत्तीस दोष होते हैं। सामायिक करने से पहले साधक को दस मन के, दस वचन के और बारह काय के, इस प्रकार कुल बत्तीस दोषों को जानना आवश्यक है, ताकि यथावसर दोषों से बचा जा सके और सामायिक की पवित्र साधना को सुरक्षित रखा जा सके।

मन के दस दोष

[१]

अविवेक जसो कित्ती, लाभत्थी गव्व-भय-नियाणत्थी।
संसय रोस अविणओ, अबहुमाणए दोसा भाणियव्वा॥

(१) **अविवेक**—सामायिक करते समय किसी प्रकार का विवेक न रखना, किसी भी कार्य के औचित्य-अनौचित्य का अथवा समय-असमय का ध्यान न रखना, 'अविवेक' है।

(२) **यश-कीर्ति**—सामायिक करने से मुझे यश प्राप्त होगा, समाज में मेरा आदर-सत्कार बढ़ेगा, लोग मुझे धर्मात्मा कहेंगे ; इस

अनादर पूर्वक सामायिक करना, किसी के दबाव या किसी की प्रेरणा से बेगार समझते हुए सामायिक करना 'अबहुमान' दोष है।

वचन के दस दोष

कुवयण सहसाकारे, सच्छंद संखेव कलह च।
विगहा विहासोऽसुद्धं, निरवेक्खो मुणमुणा दस दोसा॥

(१) कुवचन—सामायिक में कुत्सित, गंदे वचन बोलना 'कुवचन' दोष है।

(२) सहसाकार—बिना विचारे सहसा हानिकर, असत्य वचन बोलना 'सहसाकार' दोष है।

(३) स्वच्छन्द—सामायिक में काम-वृद्धि करने वाले, गंदे गीत गाना 'स्वच्छन्द' दोष है। गंदी बातें करना भी इसमें सम्मिलित है।

(४) संक्षेप—सामायिक के पाठ को संक्षेप में बोल जाना, यथार्थ रूप में न पढ़ना 'संक्षेप' दोष है।

(५) कलह—सामायिक में कलह पैदा करने वाले वचन बोलना, 'कलह' दोष है।

(६) विकथा—बिना किसी अच्छे उद्देश्य के व्यर्थ ही मनोरंजन की दृष्टि से स्त्री-कथा, भक्त-कथा, राज-कथा, देश-कथा आदि करने लग जाना 'विकथा' दोष है।

(७) हास्य—सामायिक में हँसना, कौतूहल करना एवं व्यंग-पूर्ण शब्द बोलना 'हास्य' दोष है।

(८) अशुद्ध—सामायिक का पाठ जल्दी-जल्दी शुद्धि का ध्यान रखे बिना बोलना या अशुद्ध बोलना 'अशुद्ध' दोष है।

(९) निरपेक्ष—सामायिक में सिद्धान्त की उपेक्षा करके वचन बोलना अथवा बिना सावधानी से वचन बोलना 'निरपेक्ष' दोष है।

(१०) मुम्मन—सामायिक के पाठ आदि का स्पष्ट उच्चारण न करना, किन्तु गुनगुनाते हुए बोलना 'मुम्मन' दोष है।

(११) निद्रा—सामायिक मे बैठे हुए ऊंघना एव निद्रा लेना 'निद्रा' दोष है।

(१२) वैयावृत्य—सामायिक मे बैठे हुए निष्कारण ही आराम-तलबी के लिए दूसरो से वैयावृत्य यानी सेवा कराना 'वैयावृत्य' दोष है। कुछ आचार्य वैयावृत्य के स्थान मे 'कम्पन' दोष मानते है। स्वाध्याय करते हुए इधर-उधर घूमना या हिलना झूलना अथवा शीत आदि के कारण कांपना 'कम्पन' दोष है।

मनुष्य के पास मन, वचन और शरीर ये तीन शक्तियां हैं। इनको चचल बनाने वाला साधक सामायिक की साधना को दूषित करता है और इनको स्थिर एव सुदृढ रखनेवाला सामायिक-रूप उत्कृष्ट सवर धर्म की उपासना करता है। अतएव सामायिक की साधना करनेवाले को उक्त बत्तीस दोषो से पूर्णतया सावधान रहना चाहिए।

(२) मृषावाद—झूठ बोलना। जो बात जिस रूप में हो, उसको उसी रूप में न कहकर विपरीत रूप से कहना, वास्तविकता को छिपाना 'मृषावाद' है। किसी भी अनपढ या नासमझ व्यक्ति को नीचा दिखाने की दृष्टि से, उसे अनपढ या बेवकूफ आदि कहना तथा क्रोध, अहंकार, भय, लोभ आदि के वश बोला गया सत्य वचन भी 'मृषावाद' है।

(३) अदत्तादान—चोरी करना। जो पदार्थ अपना नहीं, किन्तु दूसरे का है, उसको मालिक की आज्ञा के बिना छिपाकर गुप्त रीति से ग्रहण करना 'अदत्तादान' है। केवल छिपाकर चुराना ही नहीं, प्रत्युत दूसरे के अधिकार की वस्तु पर जबरदस्ती अपना अधिकार जमा लेना भी 'अदत्तादान' है।

(४) मैथुन—व्यभिचार सेवन करना। मोह-दशा से विकल होकर स्त्री का पुरुष पर या पुरुष का स्त्री पर आसक्त होना, वेद-समंजन्य शृंगार-सम्बन्धी चेष्टा करना, मानसिक, वाचिक और कायिक किसी भी काम विकार में प्रवृत्त होना 'मैथुन' है। कामवासना मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है। इसके कारण अच्छा-से-अच्छा मनुष्य भी, चाहे जैसा भी अकृत्य कार्य सहसा कर डालता है, आत्मभाव को भूल जाता है। इस प्रकार से मैथुन पापों का राजा है।

(५) परिग्रह—ममता-बुद्धि के कारण वस्तुओं का अनुचित संग्रह करना या आवश्यकता से अधिक संग्रह करना 'परिग्रह' है। वस्तु छोटी हो या बड़ी, जड़ हो या चेतन, चाहे जो भी हो, उसमें आसक्त हो जाना, उसको प्राप्त करने की लगन में विवेक खो बैठना 'परिग्रह' है। परिग्रह की वास्तविक परिभाषा मूर्छा है। अतएव वस्तु हो या न हो, परन्तु यदि मन में तत्सम्बन्धी मूर्छा-आसक्ति हो, तो वह सब परिग्रह ही माना जाता है।

(६) क्रोध—किसी कारण से अथवा बिना कारण ही अपने आप को तथा दूसरों को क्षुब्ध करना 'क्रोध' है। जब क्रोध होता है तब अज्ञान-वश कुछ भी हिताहित नहीं सूझता है। क्रोध, कलह का मूल है।

(७) मान—दूसरों को तुच्छ तथा स्वयं को महान् समझना 'मान' है। अभिमानी व्यक्ति आवेश में आकर कभी-कभी ऐसे असभ्य

(१४) पैशुन्य—किसी भी मनुष्य के सम्बन्ध में चुगली खाना, इधर की बात उधर लगाना, नारदवृत्ति अपनाना 'पैशुन्य' है।

(१५) पर-परिवाद—किसी की उन्नति न देख सकने के कारण उसकी झूठी-सच्ची निन्दा करना, उसे बदनाम करना 'पर-परिवाद' है। पर-परिवाद के मूल में डाह का विष-अंकुर छुपा हुआ रहता है।

(१६) रति-अरति—अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को भूल कर जब मनुष्य पर-भाव में फँसता है, विषय भोगों में आनन्द मानता है, तब वह अनुकूल वस्तु की प्राप्ति से हर्ष तथा प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति से दुःख अनुभव करता है, इसका नाम 'रति-अरति' है। रति-अरति के चंगुल में फंसा रहने वाला व्यक्ति वीतराग भावना से सर्वथा पराङ्मुख हो जाता है।

(१७) माया-मृषा—कपट-सहित झूठ बोलना। अर्थात् उस तरह चालाकी से बात करना या ऐसा लाग-लपेट का व्यवहार करना कि जो प्रकट में तो सत्य दिखाई दे, परन्तु, वास्तव में झूठ हो। जिस सत्याभास-रूप असत्य को सुनकर दूसरा व्यक्ति उसे सत्य मान ले तथा नाराज न हो, वह 'माया-मृषा' है। आजकल जिसे पॉलिसी कहते हैं, वही शास्त्रीय परिभाषा में 'माया-मृषा' है। यह पाप असत्य से भी भयंकर होता है। आज के युग में इस पाप ने इतने पाँव पसारे हैं कि कुछ कह नहीं सकते !

(१८) मिथ्यादर्शन शल्य—तत्त्व में अतत्त्व-बुद्धि और अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि रखना, जैसे कि देव को कुदेव और कुदेव को देव, गुरु को कुगुरु और कुगुरु को गुरु, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म, जीव को जड़ और जड़ को जीव मानना 'मिथ्यादर्शन शल्य' है। मिथ्यात्व समस्त पापों का मूल है। आध्यात्मिक प्रगति के लिए मिथ्यात्व के विष-वृक्ष का उन्मूलन करना अतीव आवश्यक है।

ऊपर अठारह पापों का उल्लेख मात्र स्थूल दृष्टि से किया गया है। सूक्ष्म दृष्टि से तो पापों का वन इतना विराट एवं सघन है कि उसकी गणना ही नहीं हो सकती। मन की हर प्रत्येक तरङ्ग जो आत्माभिमुख न होकर विषयाभिमुख हो, ऊर्ध्वमुखी

१० || सामायिक के अधिकारी

साधना तभी फलवती होती है, जबकि उसका अधिकारी योग्य हो। अनधिकारी के पास जाकर अच्छी-से-अच्छी साधना भी निस्तेज हो जाती है, वह अधिक तो क्या, एक इंच भी आध्यात्मिक जीवन का विकास नहीं कर पाती।

आजकल सामायिक की साधना क्यों नहीं सफल हो रही है? वह पहले-सा तेज सामायिक में क्यों न रहा, जो क्षण भर में ही साधक को आध्यात्मिक-सुमेरु के उच्च शिखर पर पहुँचा देता था? बात यह है कि आज के अधिकारी योग्य नहीं रहे हैं। आजकल बहुत से लोग तो यह समझ बैठे हैं कि "हम संसार के व्यवहार में भले ही चाहे जो करें, हिंसा, झूठ, चोरी, दंभ, व्यभिचार आदि पाप-कार्य का कितना ही क्यों न आचरण करें, परन्तु सामायिक करते ही सब-के-सब पाप नष्ट हो जाते हैं और हम झटपट मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं। संसार का प्रत्येक व्यवहार पाप-पूर्ण है, अतः यहाँ पाप किए बिना काम ही नहीं चल सकता।"

इस धारणा वाले सज्जन केवल कृत पापों से छुटकारा पाने के लिए ही सामायिक करते हैं किन्तु कभी भी पाप कार्य के त्याग की आवश्यकता नहीं समझते। इस प्रकार के धर्मध्वजी भक्तों के लिए आचार्य का कहना है कि "जो लोग पाप-कर्म का त्याग न करके सामायिक के द्वारा केवल पापकर्म के फल से बचना चाहते हैं, वे लोग वास्तव में सामायिक नहीं करते, किन्तु धर्म के नाम पर दंभ करते हैं।"

सर्वथा असत्य एवं भ्रान्त कल्पनाओं के फेर में पड़ा हुआ

सामायिक से पहले अच्छा आचरण बनाना—यह अपनी मतिकल्पना नहीं है, उसके लिए आगम-प्रमाण भी उपलब्ध है। गृहस्थ-धर्म के बारह व्रतों में आप देख सकते हैं, सामायिक का स्थान नौवाँ है। सामायिक के पहले के आठ व्रत साधक की सांसारिक वासनाओं के क्षेत्र को सीमित बनाने के लिए एवं सामायिक करने की योग्यता पैदा करने के लिए हैं। अतएव जो साधक सामायिक से पहले के अहिंसा आदि आठ व्रतों को भली-भाँति स्वीकार करते हैं, उनकी सांसारिक वासनाएँ सीमित हो जाती हैं और हृदय में आध्यात्मिक शान्ति के सुगन्धित पुष्प खिलने लगते हैं। यह ही नहीं, उसके अन्तर्जगत् में यथावसर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का सुमधुर विवेक भी जागृत हो जाता है। जो मनुष्य चूल्हे पर चढ़ी हुई कढ़ाई में के दूध को शान्त रखना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह कढ़ाई के नीचे से जलती हुई आग को अलग कर दे। आग को तो अलग न करना, केवल ऊपर से दूध में पानी के छींटे दे-देकर उसे शांत करना, किसी भी दशा में सफल नहीं होता। छल, कपट अभिमान, अत्याचार आदि दुर्गुणों की आग जब तक साधक के मन में जलती रहेगी, तब तक सामायिक के छींटे कभी भी उसके अन्तर्हृदय में स्थायी शान्ति नहीं ला सकेंगे।

उक्त विवेचन को लम्बा करने का हमारा अभिप्राय सामायिक के अधिकारी का स्वरूप बताना था। संक्षेप में पाठक समझ गए होंगे कि सामायिक के अधिकारी का क्या कुछ कर्त्तव्य है? उसे संसार-व्यवहार में कितना प्रामाणिक होना चाहिए?

—जिस प्रकार चन्दन अपने काटनेवाले कुल्हाड़े को भी सुगन्ध अर्पण करता है, उसी प्रकार विरोधी के प्रति भी जो समभाव की सुगन्ध अर्पण करते हुए महापुरुषों की सामायिक है, वह मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट अंग है, ऐसा सर्वज्ञ प्रभु ने कहा है।

सामायिक एक पाप-रहित साधना है। इस साधना में जरा-सा भी पाप का अंश नहीं होता। पाप क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि सामायिक के काल में चित्तवृत्ति शांत रहती है, अतः नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता। सामायिक करते समय किसी का भी अनिष्ट-चिन्तन नहीं किया जाता, प्रत्युत सब जीवों के श्रेय के लिए विश्वकल्याण की भावना भावित की जाती है, फलतः आत्म-स्वभाव में रमण करते-करते साधक अध्यात्म-विकास की उच्च श्रेणियों पर चढ़ता हुआ आत्म-निरीक्षण करने लग जाता है, तथा अशुद्ध व्यवहार, अशुद्ध उच्चार, अशुद्ध विचार के प्रति पश्चात्ताप करता है, उनका त्याग करता है, अट्ठारह पापों से अलग होकर आत्म-जागृति के क्षेत्र में पवित्र ध्यान के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है। उक्त वर्णन से सिद्ध हो जाता है कि सामायिक कितनी पाप-रहित पवित्र क्रिया है! अतएव आचार्य हरिभद्र ने अष्टक प्रकरण में कहा है—

निरवद्यमिदं ज्ञेयमेकान्तेनैव तत्त्वतः ।
कुशलाशयरूपत्वात् सर्वयोग-विशुद्धितः ॥२९।२॥

—सामायिक कुशल-शुद्ध आशयरूप है, इसमें मन, वचन और शरीर-रूप सब योगों की विशुद्धि हो जाती है, अतः परमार्थ दृष्टि से सामायिक एकान्त निरवद्य अर्थात् पाप-रहित है।

आचार्य हरिभद्र ने सामायिक के फल का निर्देश करते हुए अष्टक प्रकरण में पुनः कहा है कि सामायिक की निर्मल साधना से केवल ज्ञान प्राप्त होता है—

सामायिकविशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मणः ।
क्षयात्केवलमाप्नोति, लोकालोकप्रकाशकम् ॥ ३०।१॥

—सामायिक से विशुद्ध हुआ आत्मा ज्ञानावरण आदि

का त्याग, ब्रह्मचर्य आदि महान् गुण होने चाहिए, उनकी छाया सामायिक करते समय श्रावक के अन्तस्तल में भी प्रतिभासित हो जाती है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी कहते हैं—

> सामाइअम्मि उ कए,
> समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
> एएण कारणेण,
> बहुसो सामाइयं कुज्जा॥
>
> —आवश्यक-निर्युक्ति ८०२

—सामायिक व्रत भली-भाँति ग्रहण कर लेने पर श्रावक भी साधु जैसा हो जाता है, अतः आध्यात्मिक उच्च दशा को पाने के लिए अधिक से अधिक सामायिक करना चाहिए।

> सामाइय-वय-जुत्तो,
> जाव मणो होइ नियमसंजुत्तो।
> छिन्नइ असुहं कम्मं,
> सामाइय जत्तिया वारा॥

—चंचल मन को नियन्त्रण में रखते हुए जब तक सामायिक-व्रत की अखण्डधारा चालू रहती है, तब तक अशुभ कर्म बराबर क्षीण होते रहते हैं।

पाठक सामायिक का महत्त्व अच्छी तरह समझ गए होंगे। सामायिक की साधना में संलग्न होना बड़ा ही कठिन है, परन्तु जब यह संलग्न हो जाता है तब फिर बेड़ा पार है! आचार्यों का कहना है कि देवता भी अपने हृदय में सामायिक-व्रत स्वीकार करने की तीव्र अभिलाषा रखते हैं और भावना भाते हैं कि 'यदि एक मुहूर्त-भर के लिए भी सामायिक व्रत प्राप्त हो जाए, तो यह मेरा देव जन्म सफल हो जाए!'

खेद है कि देवता भावना भाते हुए भी सामायिक व्रत प्राप्त नहीं कर सकते। चारित्र-मोह के उदय के कारण संयम का पथ न कभी देवताओं ने अपनाया है, और न अपना सकेंगे। जैन शास्त्र की दृष्टि से देवताओं की अपेक्षा मानव अधिक आध्यात्मिक भावना का

१२ सामायिक का मूल्य

सामायिक का क्या मूल्य है ? यह प्रश्न गंभीर है। इसका उत्तर भी उतना ही गंभीर एवं रहस्यपूर्ण है। सामायिक का एक-मात्र मूल्य मोक्ष है। मोक्ष के अतिरिक्त, और कुछ भी नहीं। कुछ लोग सामायिक के द्वारा भौतिक धन, जन, प्रतिष्ठा एवं स्वर्गादि का सुख चाहते हैं, परन्तु यह बड़ी भूल है। यदि आज का भद्र साधक सामायिक का फल सांसारिक सम्पदा के रूप में ही चाहता रहा, तो वह उस महान आध्यात्मिक लाभ से सर्वथा वंचित ही रहेगा, जिसके सामने संसार की समस्त सम्पदाएँ तुच्छ हैं, नगण्य हैं, हेय हैं। सामायिक के वास्तविक फल की तुलना में सांसारिक सम्पदा किस प्रकार तुच्छ है, यह बताने के लिए भगवान् महावीर के समय की एक घटना ही पर्याप्त है।

एक समय मगधसम्राट श्रेणिक ने श्रमण भगवान् महावीर से अपने भावी जीवन के सम्बन्ध में पूछा कि "मैं मर कर कहाँ जाऊँगा ?"

भगवान् ने कहा—पहली नरक में।

श्रेणिक ने कहा—आपका भक्त और नरक में ? आश्चर्य है !

भगवान् ने कहा—राजन् ! किये हुए कर्मों का फल तो भोगना ही पड़ता है, इसमें आश्चर्य क्या ? राजा श्रेणिक ने नरक से बचने का उपाय कई भी बार ने पूछा तो भगवान् ने चार उपाय बताए, जिनमें से किसी एक भी उपाय का अवलम्बन करने से नरक से बचा जा सकता था। उनमें एक उपाय; उस समय के सुप्रसिद्ध साधक पूणिया श्रावक की सामायिक का खरीदना भी था।

१३ सामायिक में दुर्ध्यान विवर्जन

सामायिक में समभाव की उपासना की जाती है। समभाव का अर्थ राग-द्वेष का परित्याग है। सामायिक शब्द का विवेचन करते हुए कहा है कि—"सामाइयं नाम सावज्जजोगपरिवज्जणं निरवज्जजोग-पडिसेवणं च।"

—आवश्यक-अवचूरि

पीछे बता चुके हैं कि सामायिक का अर्थ है—"सावद्य अर्थात् पापजनक कर्मों का त्याग करना और निरवद्य अर्थात् पाप-रहित कार्यों का स्वीकार करना।" पाप-जनक दो ही ध्यान शास्त्रकारों ने बतलाए हैं—आर्त और रौद्र। अतएव सामायिक का लक्षण करते हुए कहा भी है—

"समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावना।
आर्त-रौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥"

अर्थात्—छोटे-बड़े सब जीवों पर समभाव रखना, पांच इन्द्रियों को अपने वश में रखना, हृदय में शुद्ध और श्रेष्ठ भाव रखना, आर्त तथा रौद्र दुर्ध्यानों का परित्याग करना 'सामायिक व्रत' है।"

उक्त लक्षण में आर्त तथा रौद्र दुर्ध्यान का परित्याग, सामायिक का मुख्य अंग माना गया है। जब तक साधक के मन में आर्त और रौद्र ध्यान के दुःसंकल्प नहीं मिटते हैं, तब तक सामायिक का शुद्ध स्वरूप प्राप्त नहीं किया जा सकता।

जीवन के आदर्शों को भूल कर केवल भविष्य के ही सुनहले स्वप्न देखते रहते है। दिन पर दिन इन्ही विचारो में बीत जाते हैं कि किस प्रकार सम्पति बनूं ? सुन्दर महल, बाग आदि कैसे बनाऊं ? समाज मे पूजा, प्रतिष्ठा किस प्रकार प्राप्त करूं ? आदि उचित-अनुचित का कुछ भी विचार किए बिना विलासी जीव हर प्रकार से अपना स्वार्थ गांठना चाहते है ।

रौद्र ध्यान के चार प्रकार

*

'रौद्र' शब्द 'रुद्र' से निष्पन्न हुआ है। रुद्र का अर्थ है—क्रूर, भयंकर। जो मनुष्य क्रूर होते हैं, जिनका हृदय कठोर होता है वे बड़े ही भयंकर एवं क्रूर विचार करते हैं। उनके हृदय मे हमेशा द्वेष की ज्वालाए भडकती रहती है। उक्त रौद्र ध्यान के शास्त्रकारो ने चार प्रकार बतलाए हैं—

(१) हिंसानन्द—अपने से दुर्बल जीवो को मारने मे, पीडा देने मे, हानि पहुँचाने मे आनन्द अनुभव करना, हिंसानन्द दुर्ध्यान है। इस प्रकार के मनुष्य बड़े ही क्रूर होते है। ऐसे लोग व्यर्थ ही हिंसा-कार्यों का समर्थन करते रहते हैं।

(२) मृषानन्द—कुछ लोग असत्य भाषण मे बडी ही अभिरुचि रखते है। इधर-उधर गप्पबाजी करना, झूठ बोलना, दूसरे भोले भाइयो को भुलावे मे डाल कर अपनी चतुरता पर खुश होना, हर समय असत्य कल्पनाएं घडते रहना, सत्य धर्म की निन्दा और असत्य आचरण की प्रशंसा करना, मृषानन्द दुर्ध्यान मे सम्मिलित है।

(३) चौर्यानन्द—बहुत से लोगो को हर समय चोरी-छपी की आदत होती है। वे जब कभी संगे सम्बन्धी के या मित्रो के यहाँ आते-जाते है, तब वहा कोई भी सुन्दर चीज देखते ही उनके मुँह मे पानी भर आता है। वे उसी समय उसको उठाने के विचार मे लग जाते हैं। हजारो मनुष्य इस दुर्विचार के कारण अपने महान् जीवन को कलंकित कर डालते हैं। रात-दिन चोरी के संकल्प-विकल्पो मे ही अपना अमूल्य समय बर्बाद करते रहते है।

(४) परिग्रहानन्द—प्राप्त परिग्रह के संरक्षण मे और अप्राप्त परिग्रह के प्राप्त करने मे मनुष्य के समक्ष बडी ही जटिल समस्याएं आती

१४ शुभ भावना

मानव-जीवन में भावना का बड़ा भारी महत्व है। मनुष्य अपनी भावनाओं से ही बनता-बिगड़ता है। हजारों लोग दुर्भावनाओं के कारण मनुष्य के उत्तम शरीर को पाकर भी राक्षस बन जाते हैं, और हजारों मनुष्य पवित्र विचारों के कारण देवों से भी ऊँची भूमिका को प्राप्त कर लेते हैं, फलतः देवों के भी पूज्य बन जाते हैं। मनुष्य श्रद्धा का, विश्वास का, भावना का बना हुआ है, जो जैसा सोचता है, विचारता है, भावना करता है, वह वैसा ही बन जाता है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

—गीता १७।३

सामायिक एक पवित्र व्रत है। दिन-रात का चक्र यों ही संकल्प-विकल्पों में, इधर-उधर की उधेड़बुन में निकल जाता है। मनुष्य को सामायिक करते समय दो घड़ी ही शान्ति के लिये मिलती हैं। यदि साधक इन दो घड़ियों में भी मन को शान्त न कर सका, पवित्र न बना सका, तो फिर वह पवित्रता की उपासना कब करेगा? अतएव प्रत्येक जैनाचार्य सामायिक में शुभभावना लाने के लिए विशेष निर्देश करते हैं। पवित्र भावनाओं का बल अन्तरात्मा को महान् आध्यात्मिक शक्ति एवं विशुद्धि प्रदान करता है। आत्मा से परमात्मा के, नर से नारायण के पद पर पहुँचने का यह विशुद्ध विचार ही [illegible] सोपान है।

सामायिक में विचारना चाहिए कि "मेरा वास्तविक हित एवं कल्याण, आत्मिक सुख-शान्ति के पाने में एवं अन्तरात्मा को विशुद्ध

कष्ट नहीं देना चाहता। वह समस्त विश्व को मित्ररूप में देखता है—

"मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि पश्यामहे।"

—यजुर्वेद ३६।१८

अर्थात् मैं सब जीवों को मित्र की आँखों से देखता हूँ, मेरा किसी से भी वैर-विरोध नहीं है, प्रत्युत सब के प्रति प्रेम है। भारतीय साहित्य में मैत्री के ये ही स्वर आपको सर्वत्र गूँजते हुए सुनाई देंगे, देखिए—

मित्ती मे सव्व भूएसु (आव० अ० ४)
मेत्तं च मे सव्वलोकस्मि। (धम्मपद)

मेरी विश्व के सब प्राणियों के साथ मैत्री है—

(२) प्रमोद भावना— गुणवानों को, सज्जनों को, धर्मात्माओं को देखकर प्रेम से गद्‌गद हो जाना, मन में प्रसन्न हो जाना, प्रमोद भावना है। कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य अपने से धन, सम्पत्ति सुख, वैभव, विद्या, बुद्धि अथवा धार्मिक भावना आदि में अधिक बढ़े हुए उन्नतिशील साथी को देखकर ईर्ष्या करने लगता है। यह मनोवृत्ति बड़ी ही दूषित है। जब तक यह मनोवृत्ति दूर न हो जाय, तब तक अहिंसा, सत्य आदि कोई भी सद्‌गुण अन्तरात्मा में टिक नहीं सकता। इसीलिए भगवान् महावीर ने ईर्ष्या के विरुद्ध प्रमोद भावना का उपदेश दिया है।

इस भावना का यह अर्थ नहीं कि आप दूसरों को उन्नत देखकर किसी प्रकार का आदर्श ही न ग्रहण करें, उन्नति के लिए प्रयत्न ही न करें, और सदा दीन-हीन ही बने रहें। दूसरों के अभ्युदय को देखकर यदि अपने को भी वैसा ही अभ्युदय इष्ट हो तो उसके लिए न्याय, नीति के साथ प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए, उनको आदर्श बनाकर दृढ़ता से धर्म-पथ पर अग्रसर होना चाहिए। शास्त्रकार तो यहाँ दुर्बल मनुष्यों के हृदय में दूसरों के अभ्युदय को देखकर जो डाह होता है, केवल उसे दूर करने का आदेश देते हैं।

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सदैव दूसरों के गुणों की ओर ही अपनी दृष्टि रखे, दोषों की ओर नहीं। गुणों की ओर दृष्टि रखने से गुण-ग्राहकता के भाव उत्पन्न होते हैं, और दोषों की ओर दृष्टि रखने से अन्तःकरण पर दोष-ही-दोष छा जाते हैं। मनुष्य जैसा

सुधरना और न सुधरना, यह तो उसकी स्थिति पर है। अपना प्रयत्न चालू रखो, संभव है कभी तो अच्छा परिणाम आ ही जाए !

विरोधी और दुश्चरित्र व्यक्ति को देखकर घृणा भी नहीं करनी चाहिए। ऐसी स्थिति में माध्यस्थ्य भावना के द्वारा समभाव रखना, तटस्थ हो जाना ही श्रेयस्कर है। प्रभु महावीर को संगम आदि देवों ने कितने भयंकर कष्ट दिए, कितनी मर्मान्तक पीड़ा पहुंचाई, किन्तु भगवान् की माध्यस्थ्य वृत्ति पूर्ण रूप से अचल रही। उनके हृदय में विरोधियों के प्रति जरा भी क्षोभ एवं क्रोध नहीं हुआ। वर्तमान युग के संघर्षमय वातावरण में माध्यस्थ्य भावना की बड़ी भारी आवश्यकता है। * * *

ध्यानं विधित्सता ज्ञेय ध्याता ध्येय तथा फलम्।

—योगशास्त्र ७।१

ध्यान की इच्छा रखने वाले को तीन बातें जान लेनी चाहिए—१ ध्याता—ध्यान करने वाले की योग्यता। २ ध्येय—जिस का ध्यान किया जाता है उसका स्वरूप और ३ फल—ध्यान का फल।

निश्चयदृष्टि से सामायिक का स्वरूप

बात यह है सामायिक में पापमय व्यापारों का परित्याग कर समभाव अर्थात् शुद्ध मार्ग अपनाया जाता है। समभाव को ही सामायिक कहते हैं। समभाव का अर्थ है बाह्य विषय-भोग की चंचलता से हटकर स्वभाव में—आत्म-स्वरूप में स्थिर होना, लीन होना। अस्तु, आत्मा का काषायिक विकारों से अलग किया हुआ अपना शुद्ध स्वरूप ही सामायिक है। और उस शुद्ध आत्म-स्वरूप को पा लेना ही सामायिक का अर्थ-फल है! यह निश्चयदृष्टि का कथन है, उसके अनुसार जबतक साधक स्व-स्वरूप में ध्यान-मग्न रहता है, उपशम-जल से राग-द्वेष के मल को धोता है, पर-परिणति को हटाकर आत्म-परिणति में रमण करता है, तब तक ही सामायिक है। और ज्यों ही संकल्पों-विकल्पों के कारण चंचलता होती है, बाह्य क्रोध, मान, माया, लोभ की ओर परिणति होती है, त्यों ही साधक सामायिक से शून्य हो जाता है। आत्म-स्वरूप की परिणति हुए बिना सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि सब-की-सब बाह्य धर्म साधनाएँ मात्र पुण्यास्रव-रूप हैं, मोक्ष की साधक-संवर रूप नहीं।

इसी भाव को भगवती-सूत्र में भगवान् महावीर ने तुंगिया नगरी के श्रावकों के प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट किया है। वहाँ वर्णन है कि "आत्म-परिणति—आत्म-स्वरूप की उपलब्धि के बिना, तप, संयम आदि की साधना से मात्र पुण्य-प्रकृति का बंध होता है, फलस्वरूप देव-भव की प्राप्ति होती है, मोक्ष की नहीं।" अतः साधकों का कर्तव्य है कि निश्चय सामायिक की प्राप्ति का प्रयत्न करें। केवल सामायिक के बाह्य स्वरूप से चिपटे रहना और उसे ही सब-कुछ समझ लेना उचित नहीं।

व्यावहारिक भूमिका : क्रमिक विकास

निश्चय दृष्टि के सम्बन्ध में एक बड़ा ही विकट प्रश्न है। वह यह कि इस प्रकार शुद्ध आत्म-परिणतिरूप सामायिक तो कभी होती नहीं। मन बड़ा चंचल है, वह अपनी उछल-कूद मचाना कभी छोड़ पाता है? कभी नहीं। मन को [illegible] और [illegible], तो उसकी

भी एक बहुत बड़ी साधना है। जो लोग सामायिक न करके स्वयं ही इधर-उधर निन्दा, चुगली, झूठ, हिंसा, लड़ाई आदि करते फिरते हैं, उनकी अपेक्षा निश्चय सामायिक का न सही, व्यवहार सामायिक का ही जीवन देखिए, कितना ऊँचा है, कितना महान् है? स्थूल पापाचारों से तो जीवन बचा हुआ है? * * *

समाइओवउत्तो जीवो सामाइयं सयं चेव।

—विशेषा० १५२६

सामायिक में उपयोग युक्त आत्मा स्वयं ही सामायिक है।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते॥

—मैत्रा० आरण्यक ६।३४-८

चित्त के प्रसन्न (निर्मल) एवं शान्त हो जाने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। और प्रसन्न एवं शान्तचित्त मनुष्य जो सदा आत्मा में लीन होता है तब वह अविनाशी आनन्द प्राप्त करता है।

२० पूर्व और उत्तर दिशा ही क्यों ?

सामायिक करने वाले को अपना मुख पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर रखना श्रेष्ठ माना गया है। श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण लिखते है—

पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व दिज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा।

—विशेपावश्यक-भाष्य ३४०६

शास्त्रस्वाध्याय, प्रतिक्रमण, और दीक्षा-दान आदि धर्म-क्रियाएं पूर्व और उत्तर दिशा की ओर करने का विधान है। स्थानाग-सूत्र मे भगवान् महावीर ने भी इन्ही दो दिशाओ का महत्व वर्णन किया है। अत सामायिक करते समय सामने यदि गुरुदेव विद्यमान हो तो उनके सन्मुख बैठते हुए अन्य किसी दिशा मे भी मुख किया जा सकता है परन्तु अन्य स्थान पर तो पूर्व और उत्तर की ओर मुख रखना ही उचित है।

जब कभी पूर्व और उत्तर दिशा का विचार चल पडता है, तो प्रश्न किया जाता है कि पूर्व और उत्तर दिशा मे ही ऐसा क्या महत्त्व है, जो कि अन्य दिशाओं को छोड कर इनकी ओर ही मुख किया जाए ? उत्तर मे कहना है कि इस मे शास्त्रपरम्परा ही सब से बड़ा प्रमाण है। अभी तक आचार्यो ने इस के वैज्ञानिक महत्व पर कोई विस्तृत प्रकाश नही डाला है। हा, अभी-अभी वैदिक विद्वान् सातवलेकर जी ने इस सम्बन्ध मे कुछ लिखा है और वह काफी विचारणीय है।

पूर्वदिशा प्रगति की प्रतीक

*

प्राची दिशा—आगे बढना, उन्नति करना, अग्रभाग मे हो जाना—यह प्राञ्च-'प्र' पूर्वक 'अञ्चु' धातु का मूल अर्थ है, जिससे पूर्वदिशावाचक प्राची शब्द बना है । 'प्र' का अर्थ प्रकर्ष, आधिक्य, आगे, सम्मुख है । 'अञ्चु' का अर्थ-गति और पूजन है । अर्थात् जाना, बढना, प्रगति करना, चलना, सत्कार और पूजा करना है । इस प्रकार प्राची शब्द का अर्थ हुआ-आगे बढना, उन्नति करना, प्रगति करना, अभ्युदय को प्राप्त करना, ऊपर चढना आदि ।

पूर्व दिशा का यह गौरवमय वैभव प्रात काल अथवा रात्रि के समय अच्छी तरह ध्यान मे आ सकता है। प्रात काल पूर्व दिशा की ओर मुख कीजिए, आप देखेंगे कि अनेकानेक चमकते हुए तारा-मण्डल पूर्व की ओर से उदय होकर अनन्त आकाश की ओर चढ रहे हैं, अपना सौम्य और शीतल प्रकाश फैला रहे हैं ! कितना अभुद्त दृश्य होता है वह ! सर्वप्रथम रात्रि के सघन अन्धकार को चीर कर अरुण प्रभा का उदय भी पूर्व दिशा से होता है । वह अरुणिमा कितनी मनोमोहक होती है ! सहस्ररश्मि सूर्य का अमित आलोक भी इसी पूर्व दिशा की देन है। तमोगुण-स्वरूप अन्धकार का नाश करके सत्त्वगुण-प्रधान प्रकाश जब चारो ओर अपनी उज्ज्वल किरणे फैला देता है, तो सरोवरो मे कमल खिल उठते हैं, वृक्षो पर पक्षी चहचहाने लगते हैं, सुप्त ससार अंगडाई लेकर खडा हो जाता है, प्रकृति के अणु-अणु मे नवजीवन का सचार हो जाता है ।

हां, तो पूर्व दिशा हमे उदय-मार्ग की सूचना देती है, अपनी तेजस्विता बढाने का उपदेश करती है। एक समय का अस्त हुआ सूर्य पुन अभ्युदय को प्राप्त होता है, और अपने दिव्य तेज से ससार को जगमगा देता है। एक समय का क्षीण हुआ चन्द्रमा पुन पूर्णिमा के दिन पूर्ण मण्डल के साथ उदय होकर ससार को दुग्ध-धवल चादनी से नहला देता है । इसी प्रकार अनेकानेक तारक अस्तगत होकर भी पुन अपने सामर्थ्य से उदय हो जाते है, तो क्या मनुष्य अपने सुप्त अन्तस्तेज को नही

जगा सकता ? क्या कभी किसी कारण से सुप्त एव अवनत हुए अपने जीवन को जागृत एव उन्नत नही कर सकता ? अवश्य कर सकता है। मनुष्य महान् है, वह जीता-जागता चलता—फिरता ईश्वर है । उसकी अलौकिक शक्तियाँ सोई पडी है। जिस दिन वे जागृत होगी, जीवन मे मत्र ओर मगल-ही - मगल नजर आएगा। पूर्व दिशा हमे सकेत करती है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ के वल पर, अपनी इच्छा के अनुसार, अभ्युदय प्राप्त कर सकता है । वह सदा पतित और हीन दशा मे रहने के लिए नही है, प्रत्युत पतन से उत्थान की ओर अग्रसर होना, उसका जन्म-सिद्व अधिकार है।

उत्तर दिशा . उच्चता व दृढता का आत्म-बोध

उत्तर दिशा—उत् अर्थात् उच्चता से तर—अधिक जो भाव होता है, वह उत्तर दिशा मे ध्वनित होता है, तो उत्तर का अर्थ हुआ—ऊँची गति, ऊँचा जीवन, ऊँचा आदर्श पाने का सकेत। शरीर शास्त्र की दृष्टि से मनुष्य का हृदय भी वाँई वगल की ओर है, अत वह उत्तर है। मानव-शरीर मे हृदय का स्थान वहुत ऊँचा माना गया है । वह एक प्रकार से आत्मा का केन्द्र ही है। जिसका हृदय जैसा ऊँच-नीच अथवा शुद्ध-अशुद्व होता है, वह वैसा ही वन जाता है। मनुष्य के पास जो भक्ति, श्रद्धा, विश्वास और पवित्र भावना का भाग है, वह लौकिक दृष्टि से भी उत्तर दिशा मे—हृदय मे ही है। इसी आशय से सभवत यजुर्वेद के मत्र द्रष्टा ने कहा है— स्वरुत्तरात् स्व । —यजुर्वेद १३।५७

उत्तर दिशा मे स्वर्ग है अर्थात् हृदय की उत्तर अर्थात उत्तम विचार दृष्टि में ही स्वर्ग है। अस्तु, उत्तर दिशा हमें सकेत करती है कि हम हृदय को विशाल, उदार, उच्च एव पवित्र वनाएँ।

उत्तर दिशा का दूसरा नाम ध्रुव दिशा भी है। प्रसिद्ध ध्रुव नक्षत्र, जो अपने केन्द्र पर ही रहता है, इधर-उधर नहीं होता,

उत्तर दिश मे है। अत पूर्व दिशा जहाँ प्रगति की, हल-चल की सन्देशवाहिका है, वहाँ उत्तर दिशा स्थिरता, दृढता, निश्चयात्मकता एव अचल आदर्श की प्रतीक है। जीवन-सग्राम मे गति के साथ स्थिरता, हलचल के साथ शान्ति और स्वस्थता अत्यन्त अपेक्षित है। केवल गति और केवल स्थिरता जीवन को पूर्ण नही वनाती, किन्तु दोनो का मेल ही जीवन को ऊँचा उठाता है। प्रगति और दृढता के विना कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार की उन्नति नही प्राप्त कर सकता।

उत्तर दिशा की चमत्कारिक शक्ति के सम्वन्ध मे एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। ध्रुव-यन्त्र यानी कुतुवनुमा मे जो लोह-चुम्वक की सुई होती है, वह हमेशा उत्तर की ओर रहती है। लोह चुम्वक की सुई जड पदार्थ है, अत उसे स्वय तो उत्तर, दक्षिण का कोई परिज्ञान नही, जो उधर घूम जाए। अतएव मानना होगा कि उत्तर दिशा मे ही ऐसी कोई विशेष शक्ति व आकर्षण है, जो, सदैव लोह-चुम्वक को अपनी ओर आकृष्ट किये रहती है। हमारे पूर्वाचार्यो के मन मे कही यह तो नही था कि यह शक्ति मनुष्य पर भी अपना कुछ प्रभाव डालती है ?

भौतिक दृष्टि से भी दक्षिण दिशा की ओर शक्ति की क्षीणता तथा उत्तर दिशा की ओर शक्ति की अधिकता प्रतीत होती है। दक्षिण देश के लोग कुछ दुर्वल एव कृष्ण वर्ण होते हैं। उत्तर दिशा के वलवान एव गौरवर्ण होते ह। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि अवश्य ही मनुष्यो के खान-पान, चाल-चलन, रहन-सहन एव सवलता-निर्वलता आदि पर दक्षिण और उत्तर दिशा का कोई विशेष प्रभाव पडता है। आज भी पुराने विचारो के भारतीय दक्षिण और पश्चिम को पैर करके सोना पसद नही करते।

जैन सस्कृति ही नही, वैदिक-सस्कृति मे भी पूर्व और उत्तर दिशा का ही गौरव गान किया गया है। दक्षिण यम की दिशा मानी है और पश्चिम वरुण की। ये दोनो देव क्रूर प्रकृति के माने गये हैं। शतपथ ब्राह्मण मे पूर्व देवताओ की, और उत्तर मनुष्यो की दिशा कथन की गई है—

"प्राची हि देवाना दिक् योदीची दिक् सा मनुष्याणाम्',

—शतपथ, दिशा वर्णन

कि बहुना, विद्वानो को इस सम्बन्ध मे और भी अधिक ऊहापोह करने की आवश्यकता है। मैंने तो यहाँ केवल दिशासूचन के लिए ही ये कुछ पंक्तियाँ लिख छोडी हैं। * * *

वकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत्।

—मनुस्मृति ७।१०५

अपने लक्ष्य की प्राप्ति करने हेतु साधक को बगुले की तरह एकाग्र होकर विचार करना चाहिए और सिंह की भाति साहस पूर्वक पराक्रम करना चाहिए।

२१ ‖ प्राकृत भाषा में ही क्यों ?

सामायिक के पाठ भारत की वहुत प्राचीन प्राकृत भाषा अर्द्ध मागधी में हैं। इस सम्बन्ध मे आजकल तर्क किया जा रहा है कि हमे तो भावो से मतलब है, शब्दो के पीछे बँधे रहने से क्या लाभ ? मागधी के गूढ पाठो को तोते की तरह पढते रहने से हमे कुछ भी भाव पल्ले नही पडते। अत अपनी अपनी गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि लोकभाषाओ मे पाठो को पढना ही लाभ-प्रद है।

महापुरुषो की वाणी

*

प्रश्न वहुत सुन्दर है, किन्तु अधिक गम्भीर विचारणा के समक्ष फीका पड जाता है। महापुरुषो की वाणी मे और जन-साधारण की वाणी मे वडा अन्तर होता है। महापुरुषो की वाणी के पीछे उनके प्रौढ, सदाचारमय जीवन के गम्भीर अनुभव रहते है, जव कि जनसाधारण की वाणी जीवन के वहुत ऊपर के स्थूल स्तर मे ही सम्वन्ध रखती है। यही कारण है कि महापुरुषो के सीधे-सादे साधारण शब्द भी हृदय मे असर कर जाते है, जीवन की धारा वदल देते है, भयकर-से भयकर पापी को भी धर्मात्मा और सदाचारी वना देते है, जव कि साधारण मनुष्यो की अलकारमयी लच्छेदार वाणी भी कुछ असर नही कर पाती। क्या कारण है, जो महान् आत्माओं की वाणी हजारों-लाखों वर्षो के पुराने युग से आज तक वरावर जीवित चली आरही है, और आजकल के लोगो

की वाणी उनके समक्ष ही मृत हो जाती है ? हाँ, तो इसमे सन्देह नही कि महापुरुषो के वचनो मे कुछ विलक्षण प्रामाण्य, पवित्रता एव प्रभाव रहता है, जिसके कारण हजारो वर्षों तक लोग उसे बडी श्रद्धा और भक्ति से मानते रहते है, प्रत्येक अक्षर को बडे आदर और प्रेम की दृष्टि से देखते है। महापुरुषो के अन्दर जो दिव्य दृष्टि होती है, वह साधारण लोगो मे नही होती । और यह दिव्य दृष्टि ही प्राचीन पाठो मे गम्भीर अर्थ और विशाल पवित्रता की झाँकी दिखलाती है।

अनुवाद, केवल छाया-चित्र

महापुरुषो के वाक्य बहुत नपे-तुले होते है । वे ऊपर से देखने मे अल्पकाय मालूम होते है, परन्तु उनके भावो की गम्भीरता अपरम्पार होती है । प्राकृत और संस्कृत भाषाओ मे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आन्तरिक भावो को प्रकट करने की जो शक्ति है, वह प्रान्तीय भाषाओ मे नही आ सकती । प्राकृत मे एक शब्द के अनेक अर्थ होते है, और वे सब-के-सब यथा-प्रसग बडे ही सुन्दर भावो का प्रकाश फैलाते है। हिन्दी आदि भाषाओं मे यह खूबी नही है । मै साधारण आदमियो की बात नही कहता, बडे-बडे विद्वानो का कहना है कि प्राचीन मूल ग्रन्थो का पूर्ण अनुवाद होना अशक्य है। मूल के भावो को आज की भाषाएँ अच्छी तरह छू भी नही सकती । जब हम मूल को अनुवाद मे उतारना चाहते है, तो हमे ऐसा लगता है, मानो ठाठें मारते हुए महासागर को एक क्षुद्र गगरी मे बन्द कर रहे है, जो सर्वथा असम्भव है। चन्द्र, सूर्य, और हिमालय के चित्र लिए जा रहे है, परन्तु वे चित्र मूल वस्तु का साक्षात् प्रतिबिम्ब नही कर सकते। चित्र का सूर्य कभी प्रकाश नही दे सकता। इसी प्रकार अनुवाद केवल मूल का छाया-चित्र है। उस पर से आप मूल के भावो की अस्पष्ट झाँकी अवश्य ले सकते है, परन्तु सत्य के पूर्ण दर्शन नही कर सकते। बल्कि अनुवाद मे आकर मूल का भाव कभी-कभी असत्य से मिश्रित भी हो जाता है। व्यक्ति अपूर्ण है, अत: वह अनुवाद मे अपनी भूल की पुट कहीं-न-कहीं दे ही देता है, अतएव आज के कुशल विद्वान् टीकाओ पर विश्वस्त नही होते, वे मूल

का अवलोकन करने के बाद ही अपना विचार स्थिर करते हैं। अतएव प्राकृत पाठों की जो बहुत पुरानी परंपरा चली आ रही है, वह पूर्णत उचित है। उसे बदल कर हम कल्याण की ओर नही जाएँगे, प्रत्युत सत्य से भटक जाएँगे !

प्राकृत एकता की प्रतीक

*

व्यवहारदृष्टि से भी प्राकृत-पाठ ही औचित्य पूर्ण हैं। हमारी धर्म-क्रियाएँ मानव-समाज की एकता की प्रतीक हैं। साधक किसी भी जाति के हो, किसी भी प्रात के हो, किसी भी राष्ट्र के हो, जब वे एक ही स्थान मे, एक ही वेश-भूषा मे, एक ही पद्धति मे, एक ही भाषा मे धार्मिक पाठ पढते हैं, तो ऐसा मालूम होता है, जैसे सब भाई-भाई हो, एक ही परिवार के सदस्य हो। क्या कभी आपने मुसलमान भाइयो को ईद की नमाज पढते देखा है ? हजारो मस्तक एक साथ भूमि पर झुकते और उठते हुए कितने सुन्दर मालूम होते हैं ? कितनी गभीर नियमितता ! हृदय को मोह लेती है। एक ही अरबी भाषा का उच्चारण किस प्रकार उन्हे एक ही सस्कृति के सूत्र मे बाधे हुए है ? लेखक के पास एक बार देहली मे श्री आनन्दराज जी सुराना एक जापानी व्यापारी को लाए, जो अपने आपको बौद्ध कहता था। मैंने पूछा कि "धार्मिक पाठ के रूप मे आप क्या पाठ पढा करते हो ?"—तो उसने सहसा पाली भाषा के कुछ पाठ अपनी अस्फुट-सी ध्वनि मे उच्चारण किए। मैं आनन्द-विभोर हो गया—अहा ! पाली के मूल पाठो ने किस प्रकार भारत, चीन, जापान आदि सुदूर देशो को भी एक भ्रातृत्व के सूत्र मे बाँध रखा है। अस्तु, सामायिक के मूल पाठो का भी मैं यही स्थान देखना चाहता हू। गुजराती, बगाली, हिन्दी और अग्रेजी आदि की अलग-अलग खिचडी मुझे कतई पसन्द नही। यह विभिन्न भाषाओं का मार्ग हमारी प्राचीन सास्कृतिक एकता के लिए कुठाराघात सिद्ध होगा।

अर्थज्ञान आवश्यक

*

अब रही भाव समझने की बात ! उसके सम्बन्ध मे यह आवश्यक है कि टीका-टिप्पणियों के आधार से थोडा-बहुत मूल

भाषा से परिचय प्राप्त करके अर्थों को समझने का प्रयत्न किया जाए। बिना भाव समझे हुए मूल का वास्तविक आनन्द आप नहीं उठा सकते। आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि "बिना अर्थ समझे हुए शास्त्रपाठी की ठीक वही दशा होती है, जो दलदल में फसी हुई गाय की होती है। वह न बाहर आने लायक रहती है और न अन्दर जल तक पहुँचने के योग्य ही। उभयतो-भ्रष्टदशा में ही अपना जीवन समाप्त कर देती है।"

आजकल अर्थ की ओर ध्यान न देने की हमारी अज्ञानता बड़ा ही भयकर रूप पकड गयी है। न शुद्ध का पता न, अशुद्ध का। एक रेलगाडी की तरह पाठो के उच्चारण किये जाते है, जो तटस्थ विद्वान् श्रोता को हमारी मूर्खता का परिचय कराये बिना नहीं रहते। अर्थ को न समझने से बहुत कुछ भ्रान्तिया भी फैली रहती है। हँसी की बात है कि—"एक बाई 'करेमि भते' का पाठ पढते हुए 'जाव' के स्थान मे 'आव' कहती थी। पूछने पर उसने तर्क के साथ कहा कि सामायिक को तो बुलाना है, अत उसे 'जाव' क्यो कहे ? 'आव' कहना चाहिए !"

इस प्रकार के एक नही, अनेक उदाहरण आपको मिल सकते हैं। साधको का कर्तव्य है कि दुनियादारी की झंझटो से अवकाश निकाल कर अवश्य ही अर्थ जानने का प्रयत्न करे। कुछ अधिक पाठ नही है। थोड़े से पाठो को समझ लेना आपके लिए आसान ही होगा, मुश्किल नही। लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक मे इसीलिए यह प्रयत्न किया है, आशा है इससे कुछ लाभ उठाया जाएगा !

—००—

२२ || दो घड़ी ही क्यों ?

सामायिक का कितना काल है ? यह प्रश्न आजकल काफी चर्चा का विषय बना हुआ है। आज का मनुष्य सासारिक झझटो के नीचे अपने-आपको इतना फँसाये जा रहा है कि वह अपनी आत्म-कल्याणकारिणी धार्मिक क्रियाओ को करने के लिए भी अवकाश नही निकालना चाहता। यदि चाहता भी है, तो इतना चाहता है कि जल्दी से जल्दी कर-कराके छुटकारा मिले और बस घर के काम-धन्धे मे लगे। इसी मनोवृत्ति के प्रतिनिधि कितने ही सज्जन कहते है कि "सामायिक स्वीकार करने का पाठ 'करेमि भते' है। उसमे केवल 'जाव नियम' पाठ है, अर्थात् जब तक नियम है, तब तक सामायिक है। यहा काल के सम्बन्ध मे कोई निश्चित धारणा नही बताई गई है। अत साधक की इच्छा पर है कि वह जितनी देर ठीक समझे, उतनी देर सामायिक करे। दो घडी का ही बन्धन क्या ?"

कालमर्यादा व्यवस्था के लिए

*

इस चर्चा के उत्तर में निवेदन है कि हा, आगम-साहित्य मे सामायिक के लिए निश्चित काल का उल्लेख नही है। सामायिक के पाठ मे भी कालमर्यादा के लिए 'जाव नियम' ही पाठ है, 'मुहुत्त' आदि नही। परन्तु, सर्वसाधारण जनता को नियम-बद्ध करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने दो घड़ी की मर्यादा

बांध दी है। यदि मर्यादा न बांधी जाती, तो बहुत अव्यवस्था हो जाती। कोई दो घडी सामायिक करता, तो कोई घडी भर ही। कोई आध घड़ी मे ही छूमंतर करके निपट लेता, तो कोई-कोई दश-पाच मिनटो मे ही बेडा पार कर लेता। यदि प्राचीन काल से सामायिक की काल-मर्यादा निश्चित न होती तो आज के श्रद्धा-हीन युग मे न मालूम सामायिक की क्या दुर्गति होती ? किस प्रकार उसे मजाक की चीज बना लिया जाता ?

मनोवैज्ञानिक दृष्टि

*

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी काल-मर्यादा आवश्यक है धार्मिक क्या, किसी भी प्रकार की ड्यूटी, यदि निश्चित समय के साथ न बंधी हो, तो मनुष्य मे शैथिल्य आ जाता है, कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा का भाव होने लगता है, फलत धीरे-धीरे अल्प-से अल्प काल की ओर सरकता हुआ मनुष्य अन्त मे केवल अभाव पर आ खड़ा होता है। अत आचार्यों ने सामायिक का काल दो घडी ठीक ही निश्चित किया है। आचार्य हेमचन्द्र भी सामायिक के लिए मुहूर्त-भर काल का स्पष्ट उल्लेख करते है—

> त्यक्तार्त—रौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मण ।
> मुहूर्त समता या ता, विदु सामायिकव्रतम् ।।
>
> —योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश श्लोक ८२

सामायिक प्रत्याख्यान है

*

मूल आगम-साहित्य मे प्रत्येक धार्मिक क्रिया के लिए काल-मर्यादा का विधान है। मुनिचर्या के लिए यावज्जीवन, पोषध-व्रत के लिए दिन-रात और व्रत आदि के लिए चतुर्थभक्त आदि का उल्लेख है। सामायिक भी प्रत्याख्यान है, अत प्रश्न होता है कि पापो का परित्याग कितनी देर के लिए किया है ? छोटे-से-छोटा और बड़े-से बड़ा प्रत्येक प्रत्याख्यान काल-मर्यादा से बंधा हुआ होता है। शास्त्रीयदृष्टि से श्रावक का पचम गुण

स्थान है, अत वहाँ अप्रत्याख्यान क्रिया नही हो सकती। अप्रत्याख्यानक्रिया चतुर्थ गुणस्थान तक ही है। अत सामायिक मे भी प्रत्याख्यान की दृष्टि से काल-मर्यादा का निश्चय रखना आवश्यक है।

दश प्रत्याख्यानो मे नमस्कारसहित अर्थात् नवकारसी का प्रत्याख्यान किया जाता है। आगम मे नवकारसी के काल का पौरुषी आदि के समान किसी भी प्रकार का उल्लेख नही है। केवल इतना कहा गया है कि "जब तक प्रत्याख्यान पारने के लिए नमस्कार—नवकार मन्त्र न पढ़ूँ, तब तक अन्न-जल का त्याग करता हूँ।" परन्तु आप देखते है कि नवकारसी के लिए पूर्व परम्परा से मुहूर्त-भर का काल माना जा रहा है। मुहूर्त से अल्पकाल के लिए नवकारसी का प्रत्याख्यान नही किया जाता। इसी प्रकार सामायिक के लिए भी समझिए।

"इह सावद्ययोगप्रत्याख्यानरूपस्य सामायिकस्य मुहूर्तमानता सिद्धान्तेऽनुक्ताऽपि ज्ञातव्या, प्रत्याख्यानकालस्य जघन्यतोऽपि मुहूर्तमात्रत्वान्नमस्कारसहितप्रत्याख्यानवदिति।"

—जिनलाभ सूरि, आत्म-प्रबोध, द्वितीय प्रकाश

ध्यान की दृष्टि

*

मुहूर्त-भर का काल ही क्यो निश्चित किया गया ? एक घड़ी या आध घड़ी अथवा तीन या चार घडी भी कर सकते थे ? यह प्रश्न सुन्दर है, विचारणीय है। इसके उत्तर के लिए हमे आगमो की शरण मे जाना पड़ेगा। यह आगमिक नियम है कि साधारण साधक का एक विचार, एक संकल्प, एक भाव, एक ध्यान अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त-भर ही चालू रह सकता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद अवश्य ही विचारो मे परिवर्तन आ जाता है। इस सम्बन्ध मे भद्रबाहु स्वामी ने कहा है—

"अंतोमुहुत्तकाल चित्तस्सेगग्गया हवइ झाण"

—आवश्यकनिर्युक्ति १४५९

हाँ, तो शुभ संकल्पों को लेकर सामायिक का ग्रहण किया हुआ नियम अन्तर्मुहूर्त तक ही समान गति से चालू रह सकता है। पश्चात् कुछ-न-कुछ परिवर्तन, ऊँचा या नीचा आ ही जाता है। अतः विचारों की एकधारा की दृष्टि से सामायिक के लिए मुहूर्त कहते हैं, और मुहूर्त में से एक समय एवं एक क्षण भी कम हो, तो अन्तर्मुहूर्त माना जाता है।

——oo——

२३ वैदिक सन्ध्या और सामायिक

प्रत्येक धर्म के आचार व्यवहार मे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ पूजा-पाठ, जप-तप, प्रभु-नाम-स्मरण आदि धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं। मानव-जीवन सम्बन्धी प्रतिदिन की आध्यात्मिक भूख की शान्ति के लिए, एव मन की प्रसन्नता के हेतु प्रत्येक पन्थ या मत ने कोई-न-कोई योजना, मनुष्य के सामने अवश्य रखी है।

जैन-धर्म के पुराने पडोसी वैदिक-धर्म मे भी सन्ध्या नाम से एक धार्मिक अनुष्ठान का विधान है, जो प्रात और सायकाल दोनो समय किया जाता है। वैदिक टीकाकारो ने सन्ध्या का अर्थ इस प्रकार किया है—स—उत्तम प्रकार से ध्यै—ध्यान करना। अर्थात् अपने इष्टदेव का पूर्ण भक्ति और श्रद्धा के साथ ध्यान करना, चिन्तन करना। सन्ध्या शब्द का दूसरा अर्थ है—मिलन, सयोग, सम्बन्ध। उक्त दूसरे अर्थ का तात्पर्य है—उपासना के समय परमेश्वर के साथ उपासक का सम्बन्ध यानी मिलना। सन्ध्या का एक तीसरा अर्थ भी है, वह यह कि प्रात काल और सायकाल दोनो सन्ध्याकाल है। रात्रि और दिन की सन्धि प्रात. काल है, और दिन एव रात्रि की सन्धि सायकाल है। अत सन्ध्या मे किया जानेवाला कर्म भी 'सन्ध्या' शब्द से व्यवहृत होता है।

वैदिक धर्म की इस समय दो शाखाएँ सर्वत प्रसिद्ध हैं—सनातन धर्म और आर्यसमाज। सनातनी पुरानी मान्यताओ के पक्षपाती है, जब कि आर्यसमाजी नवीन धारा के अनुयायी। वेदो

का प्रामाण्य दोनो को ही समानरूप से मान्य है, अत दोनो ही वैदिक शाखाएँ हैं। सर्व-प्रथम सनातन धर्म की सन्ध्या का वर्णन किया जाता है।

सध्या : स्वरूप और विधि

*

सनातनधर्म की सन्ध्या केवल प्रार्थनाओ एव स्तुतियो से भरी हुई है। विष्णु-मंत्र के द्वारा शरीर पर जल छिड़क कर शरीर को पवित्र बनाया जाता है, पृथ्वी माता की स्तुति के मत्र से जल छिडक कर आसन को पवित्र किया जाता है। इसके पश्चात् सृष्टि के उत्पत्ति-क्रम पर चिंतन होता है। फिर प्राणायाम का चक्र चलता है। अग्नि, वायु, आदित्य, बृहस्पति, वरुण, इन्द्र और विश्व देवताओं की बडी महिमा गाई जाती है। सप्त व्याहृति इन्ही देवो के लिए होती है। जल का महत्वपूर्ण स्थान है। वैदिक ऋषि बडी ही भावुकता के साथ जल की स्तुति करता है—"हे जल! आप जीवमात्र के मध्य मे से विचरते हो। इस ब्रह्माण्डरूपी गुहा मे सब ओर आपकी गति है। तुम्ही यज्ञ हो, वषट्कार हो, अप् हो, ज्योति हो, रस हो, और अमृत भी तुम्ही हो—

> ॐ अन्तश्चरसि भूतेषु, गुहाया विश्वतोमुख ।
> त्व यज्ञस्त्व वषट्कार, आपो ज्योतीरसोऽमृतम् ॥

सूर्य को तीन बार जल का अर्घ्य दिया जाता है। जिसका आशय है कि प्रथम अर्घ्य से राक्षसो की सवारी का, दूसरी से राक्षसो के शस्त्रो का, और तीसरे से राक्षसो का नाश होता है। इस के बाद गायत्री मत्र पढा जाता है, जिसमे सविता—सूर्य देवता से अपनी बुद्धि की प्रस्फूर्ति के लिए प्रार्थना है। अधिक क्या, इसी प्रकार स्तुतियो, प्रार्थनाओ एव जल छिड़कने आदि की एक लबी परपरा है, जो केवल जीवन के बाह्याचार से ही सम्बन्ध रखती है। अन्तर्जगत् की भावनाओ को स्पर्श करने का और पाप-मल से आत्मा को पवित्र बनाने का कोई सकल्प व उपक्रम नही देखा जाता।

हाँ, एक मत्र अवश्य ऐसा है, जिसमे इस ओर कुछ थोडा बहुत लक्ष्य दिया गया है। वह यह है—

"ओम् सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्य. पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद् अह्ना यद् रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्या पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु, यत् किञ्चिद् दुरितं मयि इदमहमापोऽमृतयोनी सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा।"

—सूर्य नारायण, यक्षपति और देवताओ से मेरी प्रार्थना है कि यक्ष-विषयक तथा क्रोध से किये हुए पापो से मेरी रक्षा करें। दिन या रात्रि मे मन, वाणी, हाथ, पैर, उदर और शिश्न से जो पाप हुए हो, उन पापो को मैं अमृतयोनि सूर्य मे होम करता हूँ। इसलिए वह उन पापो को नष्ट करें।

प्रार्थना : पलायन नहीं, प्रक्षालन है

प्रार्थना करना बुरा नही है। अपने इष्टदेव के चरणो मे अपने-आप को समर्पण करना और अपने अपराधो के प्रति क्षमा-याचना करना, मानव-हृदय की श्रद्धा और भावुकता से भरी हुई कल्पना है। परन्तु, सब-कुछ देवताओ पर ही छोड बैठना, अपने ऊपर कुछ भी उत्तरदायित्व न रखना, अपने जीवन के अभ्युदय एव निश्रेयस् के लिए खुद कुछ न करके दिन-रात देवताओ के आगे नत-मस्तक होकर गिडगिडाते ही रहना, उत्थान का मार्ग नही है। इस प्रकार मानव-हृदय दुर्बल, साहस-हीन एव कर्त्तव्य के प्रति पराङ्मुख हो जाता है। अपनी ओर से जो दोष, पाप अथवा दुराचार आदि हुए हो, उन के लिए केवल क्षमा-प्रार्थना कर लेना और दड मे बचे रहने के लिए गिडगिडा लेना, मानव-जाति के लिए बडी ही घातक विचारधारा है। सिद्धान्त की बात तो यह है कि सर्वप्रथम मनुष्य कोई अपराध ही न करे। और, यदि कभी कुछ अपराध हो जाय, तो उसके परिणाम को भोगने के लिए सहर्ष प्रस्तुत रहे। यह क्या बात है कि बढ-चढ कर पाप करना और दड भोगने के समय देवताओ से क्षमा की प्रार्थना करना, दड से बच कर भाग जाना। यह भीरुता है, वीरता नही। और, भीरुता कभी भी धर्म नही हो सकती। प्रार्थना का उद्देश्य पाप से पलायन करना नही, किन्तु अतीत के पाप का प्रक्षालन करना और भविष्य मे उसका परित्याग करना है। क्षमा-प्रार्थना के साथ-साथ यदि अपने

जीवन को अहिसा, सत्य आदि की मधुर भावनाओ से भरें, हृदय मे आध्यात्मिक बल का सचार करें, तो वह प्रार्थना व उपासना वस्तुत. सही हो सकती है ! जैन-धर्म की सामायिक मे किसी लम्बी-चौड़ी प्रार्थना के बिना ही, जीवन को स्वय अपने हाथो पवित्र बनाने का सुन्दर विधान आपके समक्ष है, जरा तुलना कीजिए।

आर्यसमाजी प्रार्थना

*

अब रहा आर्यसमाज। उसकी सन्ध्या भी प्राय. सनातनधर्म के अनुसार ही है। वही जल की साक्षी, वही अघमर्षण मे सृष्टि का उत्पत्ति-क्रम, वही प्राणायाम, वह स्तुति, वही प्रार्थना। हाँ, इतना अन्तर अवश्य हो गया है कि यहा पुराने वैदिक देवताओ के स्थान मे सर्वत्र ईश्वर—परमात्मा विराजमान हो गया है। एक विशेषता मार्जन-मन्त्रो की है। किन्तु मन्त्र पढकर शिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, पैर आदि को पवित्र करने मे क्या गुप्त रहस्य है, करने वाले ही बता सकते है। इन्द्रियो की शुद्धि तो सदाचार के ग्रहण और दुराचार के त्याग मे है, जिसके लिए इस सन्ध्या मे भी कोई खास सकल्प एव प्रवृत्ति दृष्टि गोचर नही होती।

मनसा परिक्रमा का प्रकरण सन्ध्या मे क्यो रक्खा है ? यह बहुत कुछ विचार करने के बाद भी समझ मे नही आता। मनसा परिक्रमा मे एक मन्त्र है, जिसका आखिरी भाग है—

"योस्मान् द्वेष्टि य वय द्विष्मस्त वो जम्भे दध्म।"[1]

इसका अर्थ है, जो हम से द्वेष करता है अथवा जिससे हम द्वेष करते है, उसको हे प्रभु ! हम तुम्हारे जबडे मे रखते है।

पाठक जानते है, जबडे मे रखने का क्या फल होता है ? नाश ! यह मन्त्र छह बार प्रात और छह बार सायकाल की सन्ध्या मे पढ़ा जाता है। विचार करने की बात है कि यह सन्ध्या है या वही दुनियाबी तू-तू मैं-मैं ! सन्ध्या मे बैठकर भी वही द्वेष वही घृणा, वही नफरत, वही नष्ट करने-कराने की भावना ! मै पूछता हू, फिर सासारिक क्रियाओ और धार्मिक क्रियाओ मे अन्तर ही क्या

---

१ अथर्ववेद का० ३ सू० २७ म० १६

सातवलेकर द्वारा सम्पादित वि० स० १९९९ मे मुद्रित सस्करण।

रहा? मारा-मारी के लिए तो ससार की झझटे ही बहुत है। सन्ध्या मे तो हमे उदार, सहिष्णु, दयालु, स्नेही मनोवृत्ति का धनी बनना चाहिए। तभी हम परमात्मा से सन्धि एव मेल साध सकते हैं। इस कूडे-कर्कट को लेकर तो परमात्मा से सन्धि-मेल तो दूर, उस को मुख दिखलाने के लायक भी हम नही रह सकते। क्या ही अच्छा होता, यदि इस मन्त्र मे अपराधी के अपराध को क्षमा करने की, वैर-विरोध के स्थान मे प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और स्नेह की प्रार्थना की होती!

उपर्युक्त आशय का ही एक मन्त्र यजुर्वेद का है, जो सन्ध्या मे तो नही पढा जाता, परन्तु अन्य प्रार्थनाओ के क्षेत्र मे वह भी विशेष स्थान पाये हुए है। वह मन्त्र भी शत्रुओ से सत्रस्त किसी विक्षुब्ध हृदय की वाणी है।

"योऽस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्विपते जन.।
निन्द्याद् योऽअस्मान् धिप्साच्च सर्व भस्मसा कुरु॥"[1]

—जो हमसे शत्रुता करते हैं, जो हमसे द्वेष रखते ह, जो हमारी निन्दा करते है, जो हमे धोखा देते है, हे भगवन्! हे ईश्वर! तुम उन सब दुष्टो को भस्म कर डालो।

यह सब उद्धरण लिखने का अभिप्राय किसी विपरीत भावना को लिए हुए नही है। और मैं यह भी नही मानता कि वेदो मे इसी प्रकार की द्वेप मूलक भावनाए भरी है। ऋग्वेद आदि का स्वाध्याय मैंने किया है। उनमे जीवन की उदात्त मधुर एवं निर्मल भावनाओ का प्रवाह है। अच्छा होता प्रार्थना मे उन उदात्त भावनाओ को स्थान दिया जाता। यहाँ पर तो केवल प्रसग-वश सामायिक के साथ तुलना करने के लिए ही इस ओर लक्ष्य दिया है। मैं विद्वानो से विनम्र निवेदन करूँगा कि वह इस ओर ध्यान दे तथा उपर्युक्त मन्त्रो के स्थान मे उदात्तता एव प्रेम-भाव से भरे मन्त्रो की योजना करें।

पाठक वैदिक-धर्म की दोनो ही शाखाओ की सन्ध्या का वर्णन पढ चुके है। स्वय मूल ग्रन्थो को देखकर अपने-आपको और अधिक विश्वस्त कर सकते है। और इधर सामायिक आपके समक्ष है ही। अत. आप तुलना कर सकते है, किसमे क्या विशेषता है?

---

1 यजुर्वेद ११।८०
सातवलेकर द्वारा सपादित वि० स० १९९८ मे मुद्रित सस्करण।

सामायिक मे हृदय की पवित्रता

*

सामायिक के पाठो मे प्रारम्भ से ही हृदय की कोमल एव पवित्र भावनाओ को जागृत करने का प्रयत्न किया गया है । छोटे-से-छोटे और बडे-से-बडे किसी भी प्राणी को यदि कभी ज्ञात या अज्ञात रूप से किसी तरह की पीडा पहुंची हो, तो उसके लिए ईर्यापथिक आलोचना-सूत्र मे पश्चात्ताप-पूर्वक 'मिच्छामि दुक्कड' दिया जाता है। तदनन्तर अहिंसा और दया के महान् प्रतिनिधि तीर्थंकर देवो की स्तुति की गई है, और उसमे आध्यात्मिक शान्ति, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् समाधि के लिए मङ्गल कामना की है। पश्चात् 'करेमि भते' के पाठ मे मन से, वचन से और शरीर से पाप-कर्म करने का त्याग किया जाता है। साम्य-भाव के आदर्श को प्रतिदिन जीवन मे उतारने के लिए सामायिक एक महती अध्यात्मिक प्रयोग-शाला है। सामायिक मे आर्त और रौद्र ध्यान से अर्थात् शोक और द्वेष के सकल्पो से अपने आपको सर्वथा अलग रखा जाता है और हृदय के अणु-अणु मे मैत्री-करुणा आदि उदात्त भावनाओ के आध्यात्मिक अमृत रस का सचार किया जाता है। आप देखेंगे, सामायिक की साधना करनेवाले के चारो ओर विश्व-प्रेम का सागर किस प्रकार ठाठें मारता है ! यहा द्वेष, घृणा आदि दुर्भावनाओ का एक भी ऐसा शब्द नही है, जो जीवन को जरा भी कालिमा का दाग लगा सके। पक्षपात-रहित हृदय से विचार करने पर ही सामायिक की महत्ता का ध्यान आ सकेगा।

०————————०

२४ || प्रतिज्ञा पाठ कितनी बार ?

सामायिक ग्रहण करने का प्रतिज्ञा पाठ 'करेमि भंते' है। यह बहुत ही पवित्र और उच्च आदर्शों से भरा हुआ है। सम्पूर्ण जैन साहित्य इसी पाठ की छाया मे फल-फूल कर विस्तृत हुआ है। प्रस्तुत पाठ के उच्चारण करते ही साधक, एक ऐसे नवीन क्षेत्र मे पहुच जाता है, जहाँ राग-द्वेष नही, घृणा-नफरत नही, हिंसा-असत्य नही, चोरी-व्यभिचार नही, लडाई झगडा नही, स्वार्थ नही, दम्भ नही, प्रत्युत सब ओर दया, क्षमा, नम्रता, सन्तोष, तप, ज्ञान, भगवद्भक्ति, प्रेम-सरलता, शिष्टता आदि सद्गुणो की सुगन्ध ही महकती रहती है। सासारिक वासनाओ का अन्धकार जब छिन्न-भिन्न हो जाता है, तो जीवन का प्रत्येक पहलू ज्ञानालोक से जगमगा उठाता है।

तीन बार प्रत्यावर्तन

*

हाँ, तो सामायिक करते समय यह पाठ कितनी बार पढना चाहिये, यह प्रश्न है, जो आज पाठको के समक्ष विचारने के लिये रखा जा रहा है। आजकल सामायिक एक बार के पाठ द्वारा ही ग्रहण कर ली जाती है। परन्तु, यह अधिक औचित्य-पूर्ण नही है। दूसरे पाठो की अपेक्षा इस पाठ मे विशेषता होनी चाहिए। प्रतिज्ञा करते समय हमें अधिक सावधान और जागरूक रहने के लिए प्रतिज्ञा पाठ को तीन बार दुहराना आवश्यक है। मनोविज्ञान का नियम है कि "जब तक प्रतिज्ञा-वाक्य को दूसरे वाक्यो से पृथक् महत्त्व नही दिया जाता, तब

तक वह मनपर दृढ संस्कार उत्पन्न नही कर सकता। भारतीय संस्कृति मे तीन वचन ग्रहण करना, आज भी दृढता के लिए अपेक्षित माना जाता है। राजनीति मे भी शपथ ग्रहण करते समय तीन वार शपथ दुहराई जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी तीन वार पाठ पढते समय मन, योगत्रय की दृष्टि से क्रमश तीन वारप्रतिज्ञा के शुभ भावो मे भर जाता है और प्रतिज्ञा के प्रति शिथिल सकल्प तेजस्विता-पूर्ण एव सुदृढ हो जाता है।

गुरुदेव को वन्दन करते समय तीन वार प्रदक्षिणा करने का विधान है। तीन वार ही तिक्खुत्तो' का पाठ आज भी उस परम्परा के नाते पढा जाता है। आप विचार सकते है कि "प्रदक्षिणा भक्ति-प्रदर्शन के लिए एक ही काफी है, तीन प्रदक्षिणा क्यो ? वन्दन-पाठ भी तीन वार बोलने का क्या उद्देश्य ?" आप कहेंगे कि यह गुरु-भक्ति के लिए, अत्यधिक श्रद्धा व्यक्त करने के लिए है। तो, मै भी जोर देकर कहूँगा कि 'सामायिक" का प्रतिज्ञा-पाठ तीन वार दुहराना भी, प्रतिज्ञा के प्रति अत्यधिक श्रद्धा और दृढता के लिए अपेक्षित है।"

इस विषय मे तर्क के अतिरिक्त क्या कोई आगम प्रमाण भी है ? हा, लीजिए। व्यवहारसूत्र-गत, चतुर्थ उद्देश के भाष्य में उल्लेख आता है—

'सामाइय तिगुणमट्ठगहण च"

—गा० ३०६

आचार्य मलयगिरि, जो आगम-साहित्य के समर्थ टीकाकार के रूप मे विद्वत्ससार मे परिचित है, वे उपर्युक्त भाष्य पर टीका करते हुए लिखते है—

"त्रिगुण त्रीन् वरान् सामायिकमुच्चरयति।"

उक्त वाक्य का अर्थ है—सामायिक पाठ तीन वार उच्चारण करना चाहिए। व्यवहार भाष्य ही नही, निशीथ-चूर्णि भी इस सम्बन्ध मे यही स्पष्ट विधान करती है—

"तिक्खो सामाइय तिक्खुत्तो कड्ढइ।"

अस्तु, प्राचीन भाष्यकार एव टीकाकार के मत से भी सामायिक प्रतिज्ञा पाठ का तीन वार उच्चारण करना उचित है। यह ठीक है

कि ये उल्लेख साधु के लिए आए हैं, श्रावक के लिए नही। परन्तु प्रश्न यह है कि आत्म-विकास की दृष्टि से साधु की भूमिका ऊ ची है या गृहस्थ की ? जब उच्च भूमिका वाले साधु के लिए तीन वार प्रतिज्ञा-पाठ उच्चारण करने का विधान है, तब फिर गृहस्थ के लिए तो कोई विवाद ही नही रह जाता। मेरा आशय सिर्फ इतना ही है कि प्रतिज्ञा के उच्चारण के साथ ही हमारा सकल्प जागृत होना चाहिए, और उसके लिए हमें अपनी प्रतिज्ञा, जो दृढ सकल्प का रूप है, उसे तीन वार दुहराना चाहिए।

———o———

रहा ? मारा-मारी के लिए तो ससार की झझटे ही वहुत है ! सन्ध्या मे तो हमे उदार, सहिष्णु, दयालु, स्नेही मनोवृत्ति का धनी वनना चाहिए । तभी हम परमात्मा से सन्धि एव मेल साव सकते हैं । इस कूडे-कर्कट को लेकर तो परमात्मा से सन्धि-मेल तो दूर, उस को मुख दिखलाने के लायक भी हम नही रह सकते । क्या ही अच्छा होता, यदि इस मन्त्र मे अपराधी के अपराध को क्षमा करने की, वैर-विरोध के स्थान मे प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और स्नेह की प्रार्थना की होती !

उपर्युक्त आशय का ही एक मन्त्र यजुर्वेद का है, जो सन्ध्या मे तो नही पढा जाता, परन्तु अन्य प्रार्थनाओ के क्षेत्र मे वह भी विशेप स्थान पाये हुए हैं । वह मन्त्र भी शत्रुओ से सत्रस्त किसी विक्षुब्ध, हृदय की वाणी है ।

"योऽस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्विषते जन. ।
निन्द्याद् योऽअस्मान् धिप्साच्च सर्वं भस्मसा कुरु ॥"[1]

—जो हमसे शत्रुता करते हैं, जो हमसे द्वेष रखते हैं, जो हमारी निन्दा करते हैं, जो हमे धोखा देते हैं, हे भगवन् ! हे ईश्वर ! तुम उन सव दुष्टो को भस्म कर डालो ।

यह सब उद्धरण लिखने का अभिप्राय किसी विपरीत भावना को लिए हुए नही है । और मैं यह भी नही मानता कि वेदो मे इसी प्रकार की द्वेष मूलक भावनाए भरी है । ऋग्वेद आदि का स्वाध्याय मैंने किया है । उनमे जीवन की उदात्त मधुर एव निर्मल भावनाओ का प्रवाह है । अच्छा होता प्रार्थना मे उन उदात्त भावनाओ को स्थान दिया जाता । यहाँ पर तो केवल प्रसग-वश सामायिक के साथ तुलना करने के लिए ही इस ओर लक्ष्य दिया है । मैं विद्वानो से विनम्र निवेदन करूँगा कि वह इस ओर ध्यान दे तथा उपर्युक्त मन्त्रो के स्थान मे उदात्तता एव प्रेम-भाव से भरे मत्रो की योजना करे ।

पाठक वैदिक-धर्म की दोनो ही शाखाओ की सन्ध्या का वर्णन पढ चुके है । स्वय मूल ग्रन्थो को देखकर अपने-आपको और अधिक विश्वस्त कर सकते है । और इधर सामायिक आपके समक्ष है ही । अत आप तुलना कर सकते है, किसमे क्या विशेपता है ?

---

१ यजुर्वेद ११।८०
सातवलेकर द्वारा सपादित वि० स० १९९८ मे मुद्रित सस्करण।

सामायिक में हृदय की पवित्रता

*

सामायिक के पाठो मे प्रारम्भ से ही हृदय की कोमल एव पवित्र भावनाओ को जागृत करने का प्रयत्न किया गया है । छोटे-से-छोटे और वडे-से-वडे किसी भी प्राणी को यदि कभी ज्ञात या अज्ञात रूप से किसी तरह की पीडा पहुची हो, तो उसके लिए ईर्यापथिक आलोचना-सूत्र मे पश्चात्ताप-पूर्वक 'मिच्छामि दुक्कड' दिया जाता है। तदनन्तर अहिंसा और दया के महान् प्रतिनिधि तीर्थंकर देवो की स्तुति की गई है, और उसमे आध्यात्मिक शान्ति, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् समाधि के लिए मङ्गल कामना की है। पश्चात् 'करेमि भते' के पाठ मे मन से, वचन से और शरीर से पाप-कर्म करने का त्याग किया जाता है । साम्य-भाव के आदर्श को प्रतिदिन जीवन मे उतारने के लिए सामायिक एक महती अध्यात्मिक प्रयोग-शाला है । सामायिक मे आर्त और रौद्र ध्यान से अर्थात् शोक और द्वेप के सकल्पो से अपने आपको सर्वथा अलग रखा जाता है और हृदय के अरण-अरण मे मैत्री-करुणा आदि उदात्त भावनाओ के आध्यात्मिक अमृत रस का सचार किया जाता है । आप देखेंगे, सामायिक की साधना करनेवाले के चारो ओर विश्व-प्रेम का सागर किस प्रकार ठाठे मारता है ! यहा द्वेप, घृणा आदि दुर्भावनाओ का एक भी ऐसा शब्द नही है, जो जीवन को जरा भी कालिमा का दाग लगा सके । पक्षपात-रहित हृदय से विचार करने पर ही सामायिक की महत्ता का ध्यान आ सकेगा ।

o————o

२४ || प्रतिज्ञा पाठ कितनी बार ?

सामायिक ग्रहण करने का प्रतिज्ञा पाठ 'करेमि भते' है। यह बहुत ही पवित्र और उच्च आदर्शों से भरा हुआ है। सम्पूर्ण जैन साहित्य इसी पाठ की छाया मे फल-फूल कर विस्तृत हुआ है। प्रस्तुत पाठ के उच्चारण करते ही साधक, एक ऐसे नवीन क्षेत्र मे पहुच जाता है, जहाँ राग-द्वेष नही, घृणा-नफरत नही, हिसा-असत्य नही, चोरी-व्यभिचार नही, लडाई झगडा नही, स्वार्थ नही, दम्भ नही, प्रत्युत सब ओर दया, क्षमा, नम्रता, सन्तोष, तप, ज्ञान, भगवद्भक्ति, प्रेम-सरलता, शिष्टता आदि सद्गुणो की सुगन्ध ही महकती रहती है। सासारिक वासनाओ का अन्धकार जब छिन्न-भिन्न हो जाता है, तो जीवन का प्रत्येक पहलू ज्ञानालोक से जगमगा उठाता है !

तीन वार प्रत्यावर्तन

*

हाँ, तो सामायिक करते समय यह पाठ कितनी वार पढना चाहिये, यह प्रश्न है, जो आज पाठको के समक्ष विचाने के लिये रखा जा रहा है। आजकल सामायिक एक बार के पाठ द्वारा ही ग्रहण कर ली जाती है। परन्तु, यह अधिक औचित्य-पूर्ण नही है। दूसरे पाठो की अपेक्षा इस पाठ मे विशेषता होनी चाहिए। प्रतिज्ञा करते समय हमे अधिक सावधान और जागरूक रहने के लिए प्रतिज्ञा पाठ को तीन वार दुहराना आवश्यक है। मनोविज्ञान का नियम है कि "जब तक प्रतिज्ञा- वाक्य को दूसरे वाक्यो से पृथक् महत्त्व नही दिया जाता, तब

तक वह मनपर दृढ सस्कार उत्पन्न नही कर सकता। भारतीय सस्कृति मे तीन वचन ग्रहण करना, आज भी दृढता के लिए अपेक्षित माना जाता है। राजनीति मे भी शपथ ग्रहण करते समय तीन वार शपथ दुहराई जाती है। आध्यात्मिक दृष्टि से भी तीन वार पाठ पढते समय मन, योगत्रय की दृष्टि से क्रमश तीन वारप्रतिज्ञा के शुभ भावो से भर जाता है और प्रतिज्ञा के प्रति शिथिल सकल्प तेजस्विता-पूर्ण एव सुदृढ हो जाता है।

गुरुदेव को वन्दनकरते समय तीन वार प्रदक्षिणा करने का विधान है। तीन वार ही 'तिक्खुत्तो' का पाठ आज भी उस परम्परा के नाते पढा जाता है। आप विचार सकते हैं कि "प्रदक्षिणा भक्ति-प्रदर्शन के लिए एक ही काफी है, तीन प्रदक्षिणा क्यो ? वन्दन-पाठ भी तीन वार बोलने का क्या उद्देश्य ?" आप कहेंगे कि यह गुरु-भक्ति के लिए, अत्यधिक श्रद्धा व्यक्त करने के लिए है। तो, मैं भी जोर देकर कहूँगा कि "सामायिक" का प्रतिज्ञा-पाठ तीन वार दुहराना भी, प्रतिज्ञा के प्रति अत्यधिक श्रद्धा और दृढता के लिए अपेक्षित है।"

इस विषय मे तर्क के अतिरिक्त क्या कोई आगम प्रमाण भी है ? हाँ, लीजिए। व्यवहारसूत्र-गत, चतुर्थ उद्देश के भाष्य मे उल्लेख आता है—

'सामाइय तिगुणमट्ठगहण च"

—गा० ३०९

आचार्य मलयगिरि, जो आगम-साहित्य के समर्थ टीकाकार के रूप में विद्वत्ससार मे परिचित हैं, वे उपर्युक्त भाष्य पर टीका करते हुए लिखते हैं—

"त्रिगुण त्रीन् वरान् सामायिकमुच्चरयति।"

उक्त वाक्य का अर्थ है—सामायिक पाठ तीन वार उच्चारण करना चाहिए। व्यवहार भाष्य ही नही, निशीथ-चूर्णि भी इस सम्बन्ध मे यही स्पष्ट विधान करती है—

"सेहो सामाइय तिक्खुत्तो कड्ढइ।"

अस्तु, प्राचीन भाष्यकारो एव टीकाकारो के मत से भी सामायिक प्रतिज्ञा पाठ का तीन वार उच्चारण करना उचित है। यह ठीक है

कि ये उल्लेख साधु के लिए श्राए हैं, श्रावक के लिए नही। परन्तु प्रश्न यह है कि श्रात्म-विकास की दृष्टि से साधु की भूमिका ऊ ची है या गृहस्थ की ? जव उच्च भूमिका वाले साधु के लिए तीन वार प्रतिज्ञा-पाठ उच्चारण करने का विधान है, तव फिर गृहस्थ के लिए तो कोई विवाद ही नही रह जाता ! मेरा श्राशय सिर्फ इतना ही है कि प्रतिज्ञा के उच्चारण के साथ हो हमारा संकल्प जागृत होना चाहिए, श्रौर उसके लिए हमें श्रपनी प्रतिज्ञा, जो दृढ सकल्प का रूप है, उसे तीन वार दुहराना चाहिए।

———o———

२५ सामायिक में ध्यान

आज के अधिकाश जिज्ञासुओ की ओर से यह प्रश्न बराबर सामने आता है कि "हम सामायिक तो करते हैं, किंतु मन एकाग्र नही होता। और जब मन एकाग्र नही होता तो फिर सामायिक करने का क्या लाभ है ?"

यह बात बहुत अशो मे ठीक भी है कि एकाग्रता के बिना सामायिक का वाछितफल और आनन्द प्राप्त नही हो सकता। किन्तु सामायिक कोई जादू तो नही है कि बस, 'करेमि भते' का मत्र बोला और मन वश मे हो गया। मन को वश मे करने के लिए, साधना करनी होती है, अत सामायिक मे वह प्रयत्न करना चाहिए, जिससे कि मन एकाग्र हो, समत्व मे स्थिर हो।

समभाव और ध्यान

सामायिक का मूल अर्थ 'समता भाव' है, समत्वयोग की साधना है। और यह भूल नही जाना है कि समत्वयोग ही ध्यान साधना का मुख्य आधार है। जब मन समत्व मे स्थिर होगा, तभी वह ध्यान योग का आनन्द प्राप्त कर सकेगा। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

> न साम्येन विना ध्यान न ध्यानेन विना च तत्।
> निष्कम्प जायते तस्माद् द्वयमन्योन्यकारणम् ॥
>
> —योगशास्त्र ४।११४

समभाव का अभ्यास किए बिना ध्यान नही होता और ध्यान के बिना निश्चल समत्व की प्राप्ति नही होती । इसलिए समभाव और ध्यान का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दोनो एक-दूसरे के पूरक भी हैं और घटक भी ।

ध्यान की परिभाषा

*

प्राचीन ग्रन्थो मे समभाव की साधना के निमित्त अनेक उपाय बताये गए है । उन सब मे ध्यान साधना प्रमुख है । अत प्रस्तुत अध्याय मे सामायिक मे ध्यान कैसे किया जाए ? मनोनिग्रह कैसे हो ? आदि प्रश्नो के समाधान करने का सक्षिप्त प्रयत्न है ।

मनोवैज्ञानिको का मत है कि अपनी जागृत अवस्था मे हमे विभिन्न प्रकार की वस्तुओ का बोध होता रहता है। उनमे से कुछ वस्तुएँ चेतना केन्द्र के अधिक निकट होती हैं, कुछ उसके आस-पास घूमती है और कुछ उसके किनारे पर घूमती रहती है। जिस वस्तु पर चेतना का प्रकाश केन्द्रित हो जाता है, वह वस्तु ध्यान का विषय (ध्येय) बन जाती है। अत किसी भी वस्तु या विषय पर चेतना के प्रकाश का केन्द्रित हो जाना ध्यान कहा जाता है। इस प्रकार ध्यान का अर्थ हुआ—वस्तु (ध्येय) पर चेतनाप्रकाश का केन्द्रित होना। जैनदृष्टि से इसे ही 'एक पुद्गलनिविष्टदृष्टि' कहा जाता है । सीधी भाषा मे मन का एक विषय पर स्थिर हो जाना, एकाग्र हो जाना ध्यान है ।

कुछ विद्वान् ध्यान का अर्थ करते हैं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' अर्थात् चित्त की वृत्तियो का निरोध हो जाना, ध्यानयोग है। इसका अर्थ है—मन को गतिहीन कर देना, शून्य बना देना । योगदर्शन ने इसी अर्थ मे योग की व्याख्या की है, आजकल भी कुछ साधक व विद्वान् ध्यान के लिए मन को गतिहीन करना, शून्य करना तथा मन को भीतर मे ले जाना आदि शब्दावली का प्रयोग करते हैं, किंतु मेरा अनुभव है कि साधना की प्रथम अवस्था मे इस प्रकार की शब्दावली मात्र एक उलझाव है। साधना की प्रथम सीढी पर चरण रखने वाला साधक पहले ही क्षण मे उसके शिखर को स्पर्श करने के लिए हाथ बढाए, तो यह साधना की गति तथा प्रगति का सही मार्ग नही होगा ।

अत. जैन साधना पद्धति सर्वप्रथम मन को गतिशून्य करने की

अपेक्षा मन की गति को बदलने पर बल देती है। जैनाचार्यों ने योग का अर्थ—"योगो दुश्चित्तवृत्तिनिरोध"[1] किया है, जो कि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध."[2] का परिष्कृत रूप है।

मन जब तक मनरूप मे है, गतिशील रहता है, सर्वथा शून्य नही हो सकता, इस तथ्य को आज मनोविज्ञान भी स्वीकार कर चुका है। अत. प्राथमिक अवस्था मे ध्यान अथवा मनोनिग्रह का अर्थ मन की गति को परिवर्तित करना है, चिंतन की दिशा को ऊर्ध्वगामी बनाना है, मन को दुर्वृत्तियो से हटाकर सद्वृत्तियो की ओर उन्मुख करना है, सच्चिंतन मे मन को जोडना है। संक्षेप मे, शास्त्र की भाषा मे कहे तो, मन को अशुभ से शुभ की ओर परिवर्तित करना है।

इस प्रकार चित्त-वृत्तियो का परिशोधन, उदात्तीकरण एवं चेतनाप्रकाश का केन्द्रीकरण—यह सब ध्यान साधना के अन्तर्गत आ सकता है। इस दृष्टि से जप साधना को भी ध्यान कहा जाता है।

जपसाधना

*

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है—"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि" मैं यज्ञो मे 'जपयज्ञ' हूँ। जप, मन को एकाग्र करने की एक सरल तथा श्रेष्ठ विधि है। जप की महिमा गाते हुए आचार्यो ने कहा है—"जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशय" जप से अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होती है। जप से मन मे तन्मयता एव मधुरता का एक ऐसा प्रवाह उमडता है कि साधक उसमे आत्मविभोर होकर डूब जाता है, अपने को विस्मृत कर देता है, और जप्य(ध्येय) मे तदाकार होकर ऐक्यानुभूति करने लगता है। भक्तियोग मे तो जप को श्रेष्ठतम साधना माना गया है। जप की साधना 'ध्यान योग' की भाँति दुरूह भी नहीं है, साधना की प्रथम भूमिका मे भी साधक इसके आनन्द की अनुभूति कर सकता है।

---

१ उपाध्याय यशोविजयजी कृत योगदर्शन की टीका १।१

२ पातजल योगदर्शन १।१

तीन प्रकार के जप

*

जप साधना का विश्लेषण करते हुए आचार्यों ने इसके तीन रूप बताए हैं—मानस जप, उपांशु जप और भाष्य जप।

भाष्यजप—यह साधना की प्राथमिक श्रेणी है। साधक वाणी के द्वारा ध्वनिप्रधान श्रव्य उच्चारण करता हुआ जब स्तोत्र, पाठ, माला आदि का जप करता है, तो वह भाष्य जप है। इस जप मे उच्चरित वाणी दूसरे भी सुन सकते है। वाणी का प्रयत्न अधिक होने के कारण इस जप मे मन की स्थिरता बहुत ही कम रहती है, अत साधक को इससे आगे बढकर दूसरी श्रेणी मे पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

उपांशु जप—इस जप मे साधक मत्र, स्तोत्र पाठ आदि का बहुत ही धीमे स्वर से उच्चारण करता है। उसकी ध्वनि अन्य व्यक्तियो को सुनाई नही देती, किन्तु उसके अपने कानो तक अवश्य पहुँचती रहती है। शब्द का स्पर्श जीभ और होठ से होता रहता है, अत वे कुछ-कुछ हिलते भी हैं। पूर्व के जप की अपेक्षा इसमे वाणी का प्रयत्न मद होता है, अत इसमे पूर्वापेक्षया मानसिक एकाग्रता अधिक प्राप्त की जा सकती है।

मानस जप—इस जप मे मत्र आदि के अर्थ का चिन्तन करते हुए केवल मन ही मन मत्र के वर्ण, स्वर व पदो की आवृत्ति की जाती है। मानसिक एकाग्रता की दृष्टि से यह जप सर्वश्रेष्ठ माना गया है। आचार्यो के मतानुसार भाष्यजप से सौ गुना श्रेष्ठ उपांशु जप है और उससे हजार गुना श्रेष्ठ मानस जप है।

चतुर्मुख जप

*

जप पद्धति मे चतुर्मुख जप का भी विशेष महत्त्व है। अन्य प्रकार के शब्द-जप की अपेक्षा उसमे मानसिक एकाग्रता अधिक स्थायी एव दृढ होती है। इस जप मे पद्मासन आदि किसी एक आसन पर बैठ कर ध्यानमुद्रा बनाएँ, दोनो आँखो को हल्के से मूँद ले और फिर किसी बीजमंत्र का जप करे, जैसे कि 'ॐ' या 'अर्हं' आदि का मन ही मन ध्यान करें। ध्यान का क्रम इस प्रकार है—अन्तर्गत के संकल्प से सर्व-

प्रथम दाँये कधे पर मत्र की स्थापना करे, अर्थात् मानस कल्पना से मंत्र की आकृति कधे पर रख लिखे, फिर बाँये कधे पर, फिर ललाट (दोनो भौहो के बीच) पर, और फिर हृदय पर। इस प्रकार चार स्थान पर पुन पुन अपने इष्ट मत्र की आकृति स्थापित करते रहे। इसमे चार स्थानो पर मत्राकृति अकित की जाती है, अत यह 'चतुर्मुखजप' कहलाता है। यह जप की श्रेष्ठ विधि है। एक प्रकार से यह ध्यान व जप की मिश्रित अवस्था है, अत इसके द्वारा मन एकाग्रता की दिशा मे अच्छी तरह साधा जा सकता है।

जप किसका ?

*

जप करने वाला साधक अधिकतर यह जानना चाहता है कि जप साधना में किस मत्र का जप किया जाए?

जप मे यो तो किसी भी श्रेष्ठ मत्र का जप किया जा सकता है, किन्तु उसके लिए यह ध्यान मे रखना चाहिए कि जप-मत्र के अक्षर जितने कम हो और उनका उच्चारण करते समय जितना अधिक दीर्घ स्वास लिया जाए, वही मत्र चुनना चाहिए। उदाहरण के रूप मे 'ॐ' यह एकाक्षर मत्र है, इसके उच्चारण के साथ प्राणायाम की क्रिया भी स्वतः होती रहती है, चाहे जितना दीर्घस्वास लिया जा सकता है। 'ॐ' के स्थान पर 'अर्हं' का भी जप किया जा सकता है, अथवा 'ॐ अर्हं' इस मत्र का भी।

मंत्र का चुनाव करते समय, ध्येय-स्वरूप का ध्यान रखा जाए तो और भी श्रेष्ठ है, जैसे 'ॐ' के उच्चारण के साथ ही 'ध्येय' रूप अरिहत, सिद्ध आदि पाँच पदो के स्वरूप का चित्र मानस-चक्षु के सामने चित्रित हो जाना चाहिए। जैन परम्परा मे 'ॐ' नवकार मत्र का बीज मत्र माना गया है। इसमे 'अ' से अरिहन, 'अ' से सिद्ध-अशरीरी, 'आ' से आचार्य, 'उ' से उपाध्याय तथा 'म्' से मुनि (साधु) इनकी ध्वनि गहण की गई है।[1]

---

१ अरिहता असरीरा, आयरिय-उवज्भाय-मुणिणो।
पचक्खर निप्पन्नो ॐ कारो पच परमिट्ठी॥

—वृहद द्रव्य सग्रह, टीका पृ० १८२

ध्यान के भेद

✲

जप और ध्यान की प्रक्रिया बहुत कुछ समान होते हुए भी बहुत भिन्न भी है। जप मे जहाँ एक ही मत्र व पद की आवृत्ति अर्थात् बार बार चिन्तन व उच्चारण किया जाता है, वहाँ ध्यान मे किसी एक ही विषय पर चिन्तन-अनुचिन्तन की अखड धारा प्रवाहित होती रहती है। जप साधना की अपेक्षा ध्यान साधना में मानसिक चिन्तन अधिक स्थिर एव निर्मल होता है, इस दृष्टि से ध्यान साधना, जप-साधना से अधिक महत्त्वपूर्ण व श्रेष्ठ मानी गई है।

स्थानाग सूत्र आदि प्राचीन आगमो में ध्यान के अनेक भेद-प्रभेद वर्णन किये गये है। योग शास्त्र, ज्ञानार्णव तथा तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थो मे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एव रूपातीत आदि अनेक ध्यान-विधियाँ बताई गई हैं, जो प्राथमिक ध्यानसाधक के लिये अतीव उपयोगी हैं। यहाँ हम अधिक विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही कुछ वर्णन पाठको की जिज्ञासापूर्ति के लिये कर रहे है।

पिण्डस्थ ध्यान

✲

किसी शान्त एकान्त स्थान मे सिद्धासन, पद्मासन आदि किसी श्रेष्ठ आसन से बैठकर पिण्डस्थ ध्यान किया जाता है। पिण्ड का अर्थ है—शरीर। अत पिण्डस्थ ध्यान का मतलब हुआ पिण्ड अर्थात् देह के प्रमुख अ ग—ललाट, ब्रह्मरध्र, आज्ञाचक्र, कठ, नासिकाग्रभाग तथा नाभिकमल आदि पर मन को केन्द्रित करना।

प्राचीन आचार्यो ने पिण्डस्थ ध्यान के क्रम मे पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी एव तत्त्ववती धारणा नामक पाँच धारणाओ के माध्यम से उत्तरोत्तर आत्मकेन्द्र पर ध्यानस्थ होने का वर्णन किया है। इन धारणाओ मे साधक सर्वप्रथम अपने को पार्थिवी धारणा में कमल पर समासीन देखता है, फिर आग्नेयी धारणा मे चारो ओर अग्नि ज्वालाएँ दहकने की कल्पना करता है,जिसमें शरीर भस्म होकर अन्तर् मे मे हस्त-पादादि अवयवो से रहित केवल घनपिण्डरूप देहाकार 'आत्मा' चमकने लगती है। अनन्तर वायवी धारणा मे वायु के प्रबल झोको मे राख उड जाने की और फिर वारुणी धारणा में

सघन जल वर्षा से सब ओर से धुलकर आत्मा का शुद्ध प्रकाशमय रूप प्रगट हो जाने की कल्पना करनी चाहिए। इस प्रकार धारणाओं की कल्पना के माध्यम से साधक उत्तरोत्तर आत्मस्वरूप तक पहुँचने का प्रयत्न करता है।

उक्त पिण्डस्थ ध्यान को विकसित व अधिक स्थिर बनाने के लिये 'आज्ञाचक्र' को समझना आवश्यक है।

आज्ञाचक्र

✲

ध्येय पर मन को केन्द्रित करने के लिये साधना विधि मे 'आज्ञा-चक्र' का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इससे बाहर मे विभिन्न विषयो पर भटकता हुआ मन केन्द्र पर स्थिर हो जाता है और उसी विषय मे चिन्तन-मनन का प्रवाह आगे बढने लगता है।

आज्ञाचक्र का अर्थ है—भ्रू मध्य में ध्यान को केन्द्रित करना। सिद्धासन आदि दृढ आसन से मेरुदण्ड (रीढ की हड्डी) को सीधा करके बैठ जाएँ, ध्यान मुद्रा लगाएँ और फिर मानसचक्षु अर्थात् मन की आँखो से दोनो भ्रू के मध्य में देखने का प्रयत्न करें। इस अवस्था मे आखे खुली नही रहनी चाहिएँ, केवल कल्पना से ही भ्रू मध्य को देखा जाए और फिर उस केन्द्र मे 'ॐ' या 'अर्हं' की स्थापना करके उसी के स्वरूप का चिंतन करे। भ्रू मध्य को योग की भाषा मे 'आज्ञा चक्र' कहते है। आज्ञाचक्र की साधना प्रारम्भ मे कुछ कठिन प्रतीत होती है, किन्तु निरन्तर के अभ्यास से यह साधना सरल बन जाती है और बहुत ही आनन्दप्रद प्रतीत होती है। हाँ, वृत्तियो व शरीर के साथ हठ नही करना चाहिए, शनै. शनै इस ओर बढना चाहिए। मेरा अपना अनुभव है कि कुछ दिन सतत अभ्यास के पश्चात् इस अवस्था मे मन की निर्विकल्पता बढने लगती है, मन सहज मे ही स्थिर एव वृत्तियाँ शान्त होने लगती हैं तथा मानसिक उल्लास, प्रसन्नता एव ताजगी का अनुभव होने लगता है।

पदस्थध्यान

✲

पदस्थ ध्यान का अर्थ है—पदो पर ध्यान केन्द्रित करना। यो तो साधक अपनी रुचि व कल्पना के अनुसार किसी भी प्रकार के संकल्प

बना सकता है और उन पर मन को स्थिर करने का प्रयत्न कर सकता है। उदाहरण स्वरूप हम यहाँ एक विधि का उल्लेख करते है, जो जैन योग साधना में 'सिद्ध चक्र' के नाम से प्रसिद्ध है।

सर्व प्रथम ध्यानयोग्य आसन से स्थिर बैठकर हृदयकमल पर अष्टदलश्वेतकमल की कल्पना करनी चाहिए। जब अष्ट पखुडियो की स्पष्ट कल्पना होने लगे, मन उस पर जम जाए, तब कमल की कर्णिका (कमल का मध्यभाग, बीजकोष) पर 'नमो अरिहंताण' की कल्पना करे। फिर कमल की पूर्वादि चारो दिशाओ की पखुडियो पर क्रमश 'नमोसिद्धाणं' 'नमो आयरियाण' 'नमो उवज्झायाण' एव 'नमो लोए सव्वसाहूण' का ध्यान केन्द्रित करे। इसके पश्चात ईशान-कोण आदि विदिशाओ की चार पखुडियो पर क्रमश 'नमो णाणस्स' 'नमो दंसणस्स' 'नमो तवस्स' 'नमो चरित्तस्स' की कल्पना करनी चाहिए। योगशास्त्र (८, ३३-३४) मे आचार्य हेमचन्द्र ने 'णाणस्स' आदि के स्थान पर 'एसो पंचणमुक्करो' आदि चूलिका पदो की स्थापना करने की सूचना की है। स्पष्टता के लिये निम्न चित्र देखिये।

सिद्धचक्र
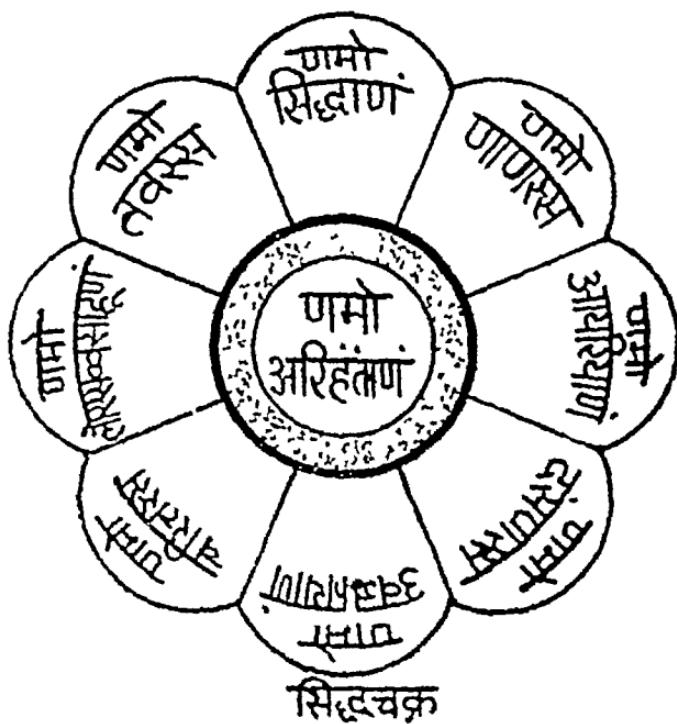
इस प्रक्रिया का मुख्य प्रयोजन यही है कि मन बार-बार इन्ही केन्द्रो पर आवर्तन-प्रत्यावर्तन करता रहे। इसका यह परिणाम होता है कि अन्य विपयो से प्रवृत्तियो की पकड ढीली हो जाती है और मन स्वयं-चालित चक्र की भाँति केवल इन्ही केन्द्रो पर चलता रहता है।

पदस्थ ध्यान मे अक्षर ध्यान की प्रक्रिया भी काफी प्रचलित है। वैसे तो अक्षर का अर्थ है—अविनाशी तत्त्व! परमात्मा, सिद्ध, भगवान्! किन्तु यहाँ अक्षर से अभिप्राय वर्णमाला के अक्षरो से है। इसमे शरीर के तीन केन्द्रो पर—अर्थात् नाभिकमल, हृदयकमल एव आज्ञाचक्र पर क्रमश सोलह पखुडीवाले, चौवीसपखुडी तथा आठ पखुडी वाले कमल की कल्पना की जाती है और उन पर वर्णमाला के अक्षरो की सरचना करके प्रत्येक अक्षर पर स्वतत्र चिंतन किया

अक्षर ध्यान

जाता है । जैसे—अ—पर अरिहत, अमर, अविनाशी, अभय आदि अक्षरो की कल्पना करके फिर प्रत्येक अक्षर के वाक्य स्वरूप की गहराई में उतरने का प्रयत्न किया जाता है। मानसिक स्थिरता जितनी गहरी होगी, अक्षर चितन उतना ही गम्भीर और विराट् होता जाएगा। सलग्न चित्र से यह प्रक्रिया अच्छी तरह समझ मे आ जायेगी ।

कुछ योगाभ्यासी मुमुक्षुओ का मत है कि ध्यान की ये प्रक्रियाएं वस्तुत ध्यान साधना की नही प्रत्युत जपसाधना की ही विधियाँ हैं। हो सकता है, चिंतनप्रधान ध्यान को 'जप' ही मान लिया जाए। फिर भी साधक को ध्यान व जप की परिभाषा में नही उलझना है, उसे मन को एकाग्र करना है। जिस विधि से भी मन अशुभ से शुभ की ओर उन्मुख हो, दुर्विकल्पो से मुक्त होकर सत्सकल्प एवं क्रमश निर्विकल्पता की ओर बढे, वही विधि श्रेष्ठ है।

रूपस्थ ध्यान

✿

ध्यान की इस प्रक्रिया मे साधक अपने मन को किसी दिव्य रूपध्यान विषय पर स्थिर करता है। कभी वह अपने देह को ही प्रभु के रूप मे चित्रित करके उस पर विभिन्न कल्पनाएं करता हुआ केन्द्रित हो जाता है, कभी रूपवान अरिहत परमात्मा—अर्थात् तीर्थंकर देव, अथवा अन्य महान् आत्माओ के श्रुतानुश्रुत रूपो किंवा स्वरूप के अनुसार कल्पित रूपो को अपने मानस-चक्षु के समक्ष अकित करता है। जैसे भगवान् के समवसरण की रचना, उसमें प्रभु को उपदेश देते हुए देखना और उस पर चिंतन करना अथवा उनकी ध्यानसाधना के चित्र मन से तैयार करना और उन पर मन को जमा देना आदि विविध रूपो की कल्पना की जा सकती है ।

महापुरुषो के जीवन सम्बन्धी विविध रूपो पर ध्यान को केन्द्रित करने से मन का भटकना बन्द हो जाता है। फलतः वह एक शुभ व विशुद्ध केन्द्र पर स्थिर होता है, सकल्प बलवान बनते हैं और इस प्रकार हमेशा शुभ एव पवित्र सकल्प आदि करने का अभ्यास हो जाता है।

श्वासानुसधान

*

रूपस्थ ध्यान के समान श्वासानुसन्धान भी ध्यान की एक सुन्दर प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया मे साधक ध्यान को अपने श्वासोच्छ्वास पर केन्द्रित करता है। स्थिर आसन से बैठा हुआ साधक अपनी वृत्तियो और कल्पनाओ को श्वास पर केन्द्रित करके उसकी गणना करता रहता है। इसमे प्राणायाम की भाँति खूब लम्बा सास लिया जाता है और फिर कुछ काल तक उसे रोककर धीरे-धीरे बाहर छोडा जाता है। श्वास को खीचते समय तथा छोडते समय उसकी गति पर ध्यान रखा जाता है और मन ही मन गिनती भी की जाती है कि कितने सांस खीचे और कितने छोडे। मेरा अनुभव है कि इस क्रिया से मन काफी समय तक एक ही विपय पर रह सकता है। स्थिर होने से उसका सकल्प-बल भी प्रबल होता है और एकाग्रता की साधना भी सरल हो जाती है।

श्वासानुसन्धान की एक और भी सरल प्रक्रिया है। वह यह कि आसन का कोई खास प्रतिबन्ध नही है। किसी भी तरह, किसी भी मुद्रा मे बैठकर या लेटकर श्वास पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। शरीर को ढीला छोड दीजिए, तनाव से मुक्त कर दीजिए और सहज भाव से आते जाते श्वास पर लक्ष्य रखिए। श्वास को रोकने और उसकी गणना करने की भी कोई आवश्यकता नही है। रोकने और गणना करने मे भी कुछ तनाव की स्थिति रहती है, अत उक्त सहज प्रक्रिया मे सहज भाव से आने-जाने वाले श्वासो पर केवल ध्यान रखा जाता है और कुछ नही।

रूपातीत ध्यान

*

रूपातीत ध्यान का अर्थ है—रूप रग से अतीत, निरजन, निराकार आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए उसी मे लय हो जाना।

आत्मा न इन्द्रिय है, न देह है और न मन है। ये सब भौतिक हैं, आत्मा अभौतिक। उसका कोई रूप नही है। वह तो द्रष्टा मात्र है, जो जगत् के समस्त दृश्यो को देख रहा है। आत्मा के इस द्रष्टा अर्थात् ज्ञानमय स्वरूप का चिन्तन करना रूपातीत ध्यान है। आत्मा की

यह अवस्था ही परमात्म-दशा अर्थात् सिद्ध अवस्था है। इसलिए आचार्यो ने सिद्ध स्वरूप का चिन्तन भी रूपातीत ध्यान मे गिना है।

रूपातीत ध्यान की विशेपता यह है कि इसमे किसी प्रकार का वाह्य ससारी विकल्प नही होता। मन वाहर से लौटकर भीतर मे चला जाता है, अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे लीन-सा हो जाता है। यह स्वरूपलीनता एक प्रकार की विचारातीत अवस्था-सी है, परन्तु इसे सर्वथा विचार-शून्य अवस्था भी नही कह सकते। वह तो ध्यान की अन्तिम अवस्था है, जिसमे मन का समूल विलय हो जाता है। लय और विलय मे वहुत अन्तर है। लय अवस्था मे मन अपना अस्तित्व रखते हुए किसी एक चिन्तन मे एकाकार होता है और विलय अवस्था मे उसका सर्वथा अवरोध हो जाता है, वह गतिशून्य हो जाता है। अस्तु यह चर्चा वहुत सूक्ष्म है। जिज्ञासुओ के लिए अभी इतना ही काफी है कि उन्हे मन को लय अर्थात् एकाग्र करने की साधना करनी है और उसका श्रेष्ठ साधन रूपातीत ध्यान है।

भावातीत ध्यान

वर्तमान मे कुछ योगसाधको व चिन्तको ने ध्यान के निर्विकल्प रूप पर अधिक वल दिया है। वे मन को चिन्तन-शून्य स्थिति मे ले जाना चाहते हैं। उनके विचार मे "मन को इधर-उधर से रोककर किसी विषय पर स्थिर करने का मतलव है, मन की पकड को मजवूत वनाए रखना, उसे शिथिल न होने देना। इससे कभी-कभी मन के साथ सघर्प भी होता है। मन को रोकना एक हठ है और हठ में सघर्प एव तनाव की सम्भावना रहती है, अत मन को विल्कुल उन्मुक्त कर देना चाहिए। वह जैसा भी अच्छा-वुरा विकल्प करे, करने देना चाहिए, जहाँ भी वह दोडे-दौड़ने देना चाहिए। आखिर वह कव तक दौडेगा? अपने आप थक कर धीरे-धीरे शान्त हो जाएगा और फिर अन्तत· वह क्षण आएगा, जवकि वह विचार मे निर्विचार की ओर स्वत ही वढ जायेगा।" यह है एक प्रक्रिया, जिसे वर्तमान के ध्यानसाधको ने विशेप महत्त्व दिया है। उनका कहना है कि "मन पर भार या दवाव मत डालो। मन को तप, जप, त्याग, सयम, यम-नियम आदि मे लगाए रखने की कोई अपेक्षा नही। उसे अपने अनन्त स्वरूप मे जाने दो, लय होने दो। वह स्वत· ही

निर्विषय, विचारातीत एव भावातीत होकर शून्य मे लीन हो जायेगा और तब एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति स्फुरित होगी, जो अब तक अनुभव नही की गई है।"

जैन योग के 'रूपातीत' ध्यान का कुछ स्वरूप भावातीत ध्यान के साथ मेल खाता है, किन्तु मन को विचार शून्य करने की प्रक्रिया का जहाँ सवाल है, वहाँ अब तक के साधको की भाषा मे कोई बुद्धिगम्य प्रक्रिया प्रस्तुत नही की गई है, जिसे सर्व साधारण की बुद्धि मे उतारा जा सके। इसलिए वे ध्यान का प्रयोजन और फलश्रुति बताने मे जितने सफल हुए है, उतने प्रक्रिया समझाने मे नही, और यही कारण है कि स्पष्टता के लिए अधिक चर्चा करने पर कभी-कभी वे इस प्रक्रिया को अनिर्वचनीय भी कह देते है।

मेरा अनुभव है कि भावातीत ध्यान की निर्विकल्प प्रक्रिया अवश्य है, और उसमे अपूर्व आनन्दानुभूति भी जग सकती है, किंतु प्राथमिक साधक के लिए इससे अधिक लाभ की संभावना नही है। उक्त अभावात्मक शब्दो से कभी-कभी साधक उलझन मे पड जाता है। ठीक तरह कुछ समझ नही पाता है। अत प्रारम्भिक भूमिका मे साधक को क्रमश ही आगे बढना चाहिए। पहले सदाचार, सयम आदि की सरल एवं सहज साधना द्वारा मन को विशुद्ध करना चाहिए, फिर ध्यान की प्रक्रिया के द्वारा एकाग्र। झरने का बहता विशुद्ध जल तलैया के स्थिर, किन्तु गदे जल से अधिक उपादेय है, इस बात को भूल नही जाना है। जैन साधना-पद्धति इसीलिए ध्यान को समत्व-योग अर्थात् सामायिक के साथ जोडकर चलती है। इस प्रक्रिया मे पहले मन का शोधन किया जाता है और पश्चात् स्थिरीकरण। वस्तुत शुद्ध मन की एकाग्रता ही ध्यान कहलाती है। आचार्य बुद्धघोष के शब्दो मे—'कुसलचित्तएकग्गता समाधि'[1] पवित्र (कुशल) चित्त का एकाग्र होना ही समाधि है। इसी दृष्टि से हमने सामायिक साधना मे ध्यान प्रक्रिया के कुछ रूप पाठको के समक्ष प्रस्तुत किये है। ००

——००——

---

१ विसुद्धिमग्गो ३।३

२६ ‖ लोगस्स का ध्यान

सामायिक लेने से पहले जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह आत्म-विशुद्धि के लिए होता है। प्रश्न है कि कायोत्सर्ग मे क्या पढना चाहिए ? किस पाठ का चिन्तन करना चाहिए ? इस सम्बन्ध मे आजकल दो परपराएँ चल रही है, एक परपरा कायोत्सर्ग मे 'ईर्या-पथिक' सूत्र का ध्यान करने की पक्षपातिनी है, तो दूसरी परपरा 'लोगस्स' के ध्यान की। ईर्या-पथिक के ध्यान के सम्बन्ध मे प्रश्न यह है कि जव एक वार ध्यान करने से पहले ही ईर्या-पथिक सूत्र पढ लिया गया, तव फिर उसे दुवारा ध्यान मे पढने की क्या आवश्य-कता है ?

यदि कहा जाय कि यह आलोचना-सूत्र है, अत गमनागमन की क्रिया का ध्यान मे चिन्तन आवश्यक है, तो इसके लिए निवेदन है कि तव तो पहले ध्यान में ईर्या-पथिक का पाठ पढना चाहिए और फिर वाद में खुले स्वर से। अतिचारो के चिन्तन मे हम देखते हैं कि पहले ध्यान मे चिन्तन होता है और फिर वाद मे खुले रूप से 'मिच्छामि दुक्कड' दिया जाता है। ध्यान मे 'मिच्छामि दुक्कड देने की न तो परपरा ही है और न औचित्य ही। जव पहले ही खुले रूप में 'ईरियावहो' पढकर 'मिच्छामि दुक्कड' दे दिया है तो वाद मे पुन उसे ध्यान मे पढने से क्या लाभ ? और यदि पढ भी लो, तो फिर उसका 'मिच्छामि दुक्कड' कहाँ देते हो ? ध्यान तो चिंतन के लिए ही है, 'मिच्छामि दुक्कड' के लिए नही। अत लोगस्स के चिंतनका पक्ष ही अधिक सगत प्रतीत होता है।

ध्यान की प्राचीन परपरा

✲

लोगस्स के ध्यान के लिए भी एक वात विचारणीय है, वह यह कि आजकल ध्यान मे सम्पूर्ण 'लोगस्स' पढा जाता है, जब कि हमारी प्राचीन परपरा इसकी साक्षी नही देती। प्राचीन परपरा यह है है कि ध्यान मे 'लोगस्स' का पाठ 'चदेसु निम्मलयरा' तक ही पढना चाहिए। हाँ, वाद मे खुले रूप से पढते समय सम्पूर्ण पढना जरूर आवश्यक है।

प्रतिक्रमण-सूत्र के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य तिलक लिखते है—

"कायोत्सर्गे च चन्देसु निम्मलयरेत्यन्तश्चतुर्विंशतिस्तवश्चिन्त्य.। पारिते च समस्तो भरिणतव्य·।"

—प्रतिक्रमणसूत्र-वृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र जैन-समाज के एक प्रसिद्ध साहित्यकार एव महान् ज्योतिर्धर आचार्य हुए हैं। आपने योग-विपय पर सुप्रसिद्ध योग-शास्त्र नामक ग्रन्थ लिखा है। उसकी स्वोपज्ञवृत्ति मे लोगस्स के ध्यान के सम्वन्ध मे आप लिखते हैं—

"पञ्चविंशत्युच्छ्वासाश्च चतुर्विंशतिस्तवेन चन्देसु निम्मलयरा इत्यन्तेन चिन्तितेन पूर्यन्ते। ⁻ सम्पूर्णकायोत्सर्गश्च 'नमो अरिहताण' इति नमस्कार-पूर्वक पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तव सम्पूर्ण पठति"

—योग० ३।१२४ स्वोपज्ञवृत्ति

यह तो हुई प्राचीन प्रमाणो की चर्चा। अव जरा युक्तिवाद पर भी विचार कर लें। कायोत्सर्ग अन्तर्जगत् की वस्तु है। बाह्य इन्द्रि-यो का व्यापार हटाकर केवल मानस-लोक मे ही प्रवृत्ति करना इसका उद्देश्य है। अत कायोत्सर्ग एक प्रकार की आध्यात्मिक निद्रा है। निद्रा-जगत् का प्रतिनिधि चन्द्र है, सूर्य नही। सूर्य वाह्य प्रवृत्ति का, हलचल का प्रतीक है। इस दृष्टि से कायोत्सर्ग मे 'चदेसु निम्मलयरा' तक का पाठ ही अधिक उपयुक्त है। यह अध्यात्मिक लीनता एव स्व-च्छता का सूचक है।

'लोगस्स' के ध्यान के सम्वन्ध मे एक वात और स्पष्ट करना आवश्यक है। आजकल लोगस्स पढा तो जाता है, परन्तु वह सरसता

नही रही, जो पहले थी। इसका कारण बिना लक्ष्य के यो ही अस्त-व्यस्त दशा मे 'लोगस्स' का पाठ कर लेना है। आचार्य हरिभद्र आदि प्राचीन आचार्यो ने कायोत्सर्ग में 'लोगस्स' का ध्यान करते हुए श्वासोच्छ्वास की ओर लक्ष्य रखने का विधान किया है। उनका कहना है कि "लोगस्स का एकेक पद एकेक श्वास मे पढना चाहिए। एक ही श्वास मे कई पद पढ लेना, कथमपि उचित नही है। यह ध्यान नही, बेगार काटना है। यह दीर्घ श्वास प्राणायाम का एक महत्त्वपूर्ण अग है। और, प्राणायाम योगसाधना का, मन को निग्रह करने का बहुत अच्छा साधन है।" हाँ, तो इस प्रकार नियम-बद्ध दीर्घ श्वास से ध्यान किया जायगा, तो प्राणायाम का अभ्यास होगा, शब्द के साथ अर्थ की त्वरित विचारणा का भी लाभ होगा। जीवन की पवित्रता केवल शब्द मात्र की आवृत्ति से नही होती है, वह तो शब्द के साथ अर्थ–भावना की गम्भीरता में उतरने से ही प्राप्त हो सकती है। पाठक जलदबाजी और आलस्य को छोडकर श्वास-गणना के नियमानुसार, यदि अर्थ का मनन करते हुए, प्रभु के चरणो मे भक्ति का प्रवाह बहाते हुए, एकाग्रचित्त से 'लोगस्स' का ध्यान करेंगे, तो वे अवश्य ही भगवत्स्तुति में आनन्द-विभोर होकर अपने जीवन को पवित्र बनाएँगे। यदि इतना लक्ष्य न हो सके, तो जैसा अब पढा जा रहा है, वह परम्परा ही ठीक है। परन्तु, शीघ्रता न करके धीरे-धीरे अर्थ की विचारणा अवश्य अपेक्षित है। * *

——oo——

२७ ‖ उपसंहार

सामायिक के मूल पाठो पर विवेचन करने के वाद मेरे हृदय मे एक विचार उठा कि "आज की जनता में सामायिक के सम्वन्ध मे वहुत ही कम जानकारी है, अत प्रस्तावना के रूप मे एक साधारण सा पुरोवचन लिखना अच्छा होगा।" अस्तु, पुरोवचन लिखने वैठ गया और मूल आगमो, टीकाओ, स्वतन्त्र ग्रन्थो एव इधर-उधर की पुस्तको से जो सामग्री मिलती गई, लिखता चला गया। फलस्वरूप पुरोवचन आशा से कुछ अधिक लम्वा हो गया, फिर भी सामायिक के सम्वन्ध में कुछ अधिक प्रकाश नही डाल सका। जैन-साहित्य में सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशाङ्गी का मूल माना गया है, और इस पर पूर्वाचार्यो ने इतना अधिक लिखा है कि जिसकी कोई सीमा नही वाँधी जा सकती। फिर भी, 'यावद् बुद्धिबलोदयम्' जो कुछ सग्रह कर पाया हूँ, सन्तोपी पाठक उसी पर से सामायिक की महत्ता की झाँकी देखने की कृपा करे।

साधना से आनन्द

*

अव पुरोवचन (सामायिक-प्रवचन) का उपसहार चल रहा है, अत प्रेमी पाठको को लम्वी वातो मे न ले जाते हुए, सक्षेप मे, एक-दो वातो की ओर ही लक्ष्य कराना है। हमारा काम आप के समक्ष आदर्श रख देने भर का है, उस पर चलना या न चलना आप के अपने सकल्पो के ऊपर है—"प्रवृत्तिसारा खलु मादृशा गिर.।"[1]

---

१. किरातार्जुनीय १।२५

किसी भी वस्तु की महत्ता का पूरा परिचय, उसे आचरण में लाने से ही हो सकता है। पुस्तकें तो केवल आपको साधारण-सी झाकी ही दिखा सकती हैं। अस्तु, सामायिक की महत्ता आपको सामायिक करने पर ही मालूम हो सकती है। मिश्री की डली हाथ मे रखने-भर से मधुरता नही दे सकती, हा, मुँह मे डालिये, आप आनन्द-विभोर हो जायेंगे। यह आचरण का शास्त्र है। आचार-हीन को कोई भी शास्त्र आध्यात्मिक तेज अर्पण नही कर सकता। अत आपका कर्त्तव्य है कि प्रतिदिन सामायिक करने का अभ्यास करें। अभ्यास करते समय पुस्तक मे बताए गये नियमो की ओर लक्ष्य देते रहे। प्रारम्भ मे भले ही आप कुछ आनन्द न प्राप्त कर सकें, परन्तु ज्यो ही दृढता के साथ प्रतिदिन का अभ्यास चालू रखेंगे, तो अवश्य आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रगति कर सकेंगे। सामायिक कोई साधारण धार्मिक क्रियाकाण्ड नही है, यह एक उच्चकोटि की धर्म-साधना है। अत सुन्दर पद्धति से किया गया हमारा सामायिक धर्म, हमे सारा दिन काम आ सके, इतना मानसिक बल और शान्ति देने वाला, एक महान् शक्तिशाली अखण्ड झरना है।

सामायिक सौदेबाजी नहीं है

*

आजकल एक नास्तिकता फैल रही है कि सामायिक क्यो करें? सामायिक से क्या लाभ? प्रतिदिन दो घडी का समय खर्च करने के बदले मे हमे क्या मिलता है? आप इन कल्पनाओ से अलग रहिये। अध्यात्मिक क्षेत्र के लिए यह वणिक् वृत्ति बडी ही घातक है। एक रुपये के बदले मे एक रुपये की चीज लेने के लिये झगडना, बाजार मे तो ठीक हो सकता है, धर्म मे नही। यह मजदूरी नही है। यह तो मानव जीवन के उत्थान की सर्व श्रेष्ठ साधना है। यहाँ सौदेबाजी नहीं, प्रत्युत जीवन को साधना के प्रति सर्वतोभावेन समर्पण करना है। प्रस्तुत साधना का यही मुख्य उद्देश्य है। भले ही कुछ देर के लिए आपको स्थूल एव दृष्ट लाभ न प्राप्त हो सके, परन्तु सूक्ष्म एव अदृष्ट लाभ तो इतना बडा होता है कि जिसकी कोई उपमा नही।

यदि कोई हठाग्रही यह कहे कि "निद्रा मे जो छह-सात घटे चले जाते है, उसमे कोई स्थूल द्रव्य की प्राप्ति तो नही होती, अत मैं निद्रा ही न लूगा"—तो, उस मूर्ख का क्या हाल होगा? सर्व नाश!

पांच-सात दिन मे ही शरीर की हड्डी-हड्डी दुखने लगेगी, दर्द से सिर फटने लगेगा, स्फूर्ति लुप्त हो जायेगी, मृत्यु खडी सामने नाचने लगेगी। तव पता चलेगा कि जीवन मे निद्रा की कितनी आवश्यकता है? निद्रा से स्वास्थ्य अच्छा रहता है, कठिन-से-कठिन कार्य करने के लिये साहस एव स्फूर्ति प्राप्त होती है, शरीर और मन मे उदग्र नव-जीवन का संचार हो जाता है। निद्रा मे ऐसी क्या शक्ति है? इसके उत्तर मे निवेदन है कि मन का व्यापार वद होने से ही निद्रा आती है। जव तक मन चचल रहता है, जव तक कोई चिन्ता या शोक मन में चक्कर काटता रहता है, तव तक मनुष्य निद्रा का आनन्द नही ले सकता। चित्त वृत्तियो की स्तब्धता ही—इधर उधर के विकल्पो की लहरो का अभाव ही—श्रेष्ठ निद्रा है, सुषुप्ति है।

सामायिक : योगनिद्रा

आप कहेगे, सामायिक के प्रसग में निद्रा की क्या चर्चा? मैं कहूगा—सामायिक भी एक प्रकार की योग-निद्रा है, आध्यात्मिक सुषुप्ति है, चित्त-वृत्तियो के निरोध की साधना है। सामान्य निद्रा और योग-निद्रा मे इतना ही अन्तर है कि निद्रा अज्ञान एव प्रमाद-मूलक होती है, जवकि सामायिक-रूप योगनिद्रा ज्ञान एव जागृति-मूलक है। सामायिक मे चचल मन की ज्ञान-मूलक स्थिरता होती है, अत इससे आध्यात्मिक जीवन के लिए वहुत कुछ उत्साह, वल, दीप्ति एव प्रस्फूर्ति की प्राप्ति होती है। सामायिक से क्या लाभ है? इस प्रश्न को उठाने वाले सज्जन इस दिशा मे विशेष चिन्तन का प्रयत्न करें।

धैर्यपूर्वक चलते रहिए

प्रश्न हो सकता है—चित्त-वृत्तिका निरोध हो जाने पर अर्थात् एक लक्ष्य पर मन को स्थिर कर लेने पर तो यह आनन्द मिल सकता है। परन्तु जव तक मन स्थिर न हो, चित्त-वृत्ति शात न हो, तव तक तो इससे कोई लाभ नही? उत्तर है—विना साधन के साध्य की प्राप्ति नही हो सकती। विना श्रम के, विना प्रयत्न के कभी कुछ

मिला है आज तक किसी साधक को ? प्रसिद्ध ब्राह्मणकार महीदास ने अपने ऐतरेय ब्राह्मण (३२।३) मे कहा है—

'चरैवेति चरैवेति'—चले चलो, चले चलो !

साधना के मार्ग मे पहले दृढता से चलना होता है, फिर साध्य की प्राप्ति का आनन्द उठाया जाता है। आजकल यह वृत्ति बडी भयकर चल रही है कि "हल्दी लगे न फिटकरी, रग चोखा ही चोखा।" करना कराना कुछ न पडे, और कार्य-सिद्धि हमारे चरणो मे सादर उपस्थित हो जाय !

कल्पना कीजिये, आप के सामने एक सुन्दर आम का वृक्ष है। उस पर पके हुए रसदार फल लगे हुए है। आपकी इच्छा है, आम खाने की। परन्तु, आप अपने स्थान से न उठें, आम तक न पहुचें, न ऊपर चढे, न फल तोडें, न चूसें और चाहे यह कि आम का मधुर रस चख लें। क्या ऐसा हो सकता है कभी ? कदापि नही। आम खाने तक जितने व्यापार हैं, यह ठीक है कि उनमे आनन्द नही है। परन्तु इसी पर कोई कहे कि वृक्ष तक पहुचने तक में आम का स्वाद नही मिलता, अत मैं नही जाऊँगा, नही चढूगा, नही फल तोडूँगा, तो बताइए उसे क्या कहा जाय ? यही बात सामायिक से पहले तर्क उठाने वालो की भी है। उनका समाधान नही हो सकता। सामायिक एक साधना है, पहले-पहल सम्भव है, आनन्द न आए ! परन्तु, ज्यो ही आगे बढेगे, आध्यात्मिक क्षेत्र मे प्रगति करेंगे, आपको उत्तरोत्तर अधिकाधिक आनन्द प्राप्त होता जायेगा। तट पर न बैठे रहिए ! समुद्र में गहरीं डुबकी लगाइए ! अपार रत्नराशि आपको मालामाल कर देगी !

सामायिक का महत्व समझिए

*

एक बात और भी है, जिस पर लक्ष्य देना आवश्यक है। सामायिक एक पवित्र धार्मिक अनुष्ठान है, अत सामायिक-सम्बन्धी दो घडी का अनमोल काल व्यर्थ ही आलस्य, प्रमाद, अशुभ एव निन्द्य प्रवृत्तियो में नही बिताना चाहिए। आजकल सामायिक तो की जाती है, किन्तु उसकी महनीय मर्यादा का पालन नही किया जाता। बहुत बार देखा गया है कि लोग सामायिक मे दुनियादारी की अटसट बातें करने लग जाते है, आपस में गमागरम बहस करते हुए झगड़ने लगते हैं,

गन्दी एव कुत्सित विकारोत्तेजक पुस्तकें पढते हैं, हँसी-मजाक करते है, सोने लगते है, आदि आदि। उनकी दृष्टि मे जैसे-तैसे दो घड़ी का समय गुजार देना ही सामायिक है। यही हमारी अज्ञानता है, जो आज सामायिक के महान् आदर्श को पाकर भी हम उन्नत नहीं हो पाते, आध्यात्मिक उच्च भूमिका पर पहुच नही पाते।

हा तो सामायिक मे हमे वडी सावधानी के साथ अन्तर्जगत् में प्रवेश करना चाहिए। वाह्य जीवन की ओर अभिमुख रहने से सामायिक की विधि का पूर्णरूपेण पालन नही हो सकता। अस्तु, सामायिक मे भगवान-तीर्थ कर देव की स्तुति भक्तामर आदि स्तोत्रो के द्वारा करनी चाहिए, ताकि आत्मा मे श्रद्धा का अपूर्व तेज प्रकट हो सके। महापुरुषो के जीवन की झाँकियो का विचार करना चाहिए, ताकि मन की आखो के समक्ष आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो सके। पवित्र धर्म-पुस्तको का अध्ययन-चिन्तन, मनन एव नवकार-मत्र का जप करना चाहिए, ताकि हमारी अज्ञानता और अश्रद्धा का अन्धकार दूर हो। यदि इस प्रकार सामायिक का पवित्र समय विताया जाये, तो अवश्य ही आत्मा निश्रेयस् प्राप्त कर सकेगी, परमात्मा भाव के पवित्र पद पर पहुच सकेगी।

००

सा
मा
यि
क
सू
त्र

१ ॥ नमस्कार—सूत्र

नमो अरिहंताणं,
नमो सिद्धाणं,
नमो आयरियाणं,
नमो उवज्झायाणं,
नमो लोए सव्वसाहूणं ।

एसो पंच-नमोक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो ।
मंगलाण च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

शब्दार्थ

नमो=नमस्कार हो
अरिहताण— अरिहन्तो को
नमो =नमस्कार हो
सिद्धाण =सिद्धो को
नमो=नमस्कार हो
आयरियाण=आचार्यो को
नमो=नमस्कार हो
उवज्झायाण=उपाध्यायो को
नमो=नमस्कार हो
लोए=लोक मे
सव्व=सर्व
साहूण=साधुओ को
एसो=यह
पच=पाचो को किया हुआ
नमोक्कारो=नमस्कार
सव्वपाव=सब पापो को
प्पणासणो=विनष्ट करनेवाला है
च=और
सव्वेसि=सब
मगलाणं=मंगलो मे

पढमं=मुख्य हवइ=है
मंगलं=मगल

भावार्थ

अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक मे—समग्र मानवक्षेत्र मे वर्तमान समस्त साधु-साध्वियो को—अर्थात् धर्म-साधको को मेरा नमस्कार हो।

उक्त पाच परमेष्ठी महान् आत्माओ को किया हुआ यह नमस्कार, सब प्रकार के पापो को पूर्णतया नाश करनेवाला है और विश्व के सब मगलो मे प्रथम—प्रधान मगल है।

विवेचन

मानव-जीवन मे नमस्कार को बहुत ऊचा स्थान प्राप्त है। मनुष्य के हृदय की कोमलता, सरसता, गुण-ग्राहकता एव भावुकता का पता तभी लगता है, जबकि वह अपने से श्रेष्ठ एव पवित्र महान् आत्माओ को भक्ति-भाव से गद्गद् होकर नमस्कार करता है, गुणो के समक्ष अपनी अहता का त्याग कर गुणी के चरणो मे अपने-आपको सर्वतो-भावेन अर्पण कर देता है।

नमस्कार का अर्थ

*

नमस्कार, नम्रता एव गुण-ग्राहकता का विशुद्ध प्रतीक है। नमस्कार की व्याख्या करते हुए वैयाकरण कहा करते हैं—

'मत्तस्त्वमुत्कृष्टस्त्वत्तोऽहमपकृष्ट., एतदद्वय बोधनानुकूल व्यापारो हि नमः शब्दार्थ.।"

उक्त वाक्य का भावार्थ यह है कि नमस्कार शब्द से यह अर्थ ध्वनित होता है—मेरे से आप उत्कृष्ट हैं, गुणो मे बडे हैं और मैं आपसे अपकृष्ट हूँ, गुणो मे हीन हूँ।

एक बात ध्यान मे रहे, यहाँ हीनता और महत्ता स्वामी सेवक-जैसी नही है। जैन-धर्म मे इस प्रकार की दास मनोवृत्ति वाले निम्न श्रेणी के सम्बन्धो का स्वप्न मे भी कही स्थान नही है। यहाँ हीनता और महत्ताका

सम्वन्ध वैसा ही पवित्र एव गुणात्मक है जैसा कि पिता और पुत्र का होता है, गुरु और शिष्य का होता है। उपासक और उपास्य दोनो के वीच मे भक्ति और प्रेम का साम्राज्य है। आदर्श रूप मे पवित्र सस्कार ग्रहण करने की भावना से ही उपासक अपने अभीष्ट उपास्य के अभिमुख होता है। इसमे विवशता या लाचारी—जैसा भाव आस-पास कही भी नही है।

प्रमोद भावना

*

शास्त्रीय परिभाषा मे नमस्कार एक प्रमोद-भावना है। अपने से अधिक सद्गुणी, तेजस्वी, एव विकसित आत्माओ को देख कर अथवा सुन कर प्रेम से गद्गद होजाना, उनके प्रति वहुमान एव सम्मान प्रदर्शित करना, प्रमोद-भावना है।

प्रमोद-भावना का अभ्यास करने से सद्गुणो की प्राप्ति होती है। ईर्ष्या, डाह और मत्सर आदि दुर्गुणो का समूल नाश हो जाता है, फलत. साधक का हृदय विशाल, उदार, एव उदात्त हो जाता है। हजारो-लाखों सज्जन, पूर्व काल मे इसी प्रमोद-भावना के वल से ही अपने जीवन का कल्याण कर गए हैं।

नमस्कार से लाभ

*

आज तर्क का युग है। प्रश्न किया जाता है कि महान् आत्माओ को केवल नमस्कार करने और उनका नाम लेने से क्या लाभ है? अरिहन्त आदि क्या कर सकते हैं?

प्रश्न सुन्दर है, समाधान चाहता है, अत उत्तर पर विचार करना चाहिए। हम कव कहते हैं कि अरिहन्त, सिद्ध आदि वीतराग हमारे लिए कुछ करते है? उनका हमारे उत्थान या पतन से कोई सीधा सम्वन्ध नही है। जो कुछ भी करना है हमे ही करना है। परन्तु, आलम्वन की तो आवश्यकता होती है। पाच पद हमारे लिये आलम्वन हैं, आदर्श हैं, लक्ष्य हैं। उन तक पहुचना, उन जैसी अपनी आत्मा को भी विकसित करना, हमारा अपना आध्यात्मिक ध्येय है। कर्तृत्व का अर्थ स्थूल दृष्टि से केवल हाथ-पैर मारना ही नही है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे निमित्तमात्र से ही कर्तृत्व आ जाता है। और, इस अश में जैन-धर्म का दूसरे कर्तृत्व-वादियो से समझौता होजाता है। परन्तु, जहाँ कर्तृत्व

का अर्थ स्थूल सहायता, उद्धार एव अलौकिक चमत्कार-लीला आदि लिया जाता है, वहाँ जैन-धर्म को अपना पृथक् स्वतत्र मार्ग चुनना होता है ।

अरिहन्त आदि महापुरुषो का नाम लेने से पाप-मल उसी प्रकार दूर हो जाते है, जिस प्रकार प्रात काल सूर्य के उदय होने पर चोर भागने लगते हैं। सूर्य ने चोरो को लाठी मार कर नही भगाया, किन्तु उसके निमित्तमात्र से ही चोरो का पलायन हो गया। सूर्य कमल को विकसित करने के लिए कमल के पास नही आता, किन्तु उसके गगन मडल मे उदय होते ही कमल स्वय खिल उठते है। कमलो के विकास मे सूर्य निमित्त कारण है, साक्षात्कर्ता नही। इसी प्रकार अरिहन्त आदि महान् आत्माओ का नाम भी ससारी आत्माओ के उत्थान मे निमित्त कारण वनता है। सत्पुरुषो का नाम लेने से विचार पवित्र होते है। विचार पवित्र होने से असत्सकल्प नही हो पाते है। आत्मा मे वल, साहस, शक्ति का सचार होता है, स्वस्वरूप का भान होता है। और तव कर्मवन्धन उसी तरह नष्ट हो जाते है, जिस तरह लका मे ब्रह्मपाश मे वधे हुए हनुमान के दृढ वन्धन छिन्न-भिन्न हो गए थे। कव ? जवकि उसे यह भान हुआ कि मैं हनुमान हूँ, मैं इन्हे तोड सकता हूँ।

गुण-पूजा

जैन-धर्म की जितनी भी शाखाएं हैं, उनमे चाहे कितना ही विस्तृत भेद क्यो न हो, परन्तु प्रस्तुत नमस्कार-मत्र के सम्वन्ध मे सव-के-सव एकमत हैं। यह वह केन्द्र है, जहा हम सव दूर-दूर के यात्री एकत्र हो जाते हैं। इसमे मानव-जीवन की महान् और उच्च भूमिकाओ को वन्दन करके गुण-पूजा का महत्व प्रकट किया गया है। आप देखेंगे कि हमारे पड़ोसी सप्रदायो के मत्रो में व्यक्तिवाद का प्रावल्य है। वहाँ पर कही इन्द्र की स्तुति है तो कही विष्णु, शिव, ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य आदि की स्तुतियाँ हैं। परन्तु, नमस्कार-मत्र आपके समक्ष है, आपको इसमे किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नही मिलेगा। यहाँ तो गुणो के विकास से जो श्रेष्ठ हो गये हैं, उनको नमस्कार है, भले ही वे किसी भी जाति, वर्ण, देश, वेष या सप्रदाय से सम्वन्ध रखते हो। वाह्य जीवन की विशेषताओ का प्रश्न नही है, प्रश्न है आत्मा की आध्यात्मिक विशेषताओ का। अहिंसा, सत्य आदि आध्यात्मिक गुणो का विकास ही गुण-पूजा का कारण है।

पांच पद का अर्थ

*

महामत्र नमस्कार का सर्वप्रथम विश्वहितकर पद अरिहत का है। अरिहत का बहुप्रचलित एक अर्थ है—अन्त करण के काम, क्रोध, अहकार, लोभ आदि विकारो एव कर्म शत्रुओ पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले महान आत्मा ![1]

अरिहत शब्द का एक दूसरा अर्थ है—परम पूजनीय अर्थात् वदनीय आत्मा। पूजा के योग्य, अथवा मुक्ति गमन की क्षमता—योग्यता से पूर्ण आत्मा।[2]

एक व्युत्पत्ति के द्वारा यह भी बताया गया है कि जिस आत्मा के ज्ञानालोक मे विश्व के समस्त चर अचर पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, जिससे कुछ भी प्रच्छन्न—छिपा हुआ (रह×रहस्य) नही है,[3] वह महान् आत्मा अरिहत भगवान के पद पर प्रतिष्ठित होती है।

दूसरा पद सिद्ध का है। सिद्ध अर्थात्—पूर्ण। जो महान् आत्मा कर्म-मल से सर्वथा मुक्त हो कर, जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा पाकर, अजर अमर, सिद्ध बुद्ध, मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, वे सिद्ध पद से सम्बोधित होते है। सिद्ध हाने के लिये पहले अरिहन्त की भूमिका तय करनी होती है। अरिहत हुए विना सिद्ध नही बना जा सकता। लोक-भापा मे कहा जाए तो जीवन्मुक्त अरिहत होते है, और विदेह-मुक्त सिद्ध।[4]

---

१ अट्ठविह पि य कम्म, अरिभूय होइ सव्वजीवाण।
त कम्ममरिहता, अरिहता तेण वुच्चत्ति ॥
—आव० निर्युक्ति ९१४

२ (क) अरिहति वदण नमंसणाइ, अरिहति पूअ सक्कार।
सिद्धिगमण च अरिहा, अरहता तेण वुच्चति ॥
—आव० निर्युक्ति ९१५

(ख) पूजामर्हन्तीत्यर्हन्त —अनुयोग द्वार वृत्ति,
दशाश्रुत स्कधवृत्ति १

३ नास्ति रह प्रच्छन्न किञ्चिदपि येपा प्रत्यक्षज्ञानित्वात् तेऽरहन्त'।
—स्थानाग वृत्ति ३।४

४ दीहकाल रय ज तु, कम्मसे सिअमट्ठहा।
सिअ धत ति सिद्धस्स, सिद्धत्तमुवजायइ॥
—आव० निर्युक्ति ९१७

आचार्य का तीसरा पद है। जैन-धर्म मे आचरण का बहुत बडा महत्त्व है। पद-पद पर सदाचार के मार्ग पर सतर्कता से गतिशील रहना ही जैन-साधक की श्रेष्ठता का प्रमाण है। अस्तु, जो आचार का, सयम का स्वय पालन करते हैं, और संघ का नेतृत्व करते हुए दूसरो से पालन कराते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। जैन-आचार-परपरा के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाच मुख्य अग हैं। आचार्य को इन पाँचो महाव्रतो का प्राण-प्रण से स्वय पालन करना होता है, और दूसरे भव्य प्राणियो को भी, भूल होने पर, उचित प्रायश्चित्त आदि देकर, सत्पथ पर अग्रसर करना होता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-यह चतुर्विध सघ है, इसकी आध्यात्मिक-साधना के नेतृत्व का भार आचार्य पर होता है।[1]

चतुर्थ पद उपाध्याय का है। जीवन मे विवेक-विज्ञान की वडी आवश्यकता है। भेद-विज्ञान के द्वारा जड और चैतन्य के पृथक्करण का भान होने पर ही साधक अपना उच्च एव आदर्श जीवन वना सकता है। अत आध्यात्मिक विद्या के शिक्षण का कर्तृत्व उपाध्याय पर है। उपाध्याय मानव-जीवन की अन्त-ग्रन्थियो को वडी सूक्ष्म पद्धति से सुलझाते हैं, और अनादिकाल से अज्ञान अन्धकार मे भटकते हुये भव्य प्राणियो को विवेक का प्रकाश देते हैं। 'उप-समीपेऽधीयते यस्मात् इति उपाध्याय'।'

पचम पद साधु का है। साधु का अर्थ है—आत्मार्थ की साधना करने वाला साधक। प्रत्येक व्यक्ति सिद्धि की शोध मे है, परन्तु आत्मार्थ की सिद्धि की ओर किसी विरले ही महानुभाव का लक्ष्य जाता है। सासारिक वासनाओ को त्याग कर जो पाच इन्द्रियो को अपने वश मे रखते हैं, ब्रह्मचर्य की नव वाडो की रक्षा करते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ पर यथाशक्य विजय प्राप्त करते हैं, अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाच महाव्रत पालते हैं, पाच समिति और तीन गुप्तियो की सम्यक्तया आराधना करते हैं, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार,

---

१ पचविह आयार, आयरमाणस्स तहा पभासता।
आयार दसता, आयरिया तेण वुच्चति। —आव० नियुक्ति ९८८
मर्यादया चरन्तीत्याचार्या —आचाराग चूर्णि

तप आचार, वीर्याचार-इन पाच आचारो के पालन में दिन-रात सलग्न रहते है, जैन परिभाषा के अनुसार वे ही पुरुष या स्त्री, साधु कहलाते हैं। "साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधव.।"

व्यापक दृष्टि

*

यह साधु-पद मूल है। आचार्य, उपाध्याय और अरिहन्त—तीनो पद इसी साधु-पद के विकसित रूप है। साधुत्व के अभाव मे उक्त तीनो पदो की भूमिका पर कथमपि नही पहुँचा जा सकता।

पचम-पद में 'लोए' और 'सव्व' शब्द विशेप ध्यान देने योग्य है। जैन-धर्म का समभाव यहा पूर्णरूपेण परिस्फुट हो गया है। द्रव्य-साधुता के लिए भले ही साम्प्रदायिक दृष्टि से नियत किसी वेप आदि का वन्धन हो, परन्तु भाव-साधुता के लिए, अन्तरग की उज्ज्वलता के लिए तो किसी भी वाह्य रूप का प्रतिवन्ध नही है। भाव-साधुता अखिल ससार मे जहाँ भी, जिस किसी भी व्यक्ति मे अभिव्यक्त हो, वह जैन धर्म मे अभिवन्दनीय है। नमस्कार हो लोक में—ससार मे, जिस किसी भी रूप मे जो भी भाव साधु हो, उन सबको! कितना दीप्तिमान् महान् व्यापक आदर्श है!

देव और गुरु

*

पाचो पदो मे प्रारभ के दो पद देव-कोटि मे आते हैं, और अन्तिम तीन पद आचार्य, उपाध्याय, साधु गुरु-कोटि मे।

आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनो अभी साधक ही हैं, आत्मविकास की अपूर्ण अवस्था में ही हैं। अत अपने से निम्नश्रेणी के श्रावक आदि साधकों के पूज्य और उच्च श्रेणी के अरिहन्त आदि देवत्व भाव के पूजक होने से गुरु-तत्त्व की कोटि में है। परन्तु अरिहत और सिद्ध तो अन्तिम विकास पद पर पहुँच गए हैं, अत वे सिद्ध है, देव हैं। उनके जीवन मे जरा भी राग द्वेप आदिकी स्खलना का, प्रमाद का लेश नही रहा, अत उनका पतन नही हो सकता। अरिहन्त भी एक दृष्टि से सिद्ध—पूर्ण ही है। अनुयोगद्वार सूत्र में उन्हे सिद्ध कहा भी है। अन्तरात्मा की पवित्रता की दृष्टि से कोई अन्तर नही है। अन्तर केवल पूर्ववद्ध अघाति रूप प्रारब्ध कर्मो के भोग का है। अरिहन्तो को सुख दुख आदि प्रारब्ध कर्म का भोग शेप रहता है, जव कि सिद्धो को शरीर-रहित मुक्ति मिल जाने के कारण प्रारब्ध कर्म नही रहते।

चूलिका

चूलिका मे पाँचो पदो के नमस्कार की महिमा कथन की गई है। मूल नमस्कार-मत्र तो पाँच पद तक ही है, किन्तु यह चूलिका भी कुछ कम महत्व की नही है।

चूलिका में वताया गया है कि पाँच परमेष्ठी को नमस्कार करने से सव प्रकार के पापो का नाश हो जाता है। नाश ही नही, प्रणाश हो जाता है। प्रणाश का अर्थ है, पूर्ण रूप से नाश, सदा के लिए नाश! कितना उत्कृष्ट प्रयोजन है!

चूलिका में पहले पापो का नाश वतलाया है, और वाद मे मगल का उल्लेख किया है। पहले दो पदो मे हेतु का उल्लेख है, तो अन्तिम दो पदो मे कार्य का, फल का वर्णन है। जव आत्मा पाप-कालिमा से पूर्णतया साफ हो जाती है, तो फिर सर्वत्र सर्वदा आत्मा का मगल-ही-मगल है, कल्याण-ही-कल्याण है। नमस्कार-मत्र हमे पाप-नाशरूप अभावात्मक स्थिति पर ही नही पहुँचाता, प्रत्युत अपूर्व-मगल का विधान करके हमे पूर्ण भावात्मक स्थिति पर भी पहुँचाता है।

द्वैत-अद्वैत नमस्कार

आचार्य जयसेन नमस्कार पर विवेचन करते हुए, नमस्कार के दो भेद वतलाते हैं—एक द्वैत नमस्कार और दूसरा अद्वैत। जहाँ उपास्य और उपासक मे भेद की प्रतीति रहती है, मैं उपासना करने वाला हूँ और यह अरिहन्त आदि मेरे उपास्य हैं—यह द्वैत रहता है, वह द्वैत नमस्कार है। और जव कि राग-द्वेप के विकल्प नष्ट हो जाने पर चिद्भाव की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है कि आत्मा अपने-आपको ही अपना उपास्य अरिहन्त आदि रूप समझता है और उसे केवल स्व-स्वरूप का ही ध्यान रहता है, वह अद्वैत नमस्कार कहलाता है। दोनो मे अद्वैत नमस्कार ही श्रेष्ठ है। द्वैत नमस्कार, अद्वैत का साधन-मात्र है। पहले पहल साधक भेद-प्रधान साधना करता है, और वाद में ज्यो-ज्यो आगे प्रगति करता है, त्यो-त्यो अभेद-प्रधान साधक होता जाता है। पूर्ण अभेदसाधना अरिहन्त दशा मे प्राप्त होती है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे आचार्य जयसेन से कहा है

"अहमाराधक एते च अर्हदादय आराध्या, इत्याराध्याराधक-विकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते। रागाद्युपाधि-विकल्प-रहितपरमसमाधि-वलेनात्मन्येव आराध्याराधकभाव पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते।"

—प्रवचनसार १।५ तात्पर्य-वृत्ति

नमस्कार अपने आपको

*

अद्वैत नमस्कार की साधना के लिए साधक को निश्चय दृष्टि-प्रधान होना चाहिए। जैन-धर्म का परम लक्ष्य निश्चय दृष्टि ही है। हमारी विजय-यात्रा बीच मे ही कही टिक रहने के लिए नही है। हम तो धर्म-विजय के रूप मे एक-मात्र अपने आत्म-स्वरूप रूप चरम लक्ष्य पर पहुचना चाहते हैं। अत नवकार मन्त्र पढते हुए साधक को नवकार के पाच महान् पदो के साथ अपने-आपको सर्वथा अभिन्न अनुभव करना चाहिए। उसे विचार करना चाहिए—मैं मात्र आत्मा हूँ, कर्म-मल से अलिप्त हूँ। यह जो कुछ भी कर्म-बन्धन है, मेरी अज्ञानता के कारण ही है। यदि मैं अपने इस अज्ञान के परदे को, मोह के आवरण को दूर करता हुआ आगे बढूँ और अन्त मे इसे पूर्ण रूप से दूर कर दूँ, तो मैं भी क्रमश साधु हूँ, उपाध्याय हूँ, आचार्य हूँ, अरिहन्त हूँ और सिद्ध हूँ। मुझ मे और इनमे भेद ही क्या रहेगा? उस समय तो मेरा नमस्कार मुझे ही होगा न? और अब भी जो मैं यह नमस्कार कर रहा हूँ, वह गुलामी के रूप में किसी के आगे नही झुक रहा हूँ, प्रत्युत आत्मगुणो का ही आदर कर रहा हूँ, अत एक प्रकार से मैं अपने-आपको ही नमन कर रहा हूँ। जैन शास्त्रकार जिस प्रकार भगवती-सूत्र आदि में निश्चय-दृष्टि की प्रमुखता से आत्मा को ही सामायिक कहते हैं, उसी प्रकार आत्मा को ही पच परमेष्ठी भी कहते है। अत निश्चय नय से यह नमस्कार पाच पदो को न होकर अपने-आप को ही होता है। इस प्रकार निश्चय दृष्टि की उच्च भूमिका पर पहुँच कर जैन-धर्म का तत्त्व-चिन्तन, अपनी चरम-सीमा पर अवस्थित हो जाता है। अपनी आत्मा को नमस्कार करने की भावना के द्वारा अपने आत्मा की पूज्यता, उच्चता, पवित्रता और अन्ततोगत्वा परमात्मरूपता ध्वनित होती है। जैन-धर्म का गभीर घोष है कि 'अपनी आत्मा ही अपने भविष्य का निर्माता है, अखण्ड भाव-शान्ति का भण्डार है, और शुद्ध परमात्म-रूप है—"अप्पा सो परमप्पा"।

यह बाह्य नमस्कार आदि की भूमिका तो मात्र प्रारम्भ का मार्ग है। इसकी पूर्णता निश्चय भाव पर पहुँचने में ही है, अन्यत्र नही। यह जो-कुछ भी मैं कह रहा हूँ, केवल मेरी मति-कल्पना नही है। इस प्रकार के अद्वैत नमस्कार की भावना का अनुशीलन कुछ पूर्वाचार्यों ने भी किया है। एक आचार्य कहते हैं—

नमस्तुभ्य नमस्तुभ्य, नमस्तुभ्य नमोनम ।
नमो मह्य नमो मह्य, नमो मह्य नमोनम ।।

जैन ससार के सुप्रसिद्ध मर्मी सन श्री आनन्दघन जी भी एक जगह भगवत्स्तुति करते हुए वडी ही सुन्दर एव सरस भाव-तरंग में कह रहे हैं—

अहो अहो हूँ मुझने नमू, नमो मुझ नमो मुझ रे ।
अमित फलदान दातारनी, जेहने भेंट थई तुझ रे ।।

नमस्कारपूजा द्रव्य और भाव

नवकार-मत्र के पाँचो पदो मे सर्वत्र आदि मे वोला जाने वाला 'नमो' पद पूजार्थक है। इसका भाव यह है कि महापुरुषों को नमस्कार करना ही उनकी पूजा है। नमस्कार के द्वारा हम नमस्करणीय पवित्र आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धा, भक्ति और पूज्य भावना प्रकट करते हैं। यह नमस्कार-पूजा दो प्रकार से होती है—द्रव्य नमस्कार और भाव नमस्कार। द्रव्य नमस्कार का अभिप्राय है, हाथ-पैर और मस्तक आदि अंगो को एक वार हरकत मे लाकर महापुरुष की ओर झुका देना, स्थिर कर देना। और भाव नमस्कार का अभिप्राय है—अपने चचल मन को इधर-उधर के विकल्पो से हटाकर महापुरुप की ओर प्रणिधान-एकाग्र करना। नमस्कार करने वालो का कर्तव्य है कि वे दोनो ही प्रकार का नमस्कार करें। नम शब्द पूजार्थक है, इसके लिए धर्म-सग्रह का दूसरा अधिकार देखिए—

"नम इति नैपातिकं पद पूजार्थम्। पूजा च द्रव्यभाव-सकोच। तत्र करशिर पादादिद्रव्यसंन्यासो द्रव्यसकोच.। भावसकोचस्तु विशुद्धस्य मनसो योग।"

क्रम की सार्थकता

यद्यपि आध्यात्मिक पवित्रतारूप निष्कलकता की सर्वोत्कृष्ट दशा मे पहुँचे हुए पूर्ण विशुद्ध आत्मा केवल सिद्ध भगवान् ही है,

अत सर्वप्रथम उन्ही को नमस्कार की जानी चाहिए । परन्तु, सिद्ध भगवान् के स्वरूप को बतलाने वाले, और अज्ञान के सघन अधकार मे भटकने वाले मानव-ससार को सत्य की अखड ज्योति के दर्शन कराने वाले परमोपकारी श्री अरिहन्त भगवान् ही हैं, अत उनको ही सर्व-प्रथम नमस्कार किया गया है। यह व्यावहारिक दृष्टि की विशेषता है।

प्रश्न हो सकता है कि इस प्रकार तो सर्वप्रथम साधु को ही नमस्कार करना चाहिए। क्योकि आजकल हमारे लिए तो वही सत्य के उपदेष्टा है। उत्तर मे निवेदन है कि सर्वप्रथम सत्य का साक्षात्कार करने वाले और केवल ज्ञान के प्रकाश मे सत्यासत्य का पूर्ण विवेक परखने वाले तो श्री अरिहन्त भगवान् ही है। उन्होंने साक्षात् स्वानुभूत सत्य-का जो-कुछ प्रकाश किया, उसीको मुनि-महाराज जनता को बताते हैं। स्वय मुनि तो सत्य के सीधे साक्षात्कार करने वाले नही हैं। वे तो परम्परा से आने वाला सत्य ही जनता के समक्ष रख रहे है। अत. सत्य के पूर्ण अनुभवी मूल उपदेष्टा होने की दृष्टि से, गुरु से भी पहले अरिहन्तों को नमस्कार है।

सर्वश्रेष्ठ मंत्र

जैन-धर्म मे नवकार मंत्र से बढकर कोई भी दूसरा मत्र नही है। जैन-धर्म अध्यात्म-विचारधारा-प्रधान धर्म है, अतः उसका मन्त्र भी अध्यात्म-भावना प्रधान ही होना चाहिए था। और इस रूप मे नवकार मत्र है। नवकार मत्र के सम्बन्ध मे जैन-परम्परा की मान्यता है कि यह सम्पूर्ण जैन वाड्मय का अर्थात् चौदह पूर्व का सार है, निचोड है। चौदह पूर्व का सार इसलिए है कि इसमे समभाव की महत्ता का तटस्थ भाव से दिग्दर्शन कराया गया है। बिना किसी साम्प्रदायिक भेदभाव के, बिना किसी देश या जाति-गत विशेषता के गुण-पूजा का महत्त्व बताया गया है। जैन-धर्म की सस्कृति का प्रवाह समभाव को लक्ष्य मे रखकर प्रवाहित हुआ है, फलत· सम्पूर्ण जैन-साहित्य इसी भावना से ओत-प्रोत है। जैनसाहित्य का सर्वप्रथम मत्र नवकार मत्र भी उसी दिव्य समभाव का प्रमुख प्रतीक है। अत· यह समग्र जैन-दर्शन का सार है, परम निष्यन्द है। नवकार को मत्र क्यो कहते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो मनन करने से, चितन करने से दु खो से त्राण-रक्षा करता है, वह मत्र होता है—

"मत्रः परमो ज्ञेयो मनन त्राणे ह्यतो नियमात्"

मंत्र शव्द की यह व्युत्पत्ति नवकार मंत्र पर ठीक वैठती है। वीतराग महापुरुषो के प्रति अखण्ड श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करने से अपने-आपको हीन समझने रूप संशय का नाश होता है, सशय का नाश होने पर आत्मिक-शक्ति का विकास होता है, और आत्मिक-शक्ति का विकास होने पर समस्त दु खो का नाश स्वय सिद्ध है।

प्राचीन धर्म ग्रन्थो मे नवकार का दूसरा नाम परमेष्ठी मत्र भी है, जो महान् आत्माएँ परम अर्थात् उच्च स्वरूप में—समभाव में स्थिर रहती हैं, वे परमेष्ठी कहलाती है। आध्यात्मिक विकास के ऊँचे पद पर पहुँचे हुए जीव ही परमेष्ठी माने गए है। और जिसमे उन परमेष्ठी आत्माओ को नमस्कार किया हो, वह मत्र परमेष्ठी मत्र कहलाता है।

महामगल

*

जैन-परम्परा नवकार मत्र को महान् मगल रूप में वहुत वडा आदर का स्थान देती है। अनेक आचार्यों ने इस सम्वन्ध मे नवकार की महिमा का वर्णन किया है और नवकार की चूलिका मे भी कहा गया है कि नवकार ही सव मगलो मे प्रथम अर्थात् अनन्त आत्म-गुणो को अभिव्यक्त करने वाला सर्व-प्रधान मगल है—

"मंगलाणं च सव्वेसि पढम हवइ मगलं।"

हाँ, तो अव जरा मगल के ऊपर भी विचार कर लें कि वह प्रधान मगल किस प्रकार है? मगल के दो प्रकार है—एक द्रव्य मगल और दूसरा भाव मगल। द्रव्य मंगल को लौकिक मगल और भाव मगल को लोकोत्तर मंगल कहते हैं। दही और अक्षत आदि द्रव्य मगल माने जाते हैं। साधारण जनता इन्ही मगलो के व्यामोह मे फँसी पडी है। अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वास द्रव्य मगलो के कारण ही फैले हुए हैं। परन्तु, जैन धर्म द्रव्य मगल की महत्ता मे विश्वास नही रखता। क्योकि ये मगल, अमगल भी हो जाते है और सदा के लिए दु खरूप अमंगल का अन्त भी नही करते। अत द्रव्यमगल ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल नही है। दही और अक्षत (चावल) मगल माने जाते है। दही यदि ज्वर की दशा मे खाया जाय, तो क्या होगा? अक्षत यदि मस्तक पर न लग कर आख मे पड जाय, तो क्या होगा? अमगल ही होगा न? अस्तु, द्रव्य मगल का मोह

छोडकर सच्चे साधक को भाव मगल ही अपनाना चाहिए। नवकार मत्र भाव मगल है। यह अन्तर्जगत् से—भाव लोक से सम्बन्ध रखता है, अत भाव मगल है। यह भाव मगल सर्वथा और सर्वदा मगल ही रहता है, साधक को सब प्रकार के दु खो से बचाता है, कभी भी अमगल एव अहितकर नही होता। भाव मगल जप, तप, ज्ञान, दर्शन, स्तुति, चारित्र, नमस्कार, नियम आदि के रूप मे अनेक प्रकार का होता है। ये सब-के-सब भाव मगल, मोक्ष-रूप सिद्धि के साधक होने से ऐकान्तिक एव आत्यन्तिक मगल है। आचार्य जिनदास ने इसी दृष्टि से मगल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—(**मग-नारकादिषु पवडत सो लाति मंगलं। लति गेण्ह इति वुत्तं भवति-दश० चूर्णि १।१**) मग-अर्थात् नारक आदि दुर्गति, उस से जो रक्षा करे वह मगल है। नवकार मत्र जप तथा नमस्कार-रूप भाव मगल है। प्रत्येक शुभ कार्य करने से पहले नवकार मंत्र पढकर भाव मगल कर लेना चाहिए। यह सब मगलो का राजा है, अत ससार के अन्य सब मगल इसी के दासानुदास हैं। सच्चे जैन की नजरो मे दूसरे मगलो का क्या महत्त्व हो सकता है ?

नव पद

*

नवकार मत्र के नमस्कार मत्र, परमेष्ठी मत्र आदि कितने ही नाम हैं। परन्तु सबसे प्रसिद्ध नाम नवकार ही है। नवकार मत्र मे नव अर्थात् नौ पद हैं, अत इसे नवकार मत्र कहते है, पाँच पद तो मूल पदो के है और चार पद चूलिका के, इस प्रकार कुल नौ पद होते है। एक परम्परा, नौ पद दूसरे प्रकार से भी मानती है। वह इस प्रकार कि पाँच पद तो मूल के है और चार पद—**नमो नाणस्स**=ज्ञान को नमस्कार हो, **नमो दंसणस्स**=दर्शन को नमस्कार हो—**नमो चरित्तस्स**= चारित्र को नमस्कार हो, **नमो तवस्स**=तप को नमस्कार हो—ऊपर की चूलिका के हैं। इस परम्परा मे अरिहन्त आदि पाँच पद साधक तथा सिद्ध की भूमिका के है और अन्तिम चार पद साधना के सूचक हैं। ज्ञान आदि की साधना के द्वारा ही साधु आदि साधक, अध्यात्म-क्षेत्र मे प्रगति करते हुए प्रथम अरिहन्त बनते हैं और पश्चात् अजर, अमर सिद्ध हो जाते हैं। इस परम्परा मे ज्ञान आदि चार गुणो को नमस्कार

करके जैन-धर्म ने वस्तुत गुण-पूजा का महत्त्व प्रकट किया है। अतएव साधु आदि पदो का महत्त्व व्यक्ति की दृष्टि से नही, गुणो की दृष्टि से है। साधक की महत्ता ज्ञान आदि की साधना के द्वारा ही है, अन्यथा नही। और, जब ज्ञानादि की साधना पूर्ण हो जाती है, तब साधक अरिहन्त सिद्ध के रूप मे देव-कोटि मे आ जाता है। हाँ, तो दोनो ही परम्पराओ के द्वारा नौ पद होते है और इसी कारण प्रस्तुत मत्र का नाम नवकार मत्र है। नवकार मत्र के नौ पद ही क्यो हैं ? नव पद का क्या महत्त्व है ? इन प्रश्नों पर भी यदि कुछ थोडा-सा विचार कर ले, तो एक गम्भीर रहस्य स्पष्ट हो जाएगा।

नव का अंक सिद्धि का सूचक

✲

भारतीय साहित्य मे नौ का अक अक्षय सिद्धि का सूचक माना गया है। दूसरे अक अखड नही रहते, अपने स्वरूप से च्युत हो जाते हैं। परन्तु, नौ का अक हमेशा अखड, अक्षय बना रहता है। उदाहरण के लिए दूर न जाकर मात्र नौ के पहाड़े को ही ले ले। पाठक सावधानी के साथ नौ का पहाडा गिनते जाएँ, सर्वत्र नौ का ही अक शेप रूप मे उपलब्ध होगा—

९+९
१८=१+८=९
२७+२+७=९
३६=३+६=९
४५=४+५=९
५४=५+४=९
६३=६+३=९
७२=७+२=९
८१=८+१=९
९०=९+०=९

आपको समझ मे ठीक तौर से आ गया होगा कि आठ और एक नौ, सात और दो नौ, छ और तीन नौ, पाँच और चार नौ—इस प्रकार सब अको मे गुणाकार के द्वारा नौ का अक पूर्ण-तया अखण्ड

ही वच रहता है। गरिणत की यह साधारण-सी प्रक्रिया, नौ अक की अक्षय-स्वरूपता का सुन्दर परिचय दे देती है। नौ के अक की अक्षयता के और भी बहुत से उदाहरण हैं। विशेष जिज्ञासु, लेखक का 'महामत्र नवकार' अवलोकन करें। नवकार के नौ पदो से ध्वनित होने वाली अक्षय अक की ध्वनि सूचित करती है कि जिस प्रकार नौ का अक अक्षय है, अखडित है, उसी प्रकार नव-पदात्मक नवकार की साधना करने वाला साधक भी अक्षय, अजर अमर पद प्राप्त कर लेता है। नवकार मंत्र का साधक कभी क्षीण, हीन और दीन नही हो सकता। वह बराबर अभ्युदय और निश्रेयस् का प्रगतिशील यात्री रहता है।

नव आध्यात्मिक विकास का प्रतीक

*

नव-पदात्मक नवकार मत्र से आध्यात्मिक विकास-क्रम की भी सूचना होती है। नौ के पहाडे की गणना मे ९ का अक मूल है। तदनन्तर क्रमश १८, २७, ३६, ४५,५४, ६३, ७२, ८१ और ९० के अक हैं। इस पर से यह भाव ध्वनित होता है कि आत्मा के पूर्ण विशुद्ध—सिद्धत्व-रूप का प्रतीक ९ का अङ्क है, जो कभी खण्डित नही होता। आगे के अङ्को मे दो-दो अङ्क हैं। उनमे पहला अङ्क, शुद्धि का प्रतीक है, और दूसरा अशुद्धि का। समस्त ससार के अबोध प्राणी १८ अङ्क की दशा मे हैं उनमे विशुद्धि का एक के रूप मे छोटा-सा अश है, और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की अशुद्धि का अश आठ के रूप मे अधिक है। यहाँ से साधना का जीवन शुरू होता है। सम्यक्त्व आदि की थोडी-सी साधना के पश्चात् आत्मा को २७ के अंक का स्वरूप मिल जाता है। भाव यह है कि इधर शुद्धि के क्षेत्र मे एक अश और बढ जाता है, और उधर अशुद्धि के क्षेत्र मे एक अश कम होकर मात्र ७ अंश ही रह जाते हैं। आगे चल कर ज्यो-ज्यो साधना लम्बी होती जाती है त्यो-त्यो शुद्धि के अश बढ़ते जाते हैं, और अशुद्धि के अश कम होते जाते हैं। अन्त मे जब कि साधना पूर्ण रूप मे पहुचती है, तो शुद्धि का क्षेत्र पूर्ण हो जाता है और उधर अशुद्धि के लिए मात्र शून्य रह जाता है। संक्षेप मे, ९० का अक हमारे सामने यह आदर्श रखता है कि साधना के पूर्ण हो जाने पर साधक की आत्मा पूर्ण विशुद्ध हो जाती है, उसमे अशुद्धि का एक भी अश नही रहता। अशुद्धि के सर्वथा अभाव का

प्रतीक ६० के अर्क में ६ के आगे का ० शून्य है। हाँ तो, नमस्कार महामन्त्र की शुद्ध हृदय से साधना करने वाला साधक भी ६ के पहाड़े के समान विकसित होता हुआ अन्त में ६० के रूप में अर्थात् सिद्ध रूप में पहुँच जाता है, जहाँ आत्मा मे मात्र अपना निजी शुद्ध रूप ही शेप रह जाता है। कर्मों का अशुद्ध अश सदा काल के लिए पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

✿ ✿

२ || सम्यक्त्व-सूत्र

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीव सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण-पण्णत्तं तत्त, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥

शब्दार्थ

जावज्जीव=जीवन पर्यन्त
मह=मेरे
अरिहंतो=अरिहन्त भगवान्
देवो=देव हैं
सुसाहुणो=श्रेष्ठ साधु
गुरुणो=गुरु हैं

जिण-पण्णत्त =वीतराग देव का प्ररूपित तत्त्व ही
तत्त =तत्त्व है, धर्म है
इअ=यह
सम्मत्तं=सम्यक्त्व
मे=मैंने
गहिय=ग्रहण किया

भावार्थ

राग-द्वेष के जीतनेवाले जिन अर्थात श्री अरिहन्त भगवान् मेरे देव हैं, जीवनपर्यन्त संयम की साधना करने वाले सच्चे साधु मेरे गुरु है, श्री जिन भगवान का बताया हुआ अहिंसा, सत्य आदि धर्म ही मेरा धर्म है—यह देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा-स्वरूप सम्यक्त्व-व्रत मैंने यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया ।

विवेचन

यह सूत्र 'सम्यक्त्व-सूत्र' कहा जाता है। सम्यक्त्व, जैनत्व की वह प्रथम भूमिका है, जहाँ से भव्य प्राणी का जीवन अज्ञान अन्धकार मे से निकलकर सम्यक् आत्मबोध रूप ज्ञान के प्रकाश की ओर अग्रसर होता है। आगे चलकर श्रावक आदि की भूमिकाओ में जो कुछ भी त्याग-वैराग्य, जप-तप, नियम-व्रत आदि साधनाएँ की जाती है, उन सबकी बुनियाद सम्यक्त्व ही मानी गई है। यदि मूल में सम्यक्त्व नही है, तो अन्य सब तप आदि प्रमुख क्रियाएँ, केवल अज्ञान कष्ट ही मानी जाती है, धर्म नही। अत वे ससार-चक्र का घेरा बढाती ही हैं, घटाती नही।

सम्यग्दृष्टि की मुख्यता

सच्चा श्रावकत्व और साधुत्व पाने के लिए सब से पहली शर्त सम्यक्त्व-प्राप्ति की है। सम्यक्त्व के बिना होने वाला व्यावहारिक चारित्र, चाहे वह थोडा है या बहुत, वस्तुत कुछ है ही नही। बिना अक के लाखो, करोडो बिन्दियाँ केवल शून्य कहलाती है, गणित मे सम्मिलित नही हो सकती। और अक का आश्रय पाकर शून्य का मूल्य दश गुणा हो जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद चारित्र भी निश्चय मे परिणत होकर पूर्णतया उद्दीप्त हो उठता है।

चारित्र का पद तो बहुत दूर है, सम्यक्त्व के अभाव मे तो मनुष्य ज्ञानी होने का पद भी प्राप्त नही कर सकता। भले ही मनुष्य न्याय या दर्शन आदि शास्त्र के गभीर रहस्य जान ले, विज्ञान के क्षेत्र मे हजारो नवीन आविष्कारो की सृष्टि कर डाले, धर्म-शास्त्रो के गहन-से-गहन विषयो पर भाव-भरी टिप्पणियाँ भी लिख छोड़े, परन्तु सम्यक्त्व के बिना वह मात्र विद्वान् हो सकता है, ज्ञानी नही। विद्वान और ज्ञानी दोनो के दृष्टि-कोण मे बडा भारी अन्तर है। विद्वान् का दृष्टि-कोण संसाराभिमुख होता है, जबकि ज्ञानी का दृष्टि-कोण आत्माभिमुख। फलत मिथ्यादृष्टि विद्वान् अपने ज्ञान का उपयोग कदाग्रह के पोषण मे करता है, और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी सदाग्रह के पोषण मे। यह सदाग्रह का—सत्य की पूजा का निर्मल

दृष्टि-कोण बिना सम्यक्त्व के कदापि प्राप्त नही हो सकता। अतएव भगवान् महावीर ने अपने पावापुरी के अन्तिम धर्म-प्रवचन मे स्पष्ट रूप से कहा है—'सम्यक्त्व-हीन को ज्ञान नही होता, ज्ञान-हीन को चारित्र नही होता, चारित्र-हीन को मोक्ष नही होता, और मोक्ष-हीन को निर्वाण-पद नही मिल सकता—

नादसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न हु ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

—उत्तराध्ययन-सूत्र, २८/३०

आत्मा की तीन दशा

सम्यक्त्व की महत्ता का वर्णन काफी लम्बा हो चुका है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह सम्यक्त्व है क्या चीज ? उक्त प्रश्न के उत्तर मे कहना है कि ससार मे जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सब तीन अवस्थाओ मे विभक्त है— १—**बहिरात्मा**, २—**अन्तरात्मा**, और ३—**परमात्मा**।

'बहिरात्मा' नामक पहली अवस्था मे आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के आवरण से सर्वथा ढका रहता है। अत आत्मा निरतर मिथ्या सकल्पो मे फँस कर, पौद्गलिक भोग-विलासो को ही अपना आदर्श मान लेता है, उनकी प्राप्ति के लिए ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति का अपव्यय करता है। वह सत्य सकल्पो की ओर कभी झाक कर भी नही देखता। जिस प्रकार ज्वर के रोगी को अच्छे-से-अच्छा पथ्य भोजन अच्छा नही लगता, इसके विपरीत, कुपथ्य भोजन ही उसे अच्छा लगता है, ठीक इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव का सत्य-धर्म के प्रति द्वेष तथा असत्य धर्म के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। यह बहिरात्मा का स्वरूप है।

'अतरात्मा' नामक दूसरी अवस्था मे, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का आवरण क्षीण हो जाने के कारण, आत्मा क्षयोपशम आदि के रूप मे सम्यक्त्व के आलोक से आलोकित हो उठता है। यहाँ आकर आत्मा सत्य धर्म का साक्षात्कार कर लेता है, पौद्गलिक भोग-विलासो की ओर से उदासीन-सा होता हुआ

शुद्ध आत्म-स्वरूप की ओर झुकने लगता है, आत्मा और परमात्मा मे एकता साधने का भाव जागृत करता है। इसके अनन्तर, ज्यों-ज्यो चारित्र मोहनीय कर्म का आवरण, क्रमश शिथिल, शिथिलतर एव शिथिलतम होता जाता है, त्यो त्यो आत्मा बाह्य भावो से हट कर अन्तरग भाव मे केन्द्रित होता जाता है और विकासानुसार विकारो का जय करता है, त्याग प्रत्याख्यान करता है और श्रावकत्व एव साधुत्व के पद पर पहुँच जाता है।

'परमात्मा'—नामक तीसरी अवस्था सर्वोच्च अवस्था है। आत्मा जब अपने आध्यात्मिक गुणो का विकाश करते-करते अन्त मे अपने विशुद्ध आत्म स्वरूप को पा लेता है, अनादि-प्रवाह से निरन्तर चले आने वाले ज्ञानावरण आदि सघन कर्म-आवरणो का जाल सर्वथा नष्ट कर देता है, और अन्त मे केवलज्ञान तथा केवल दर्शन की ज्योति के पूर्ण प्रकाश से जगमगा उठता है। तब वह परमात्मा हो जाता है। जैन-दर्शन मे यही परमात्मा का स्वरूप है।

आत्मविकास के सूचक गुणस्थान

पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान वहिरात्म-अवस्था का द्योतक है। चौथे से बारहवे तक के गुणस्थान अन्तरात्म-अवस्था के परिचायक है, और तेरहवाँ चौदहवाँ गुणस्थान अरिहन्त रूप परमात्म अवस्था का सूचक है। प्रत्येक साधक वहिरात्म-भाव की अवस्था से निकल कर अन्तरात्मा की 'आदि भूमिका' सम्यक्त्व पर आता है एव सर्वप्रथम यही पर सत्य की वास्तविक ज्योति के दर्शन करता है। यह सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान की भूमिका है। यहाँ से आगे बढकर पाँचवें गुणस्थान मे श्रावकत्व के तथा छठवें गुण-स्थान मे साधुत्व के पद पर पहुँच जाता है। सातवे से लेकर बारहवे तक के मध्य गुणस्थान साधुता के विकास की भूमिका रूप है। बारहवें गुणस्थान मे मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट होता है। और, ज्यो ही मोहनीय कर्म का नाश होता है, त्यो ही तत्क्षण ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय-कर्म का नाश हो जाता है और साधक तेरहवें गुणस्थान मे पहुँच जाता है। तेरहवें गुणस्थान का अधिकारी पूर्ण वीतराग दशा पर पहुँचा हुआ जीवन्-मुक्त 'जिन' हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान मे आयुष्कर्म, वेदनीय आदि भोगाव-लीकर्मो को भोगता हुआ अन्तिम समय मे चौदहवें गुणस्थान की

भूमिका को भी पार कर गुण स्थानातीत होता है और सदा के लिए अजर, अमर, देह-मुक्त 'सिद्ध' रूप परमात्मा बन जाता है। सिद्ध-परमात्मा आत्मा के विकास का अन्तिम स्थान है। यहाँ आकर वह पूर्णता प्राप्त होती है, जिसमे फिर न कभी कोई विकास होता है और न ह्रास।

निश्चय और व्यवहार

*

सम्यक्त्व का क्या स्वरूप है और वह किस भूमिका पर प्राप्त होता है—यह ऊपर के विवेचन से पूर्णतया स्पष्ट हो चुका है। सक्षेप मे, सम्यक्त्व का सीधा-सादा अर्थ किया जाए, तो 'विवेक-दृष्टि' होता है। जड-चेतन का, सत्य-असत्य का विवेक ही जीवन को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करता है। धर्म-शास्त्रो मे सम्यक्त्व के अनेक भेद प्रतिपादन किए हैं। उनमे मुख्यतया दो भेद अधिक प्रसिद्ध है—**निश्चय और व्यवहार**। आध्यात्मिक विकास से उत्पन्न आत्मा की एक विशेप परिणति, जो **ज्ञेय**=जानने योग्य-जीवाजीवादि तत्त्व को तात्त्विक रूप मे जानने की, और **हेय**=छोडने-योग्य हिंसा, असत्य आदि पापो को त्यागने की, और **उपादेय**=ग्रहण करने-योग्य व्रत, नियम आदि को ग्रहण करने की अभिरुचि-रूप है, वह शुद्ध आत्म-प्रतीति रूप निश्चय सम्यक्त्व है व्यहार सम्यक्त्व श्रद्धा-प्रधान होता है। अत कुदेव, कुगुरु, और कुधर्म को त्याग कर सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर दृढ श्रद्धा रखना व्यवहार सम्यक्त्व है। व्यवहार सम्यक्त्व, एक प्रकार से निश्चय सम्यक्त्व का ही वहिर्मुखी रूप है। किसी व्यक्ति-विशेप में साधारण व्यक्तियो की अपेक्षा विशेप गुणो का, किंवा आत्म-शक्ति का विकास देखकर उसके सम्बन्ध मे जो एक सहज आनन्द की वेगवती धारा अन्तमे उत्पन्न हो जाती है, उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा मे महापुरुषो के महत्व की आनन्द-पूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ उनके प्रति पूज्य-बुद्धि का भाव भी है। अस्तु, सक्षेप मे निचोड़ यह है कि "आत्म दृष्टिरूप निश्चय सम्यक्त्व अन्तरग की चीज है, अत वह मात्र अनुभवगम्य है। परन्तु, व्यवहार सम्यक्त्व की भूमिका देव, गुरु आदि की श्रद्धा पर है, अत वह वाह्यदृष्टि मे भी प्रत्यक्षत सिद्ध है।"

प्रस्तुत सम्यक्त्व-सूत्र मे व्यवहार सम्यक्त्व का वर्णन किया गया

है। यहाँ बतलाया गया है कि किस को देव मानना, किस को गुरु मानना और किस को धर्म मानना ? साधक प्रतिज्ञा करता है—अरिहन्त मेरे देव हैं, सच्चे साधु मेरे गुरु हैं, जिन-प्ररूपित तत्त्व रूप सच्चा धर्म मेरा धर्म है।

देव : अरिहन्त

*

जैन-धर्म मे स्वर्ग लोक के भोग-विलासी देवो का स्थान अलौकिक एव आदरणीय रूप मे नही माना है। उनकी पूजा, भक्ति या सेवा करना, मनुष्य की अपनी मानसिक दुर्बलता के सिवा और कुछ नही है। जिन शासन आध्यात्मिक भावना-प्रधान धर्म है, अत यहाँ श्रद्धा और भक्ति के द्वारा उपास्य देव वही हो सकता है, जो दर्शन, ज्ञान एव चारित्र के पूर्ण विकास पर पहुँच गया हो, ससार की समस्त मोहमाया से मुक्त हो चुका हो, केवलज्ञान तथा केवल-दर्शन के द्वारा भूत, भविष्यत तथा वर्तमान तीन काल और तीन लोक को प्रत्यक्ष-रूप मे हस्तामलकवत् जानता-देखता हो। जैन-धर्म का कहना है कि सच्चा अरिहन्त देव वही महापुरुष होता है, जो अठारह दोषो से सर्वथा रहित होता है।

अठारह दोष इस प्रकार हैं—

१ दानान्तराय — २ लाभान्तराय
३ भोगान्तराय — ४ उपभोगान्तराय
५ वीर्यान्तराय — ६ हास्य=हँसी
७ रति=प्रीति — ८ अरति=अप्रीति
६ जुगुप्सा=घृणा — १० भय=डर
११ काम=वासना — १२ अज्ञान=मूढता
१३ निद्रा=प्रमाद — १४ अविरति=त्याग का अभाव
१५ राग — १६ द्वेष
१७ शोक=चिन्ता — १८ मिथ्यात्व=असत्य निष्ठा

अन्तराय का अर्थ विघ्न होता है। जब अन्तराय कर्म का उदय होता है, तब दान देने मे और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति आदि मे विघ्न होता है। अपनी इच्छानुसार किसी भी कार्य का सम्पादन नही कर

सकता । अरिहन्त भगवान् का अन्तराय कर्म क्षय हो जाता है, फलत उनको दान, लाभ आदि मे किसी भी प्रकार का विघ्न नही होता ।

गुरु : निर्ग्रन्थ

*

जैन-धर्म मे गुरु का महत्त्व त्याग की कसौटी पर ही परखा जाता है । जो आत्मा अहिंसा आदि पाच महाव्रतो का पालन करता हो, छोटे वडे सब जीवो पर समभाव रखता हो, भिक्षा-वृत्ति के द्वारा भोजन-यात्रा पूर्ण करता हो, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता हो—रात्रि भोजन न करता हो, किसी भी प्रकार का परिग्रह—धन न रखता हो, पैदल ही विहार करता हो, वही, सच्चे गुरु-पद का अधिकारी है ।

धर्म : जीवदया आदि

*

सच्चा धर्म वही है, जिसके द्वारा अन्त करण शुद्ध हो, वासनाओ का क्षय हो, आत्म-गुणो का विकास हो, आत्मा पर से कर्मों का आवरण नष्ट हो । अन्त मे आत्मा अजर, अमर, पद पाकर सदाकाल के लिए दु खो से मुक्ति प्राप्त कर ले । ऐसा धर्म अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह—सन्तोष तथा दान, तप और भावना आदि है ।

सम्यक्त्व के लक्षण

*

सम्यक्त्व अन्तरग की चीज है, अत उसका ठीक-ठीक पता लगाना साधारण लोगो के लिए जरा मुश्किल है । इस सम्वन्ध मे निश्चित रूप से केवलज्ञानी ही कुछ कह सकते हैं । तथापि, आगम मे सम्यक्त्व-धारी व्यक्ति की विशेपता वतलाते हुए पाँच चिह्न ऐसे वतलाए हैं, जिनसे व्यवहार-क्षेत्र मे भी सम्यग्दर्शन की पहचान हो सकती है ।

१—**प्रशम**—असत्य के पक्षपात से होने वाले कदाग्रह आदि दोपो का उपशमन होना 'प्रशम' है । सम्यग्-दृष्टि आत्मा कभी भी दुराग्रही नही होता । वह असत्य को त्यागने और सत्य को स्वीकार करने के लिए हमेशा तैयार रहता है । एक प्रकार से उसका समस्त जीवन सत्यमय और सत्य के लिए ही होता है ।

२—संवेग—काम, क्रोध, मान, माया आदि सासारिक बन्धनो का भय ही सवेग है। सम्यग्दृष्टि प्राय भय से मुक्त रहता है। वह हमेशा निर्भय एव निर्द्वन्द्व रहता है और उत्कृष्ट दशा मे पहुँच कर तो जीवन-मरण, हानि-लाभ, स्तुति-निन्दा आदि के भय से भी मुक्त हो जाता है। परन्तु, यदि उसे कोई भय अर्थात् अरुचि है, तो वह सासारिक बन्धनो से है। वस्तुत यह है भी ठीक। आत्मा के पतन के लिए सासारिक बन्धनो से वढकर और कोई चीज नही है। जो इनसे डरता रहेगा, वही अपने को बन्धनों से स्वतंत्र कर सकेगा।

३—निर्वेद—विषय भोगो में आसक्ति का कम हो जाना 'निर्वेद' है। जो मनुष्य भोग-वासना का गुलाम है, विषय भोग की पूर्ति के लिए भयंकर-से-भयकर अत्याचार करने पर भी उतारू हो जाता है, वह सम्यग्दृष्टि किस तरह बन सकता है? आसक्ति और सम्यग्-दर्शन का तो दिन रात का सा वैर है। जिस साधक के हृदय मे ससार के प्रति गाढ आसक्ति नही है, जो विषय-भोगो से कुछ उदासीनता रखता है, वही सम्यग्-दर्शन की ज्योति से प्रकाशमान होता है।

४—अनुकम्पा—दुःखित प्राणियो के दु खो को दूर करने की बल-वती इच्छा 'अनुकम्पा' है। सम्यग्दृष्टि साधक, सकट मे पडे हुए जीवो को देखकर कपित हो उठता है, उन्हे बचाने के लिए अपने समस्त सामर्थ्य को लेकर उठ खडा होता है। वह अपने दु ख से इतना दु·खित नही होता, जितना कि दूसरो के दु ख से दु खित होता है। जो लोग यह कहते हैं कि दुनियाँ मरे या जिए, हमे क्या लेना देना है? मरते को बचाने मे पाप है, धर्म नही! उन्हे सम्यक्त्व के उक्त अनुकम्पा-लक्षण पर ही लक्ष्य देना चाहिए। अनुकम्पा ही तो भव्यत्व का परिपाक है! कहा जाता है—अभव्य वाह्यत जीव-रक्षा कर सकता है, परन्तु अन्तर् मे अनुकम्पा कभी नही कर सकता।

५—आस्तिक्य—आत्मा आदि परोक्ष किन्तु आगमप्रमाण सिद्ध पदार्थों का स्वीकार ही आस्तिक्य है। साधक आखिरकार साधक ही है, सिद्ध नही। अत वह कितना ही प्रखर-बुद्धि क्यो न हो, परन्तु आत्मा आदि अरूपी पदार्थों को वह कभी भी प्रत्यक्षत इन्द्रिय-ग्राह्य नही कर सकता। भगवद्वाणी पर विश्वास रखे बिना साधना की

यात्रा तय नही हो सकती। अत तर्क एव युक्ति के क्षेत्र मे अग्रसर होते हुए भी, साधक को अध्यात्म-भावना प्रधान आगम-वाणी से अपना सम्बन्ध नही तोडना चाहिए।

मिथ्यात्व-परिहार

*

सम्यक्त्व का विरोधी तत्त्व मिथ्यात्व है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनो का एक स्थान पर होना असभव है। अत सम्यक्त्व-धारी साधक का कर्तव्य है कि वह मिथ्यात्व भावनाओ से सर्वदा सावधान रहे। कही ऐसा न हो कि भ्राति-वश मिथ्यात्व की धारणाओ पर चलकर अपने सम्यक्त्व को मलिन कर बैठे। सक्षेप मे, मिथ्यात्व के दश भेद है—

१—जिनको कचन और कामिनी नही लुभा सकती, जिनको सासारिक लोगो की प्रशंसा, निंदा आदि क्षुब्ध नही कर सकती, ऐसे सदाचारी साधुओ को साधु न समझना।

२—जो कचन और कामिनी के दास बने हुए हैं, जिनको सासारिक लोगो से पूजा प्रतिष्ठा पाने की दिन-रात इच्छा बनी रहती है, ऐसे साधु-वेश-धारियो को साधु समझना।

३—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य—ये दश प्रकार का धर्म है। दुराग्रह के कारण उक्त धर्म को अधर्म समझना।

४—जिन कार्यो से अथवा विचारो से आत्मा की अधोगति होती है, वह अधर्म है। अस्तु, हिंसा करना, शराब पीना, जुआ खेलना, दूसरो की बुराई सोचना इत्यादि अधर्म को धर्म समझना।

५—शरीर, इन्द्रिय और मन ये जड हैं। इनको आत्मा समझना, अर्थात् अजीव को जीव मानना।

६—जीव को अजीव मानना। जैसे कि गाय, बैल, बकरी आदि प्राणियो मे आत्मा नही है, अतएव इनके मारने या खाने मे कोई पाप नही है—ऐसी मान्यता रखना।

७—उन्मार्ग को सुमार्ग समझना। शीतला-पूजन, गगा-स्नान, श्राद्ध आदि लोकमान्यताएँ, तथा जो पुरानी या नयी कुरीतियाँ है, जिनसे सचमुच हानि होती है, उन्हे ठीक समझना।

८—सुमार्ग को उन्मार्ग समझना । जिन पुरानी या नयी प्रथाओं से धर्म की वृद्धि होती है, सामाजिक उन्नति होती है उन्हे ठीक न समझना।

९—कर्म रहित को कर्म-सहित मानना। परमात्मा मे राग,द्वेप नही हैं, तथापि यह मानना कि भगवान् अपने भक्तो की रक्षा के लिए दैत्यो का नाश करते हैं और अमुक स्त्रियो की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके पति वनते हैं, इत्यादि।

१०—कर्म-सहित को कर्म-रहित मानना। भक्तो की रक्षा और शत्रुओ का नाश राग द्वेप के विना नही हो सकता और राग, द्वेप कर्म-सम्वन्ध के विना नही हो सकते। तथापि मिथ्या आग्रह-वश यही मानना कि यह सव भगवान की लीला है। सव-कुछ करते हुए भी अलिप्त रहना उन्हे आता है और इसलिए वे अलिप्त रहते हैं। उक्त दश प्रकार के मिथ्यात्व से सतत दूर रहना चाहिए।

सम्यक्त्व-सूत्र का प्रतिदिन पाठ क्यों ?

*

अंत मे एक प्रश्न है कि जव साधक अपनी साधना के प्रारम्भिक काल मे सर्व-प्रथम एक वार सम्यक्त्व ग्रहण कर ही लेता है और तत्पश्चात् ही अन्य धर्म-क्रियाएँ शुरू करता है, तव फिर उसका नित्य-प्रति पाठ क्यो ? क्या प्रतिदिन नित्य नयी सम्यक्त्व ग्रहण करनी चाहिए ? उत्तर है कि सम्यक्त्व तो एक वार प्रारम्भ मे ग्रहण की जाती है, प्रतिदिन नही। परन्तु, प्रत्येक सामायिक आदि धर्म-क्रिया के आरम्भ मे, प्रतिदिन जो यह पाठ वोला जाता है, इसका प्रयोजन सिर्फ यह है कि ग्रहण की हुई सम्यक्त्व की स्मृति को सदा ताजा रक्खा जाय। प्रतिदिन प्रतिज्ञा को दोहराते रहने से आत्मा मे वल का सचार होता है, और प्रतिज्ञा नित्य प्रति अधिकाधिक स्पष्ट, शुद्ध एव सवल होती जाती है।

यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाए तो सम्यक्त्व ग्रहण करने की, किसी से लेनेदेने की चीज नही है। वह तो आत्मा की एक विशिष्ट शुद्ध परिणति है, वह अन्तर मे से ही जागृत होती है। यह जो पाठ है, वह वाहर का व्यवहार है। इसका लाभ केवल इतना है कि साधक को सम्यक्त्व के स्वरूप की प्रतीति होती रहे, अपने शुद्ध स्वरूप एव ध्येय की स्मृति सदा जागृत रहे।

* *

३ ‖ गुरु-गुण-स्मरण-सूत्र

[१]

पंचिंदिय-संवरणो,
तह नवविह-बंभचेर-गुत्तिधरो ।
चउविह-कसायमुक्को,
इअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो ॥

[२]

पंच-महव्वय-जुत्तो,
पंचविहायारपालणसमत्थो ।
पंचसमिओ तिगुत्तो,
छत्तीसगुणो गुरू मज्झ ॥

शब्दार्थ

पंचिंदिय-संवरणो—पांच इन्द्रियों को अर्थात् पांच इन्द्रियों के विषयों को रोकनेवाले, वश में करने वाले

तह—तथा इसी प्रकार

नव-विह-बंभचेर गुत्तिधरो—नव प्रकार की ब्रह्मचर्य की गुप्तियों को धारण करने वाले

चउविहकसायमुक्को—चार प्रकार के कषाय से मुक्त

इग्र—इन

ग्रट्ठारस-गुणेहि सजुत्तो—ग्रट्ठारह गुणो से सयुक्त

पंच महव्वय-जुत्तो—पाँच महाव्रतो से युक्त

पचविहायारपालणसमत्थो—पाच प्रकार का ग्राचार पालने मे समर्थ

पचसमिग्रो—पाच समिति वाले

तिगुत्तो—तीन गुप्ति वाले

छत्तीसगुणो—छत्तीस गुणो वाले सच्चे त्यागी

मज्भ—मेरे

गुरु – गुरु हैं

भावार्थ

पाँच इन्द्रियो के वैपयिक चाचल्य को रोकने वाले, ब्रह्मचर्य-व्रत की नवविघ गुप्तियो को—नौ बाडो को धारण करने वाले, क्रोध ग्रादि चार प्रकार की कपायो से मुक्त, इस प्रकार ग्रठारह गुणो से सयुक्त—ग्रहिंसा ग्रादि पाँच महाव्रतो से युक्त, पाँच ग्राचार के पालन करने मे समर्थ, पाँच समिति ग्रौर तीन गुप्ति के धारण करने वाले, ग्रर्थात् उक्त छत्तीस गुणो वाले श्रेष्ठ साधु मेरे गुरु है।

विवेचन

मनुष्य का महान् एव उन्नत मस्तक, जो ग्रन्यत्र किसी भी गति एव योनि मे कही भी प्राप्त नही होता, क्या वह हर किसी के चरणो मे झुकने के लिए है ? नही, ऐसा नही हो सकता। मनुष्य का मस्तक विचारो का सर्वश्रेष्ठ केन्द्र है। वह नरक, तिर्यच, स्वर्ग ग्रौर मोक्ष सभी स्थितियो का स्रष्टा है। दृश्य-जगत् में यह जो-कुछ भी वैभव बिखरा पडा है, सब उसी की उपज है। ग्रतएव, यदि वह भी ग्रपने-ग्रापको विचार-शून्य बना कर हर किसी के चरणो की गुलामी स्वीकार करने लगे, तो इससे बढकर मनुष्य का ग्रौर क्या पतन हो सकता है ?

सद्गुरु कौन ?

*

शास्त्रकारो ने सद्गुरु की महिमा का मुक्त-कठ से गुणगान किया है। उनका कहना है कि प्रत्येक साधक को गुरु के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति का भाव रखना चाहिए। भला जो मनुष्य प्रत्यक्ष-सिद्ध महान् उपकार करने वाले एव माया के दुर्गम पथ को पार कर सयम-पथ पर पहुँचाने वाले अपने आराध्य सद्गुरु का ही भक्त नही है, वह परोक्ष-सिद्ध भगवान का भक्त कैसे हो सकेगा ? साधक पर सद्गुरु का इतना विशाल ऋण है कि उसका कभी बदला चुकाया ही नही जा सकता। गुरुमहत्ता अपरम्पार है, अत प्रत्येक धर्म-साधना के प्रारम्भ मे सद्गुरु को श्रद्धा-भक्ति के साथ अभिवन्दन करना चाहिए। परन्तु प्रश्न है ? कौन-सा गुरु ? किसके चरणो मे नमस्कार ? सद्गुरु के चरणो मे, या सद्गुरु वेष धारी के चरणो मे ?

आज ससार मे, विशेष कर भारत मे, गुरु-रूप-धारी द्विपद जीवो की कोई साधारण-सी सीमित सख्या नही है। जिधर देखिए उधर ही गली-गली मे सैकडो गुरु-नामधारी महापुरुष घूम रहे हैं, जो भोले-भाले भक्तो को जाल मे फसाते हैं, भद्र महिलाओ के उन्नत जीवन को जादू टोने के बहम मे नष्ट कर देते हैं। कुछ दूसरे कारणो को गौण रूप मे रक्खा जाय, तो भारत के पतन का यदि कोई मुख्य कारण है, तो वह गुरु ही है, ऐसा कहा जा सकता है। भला, जो दिन-रात भोग-विलास मे लगे रहते है, चढावे के रूप मे वडी से वडी भेटें लेते हैं, राजाओ का-सा ठाठ-बाट सजाए रखते हैं, माल-मलीदा खाते हैं, इतर-फुलेल लगाते हैं, नाटक सिनेमा देखते हैं, मद्य, गाँजा, भाँग, सुलफा आदि मादक पदार्थो का सेवन करते हैं, उन गुरुओ से देश का क्या भला हो सकता है ? जो स्वय अन्धा हो, वह दूसरो को क्या खाक मार्ग दिखाएगा ? अतएव प्रस्तुत-सूत्र मे बतलाया है कि सच्चे गुरु कौन हैं ? किनको वन्दन करना चाहिए ? प्रत्येक साधक को दृढ प्रतिज्ञ होना चाहिए कि "वह सूत्रोक्त छत्तीस गुणो के धर्ता महात्माओ को ही अपना धर्म-गुरु मानेगा, अन्य ससारी को नही।" गुरु-वन्दन से पहले उक्त प्रतिज्ञा का स्मरण करना एव गुरु के-गुणो का सकल्प करना अत्यावश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह सूत्र-पाठ, सामायिक करते समय गुरु वन्दन से पहले पढा जाता है !

पाच इन्द्रियो का दमन

*

जीवात्मा को ससार सागर मे डुवाने वाली पाच इन्द्रियाँ हैं—स्पर्शन इन्द्रिय—त्वचा, रसन इन्द्रिय—जिह्वा, घ्राण इन्द्रिय—नाक, चक्षु-ग्राँख ग्रौर श्रोत्र इन्द्रिय—कान। पाँचो इन्द्रियो के मुख्य विषय क्रमश इस प्रकार हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप ग्रौर शब्द। गुरु वह है जो उक्त विषयो मे समभाव रखे। यदि प्रिय हो, तो राग न करे ग्रौर यदि ग्रप्रिय हो, तो द्वेप न करे।

नवविध-ब्रह्मचर्य

*

पाच इन्द्रियो की चचलता रोक देने से ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन ग्रपने-ग्राप हो जाता है। तथापि ब्रह्मचर्य-व्रत को ग्रधिक दृढता के साथ निर्दोष पालन करने के लिए शास्त्र मे नव गुप्तियाँ वतलाई हैं। नव गुप्तियो को साधारण भाषा मे वाड भी कहते है। जिस प्रकार वाड ग्रन्दर रही हुई वस्तु का सरक्षण करती है, उसी प्रकार नव गुप्तियाँ भी ब्रह्मचर्यव्रत का सरक्षण करती है।

१—विविक्त-वसति-सेवा—एकान्त स्थान मे निवास करना। स्त्री, पशु, ग्रौर नपु सक तीनो की काम चेष्टाएँ विकारोत्तेजक होती है, ग्रत ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उक्त तीनो से रहित एकान्त शान्त स्थान मे निवास करना चाहिए।

२—स्त्री-कथा-परिहार—स्त्रियो की कथा का परित्याग करना। स्त्री-कथा से मतलव यहाँ स्त्रियो की जाति, कुल, रूप, ग्रौर वेपभूपा ग्रादि के वर्णन से है। जिस प्रकार नीवू के वर्णन से जिह्वा मे से पानी वह निकलता है, उसी प्रकार स्त्री-कथा से भी हृदय मे वासना का झरना वह निकलता है।

३—निपद्यानुपवेशन—निपद्या यानी स्त्री के वैठने की जगह, उस पर नही वैठना। शास्त्र मे कहा है कि जिस स्थान पर स्त्री वैठती हो, उसके उठ जाने के वाद भी दो घडी तक ब्रह्मचारी को वहाँ नही वैठना चाहिए। कारण, स्त्री के शरीर के सयोग से वहाँ उष्णता हो

जाती है, वासना का वायु-मडल तैयार हो जाता है। अत बैठने वाले के मन मे विह्वलता आदि दोष पैदा हो सकते हैं। आजकल के वैज्ञानिक भी विद्युत के नाम से उक्त परिस्थिति को स्वीकार करते हैं।

४—**इन्द्रियाप्रयोग**—स्त्री के मुख, नेत्र, हाथ, पैर आदि अवयवो की ओर देखने का प्रयत्न नही करना चाहिए। यदि प्रसग-वश कदाचित् दृष्टि पड भी जाय, तो शीघ्र ही हटा लेना चाहिए। सौन्दर्य के देखने से मन मे मोहनी जागृत होगी, काम-वासना उठेगी, अन्त मे ब्रह्मचर्य व्रत के भग की आशका भी उत्पन्न हो जाएगी। जिस प्रकार सूर्य की ओर देखने से आँखो का तेज घटता है, उसी प्रकार स्त्री के अवयवो को देखने से ब्रह्मचर्य का बल भी क्षीण हो जाता है।

६—**कुड्यान्तर-दाम्पत्यवर्जन**—एक दीवार के अन्तर से स्त्री-पुरुष रहते हो, तो वहाँ नही रहना। कुड्य का अर्थ दीवार है, अन्तर का अर्थ दूरी से है, और दाम्पत्य का अर्थ स्त्री-पुरुष का युगल है। पास रहने से श्रृङ्गार आदि के वचन सुनने पर काम जागृत हो सकता है। अग्नि के पास रहा हुआ मोम पिघल ही जाता है।

६—**पूर्व क्रीड़ित-स्मृति**—पहली काम-क्रीडाओ का स्मरण न करना! ब्रह्मचर्य धारण करने के पहले जो वासना का जीवन रहा है, स्त्रियो के साथ सासारिक सम्बन्ध कायम रहा है, उसको व्रती हो जाने के बाद कभी भी अपने चिन्तन मे नही लाना चाहिए। वासना का क्षेत्र बडा भयकर है। वासनाएँ भी जरा-सी स्मृति आ जाने पर पुनरुज्जीवित हो उठती है और साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर डालती हैं। मादक पदार्थो का नशा स्मृति के द्वारा जागृत होता है, यह सर्वसाधारण मे प्रसिद्ध है।

७—**प्रणीताभोजन**—प्रणीत का अर्थ अति स्निग्ध है। अत प्रणीत भोजन का अर्थ हुआ कि जो भोजन अति स्निग्ध हो, कामोत्तेजक हो, वह ब्रह्मचारी को नही खाना चाहिए। पौष्टिक भोजन से शरीर मे जो कुछ विषय-वासना की विकृतियाँ उत्पन्न होती है, उन्हे हर कोई स्वानुभव से जान सकता है। जिस प्रकार सन्निपात का रोग घी खाने से भयकर रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार विषय-वासना भी पौष्टिक पदार्थो के अमर्यादित सेवन से भडक उठती है।

८—**अतिमात्राभोग**—प्रमाण से अधिक भोजन नही करना। भोजन का सयम, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए रामबाण अस्त्र है। भूख से

अधिक भोजन करने से शरीर मे आलस्य पैदा होता है, मन मे चचलता होती है, और अन्त मे इन सब बातो का असर ब्रह्मचर्य पर पडता है।

९—विभूषा-परिवर्जन—विभूषा का अर्थ अलकार एव शृङ्गार होता है, और परिवर्जन का अर्थ त्याग होता है। अत. विभूषा-परिवर्जन का अर्थ 'शृ गार का त्याग करना' हुआ। स्नान करना, इत्र-फुलेल लगाना, भडकदार बढिया वस्त्र पहनना, इत्यादि कारणो से अपने मन मे भी आसक्ति की भावना जागृत होती है और देखने वालो के मन मे भी मोह का उद्रेक हो जाता है। कुम्हार को लाल रत्न मिला, साफ करके छप्पर पर रख दिया। सूर्य के प्रकाश मे ज्यो ही चमका, मास का टुकडा समझ कर चील उठाकर ले गई। शृङ्गार-प्रेमी साधु के ब्रह्मचर्य का भी यही हाल होता है।

चार कषाय का त्याग

*

कर्म-बन्ध का मुख्य कारण कषाय है। कषाय का शाब्दिक अर्थ होता है—'कष=ससार। आय=लाभ।' अर्थात् जिससे ससार का लाभ हो, जन्म-मरण का चक्र बढता हो, वह कषाय है। मुख्य रूप से कषाय के चार प्रकार हैं—

(१) क्रोध—क्रोध से प्रेम का नाश होता है। क्रोध क्षमा से दूर किया जा सकता है।

(२) मान—अहकार विनय का नाश करता है। नम्रता के द्वारा अहकार नष्ट किया जा सकता है।

(३) माया—माया का अर्थ कपट है। माया मित्रता का नाश करती है, आर्जव—सरलता से माया दूर की जा सकती है।

(४) लोभ—लोभ सबसे अधिक भयकर कषाय है। यह सभी सद्-गुणो का नाश करने वाला है। लोभ पर सतोष के द्वारा ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

पांच महाव्रत

*

१—सर्व-प्राणातिपात-विरमण—सब प्रकार से अर्थात् मन, वचन और शरीर से प्राणातिपात—जीव की हिसा—का त्याग करना,

प्रथम अहिंसा महाव्रत है। प्राणातिपात का अर्थ—प्राणो का अतिपात—नाश है। प्राण दश हैं—पाच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य। विरमण का, अर्थ त्याग करना है। अत किसी भी जीव के प्राणो का नाश करना हिंसा है। हिंसा का त्याग करना अहिंसा है।

(२) **सर्व-मृषावाद-विरमण**—सव प्रकार से मृषावाद—झूठ वोलने—का त्याग करना, सत्य महाव्रत है। मृषा का अर्थ झूठ, वाद का अर्थ भाषण, विरमण का अर्थ त्याग करना है।

(३) **सर्व-अदत्तादान-विरमण**—सव प्रकार से अदत्त चोरी का त्याग करना, अस्तेय महाव्रत है। अदत्त का अर्थ विना दी हुई वस्तु है, आदान का अर्थ ग्रहण करना है।

(४) **सर्व-मैथुन-विरमण**—सब प्रकार से मैथुन—काम वासना—का त्याग करना, ब्रह्मचर्य महाव्रत है। मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार की काम-सम्वन्धी चेष्टा करना, साधु के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

(५) **सर्व-परिग्रह-विरमण**—सव प्रकार से परिग्रह—धन-धान्य आदि का त्याग करना, अपरिग्रह महाव्रत है। अधिक क्या, कौडी मात्र धन भी अपने पास न रखना, न दूसरो के पास रखवाना और न रखने वालो का अनुमोदन करना। सयम की साधना के उपयोग मे आने वाले मर्यादित वस्त्र-पात्र आदि पर भी मूर्च्छा-भाव न रखना।

पाँचो ही महाव्रतो मे मन, वचन और शरीर—करना, कराना और अनुमोदन करना—सव मिलकर नव कोटि से क्रमश हिंसा आदि का त्याग किया जाता है। महाव्रत का अर्थ है— महान् व्रत। महाव्रती साधु ही हो सकता है, गृहस्थ नही। गृहस्थ-धर्म मे 'सर्व' के स्थान पर 'स्थूल' शव्द का प्रयोग किया जाता है। जिसका अर्थ यह है कि गृहस्थ मर्यादित रूप से स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य आदि का त्याग करता है। अत गृहस्थ के ये पाँच अणु-व्रत कहलाते है— अणु का अर्थ छोटा होता है।

पाँच आचार

✲

(१) **ज्ञानाचार**—ज्ञानाभ्यास स्वय करना और दूसरो को कराना, ज्ञान के साधन शास्त्र आदि स्वय लिखना तथा ज्ञान-भडारो की रक्षा करना

ग्रौर ज्ञानाभ्यास करने वालो को यथायोग्य सहायता प्रदान करना—यह सब ज्ञानाचार है।

(२) दर्शनाचार—दर्शन का ग्रर्थ सम्यक्त्व है। ग्रत सम्यक्त्व का स्वय पालन करना, दूसरो से पालन करवाना, तथा सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने वाले साधको को हेतु एव तर्क ग्रादि से प्रेमपूर्वक समझा कर पुन सम्यक्त्व मे दृढ करना—यह सब दर्शनाचार है।

(३) चारित्राचार—ग्रहिंसा ग्रादि शुद्ध चारित्र का स्वय पालन करना, दूसरो से पालन करवाना, तथा पालन करने वालो का ग्रनुमोदन करना, पापाचार का परित्याग करके सदाचार पर ग्रारूढ होने का नाम चारित्राचार है।

(४) तप-आचार—बाह्य तथा ग्राभ्यन्तर दोनो ही प्रकार का तप स्वय करना, दूसरो से कराना, करने वालो का ग्रनुमोदन करना। यह सब तप. साधना, तप ग्राचार है। बाह्य तप ग्रनशन—उपवास ग्रादि है, ग्रौर ग्राभ्यन्तर तप स्वाध्याय, ध्यान, विनय ग्रादि है।

(५) वीर्याचार—धर्मानुष्ठान मे—प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय ग्रादि मे ग्रपनी शक्ति का यथावसर उचित प्रयोग करना। कदापि ग्रालस्य ग्रादि के वश धर्माराधन मे ग्रन्तराय नही डालना। ग्रपनी मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक शक्ति को दुराचरण से हटाकर सदाचरण मे लगाना—वीर्याचार है।

पाँच समिति

✿

समिति का शाब्दिक ग्रर्थ होता है—सम्=सम रूप से+इति=जाना ग्रर्थात् प्रवृत्ति करना। फलितार्थ यह है कि चलने मे, बोलने मे, ग्रन्नपान ग्रादि की गवेषणा मे, किसी वस्तु को लेने या रखने में, मल-मूत्र ग्रादि को परठने मे, सम्यक् रूप से मर्यादा रखना ग्रर्थात् गमनादि किसी भी क्रिया मे विवेक-युक्त सीमित प्रवृत्ति करना, समिति है। समिति के पाँच भेद हैं—

(१) ईर्या-समिति—ईर्या का ग्रर्थ गमन होता है, ग्रत किसी भी जीव को पीडा न पहुँचे—इस प्रकार सावधानता पूर्वक गमनागमनादि क्रिया करना, ईर्या समिति है।

(२) भाषा-समिति—भाषा का अर्थ बोलना है, अत सत्य, हितकारी, परिमित तथा सन्देह रहित, मृदु वचन बोलना भाषा समिति है।

(३) एषणा-समिति—एषणा का अर्थ खोज करना होता है। अत जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक आहारादि साधनो को जुटाने की सावधानता पूर्वक निरवद्य प्रवृत्ति करना, एषणा समिति है।

(४) आदान-निक्षेप-समिति—आदान का अर्थ ग्रहण करना और निक्षेप का अर्थ रखना होता है। अत अपने पात्र पुस्तक आदि वस्तुओ को भली-भाँति देख-भाल कर, प्रमार्जन करके लेना अथवा रखना, आदान-निक्षेप-समिति है।

(५) उत्सर्ग-समिति—उत्सर्ग का अर्थ त्याग होता है। अत. वर्तमान मे जीव-जन्तु न हो अथवा भविष्य मे जीवो को पीडा पहुँचने की सभावना न हो, ऐसे एकान्त प्रदेश मे अच्छी तरह देख कर तथा प्रमार्जनकर के ही अनुपयोगी वस्तुओ को डालना, उत्सर्ग समिति है। उक्त समिति को परिष्ठापनिका समिति भी कहते है। परिष्ठापन का अर्थ भी परठना, त्यागना ही है।

तीन गुप्ति

गुप्ति का अर्थ गुप्=रक्षा करना, रोकना है। अर्थात् सासारिक वासनाओ से आत्मा की रक्षा करना, विवेकपूर्वक मन, वचन और शरीर-रूप योगत्रय की प्रवृत्तियो का अशत या सर्वत निग्रह करना गुप्ति है।

(१) मनोगुप्ति—अकुशल यानी पाप-पूर्ण सकल्पो का निरोध करना। मन का गोपन करना, मन की चचलता को रोकना, बुरे विचारो को मन मे न आने देना।

(२) वचन-गुप्ति—वचन का निरोध करना, निरर्थक वार्तालाप न करना, मौन रहना। बोलने के प्रत्येक प्रसग पर, वचन पर यथावश्यक नियन्त्रण रखना, वचन-गुप्ति है।

(३) काय-गुप्ति—विना प्रयोजन शारीरिक क्रिया नही करना। किसी भी चीज के लेने, रखने, किंवा बैठने आदि क्रियाओ मे संयम करना, स्थिरता का अभ्यास करना,काय-गुप्ति है।

समिति और गुप्ति, सयम जीवन के प्रधान तत्त्व हैं। अतएव जैन-सिद्धान्तो मे इन को आठ प्रवचन माता कहा है। प्रवचन अर्थात् शास्त्र, उसकी माता। आठ प्रवचन माता का समावेश सवर-तत्त्व मे होता है। कारण, इन से कर्मो का सवरण होता है, नये कर्मों के बन्धन का अभाव होता है।

समिति और गुप्ति का अन्तर

समिति और गुप्ति मे क्या अन्तर है ? उक्त-प्रश्न का समाधान यह है कि यथानिश्चित काल तक मन, वचन तथा शरीर इन तीनो योगो का निरोध करना गुप्ति है। और गुप्ति मे बहुत काल तक-स्थिर रह सकने मे असमर्थ साधक की कल्याण-रूप क्रियाओमे प्रवृत्ति समिति है। भाव यह है कि गुप्ति मे असत् क्रिया का निषेध मुख्य है, समिति मे सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है।

४ || गुरुवन्दन-सूत्र

तिक्खुत्तो
आयाहिरण पयाहिरणं करेमि,
वंदामि, नमंसामि,
सक्कारेमि, सम्माणेमि
कल्लाणं मंगलं,
देवयं चेइयं,
पज्जुवासामि
मत्थएण वंदामि ।

शब्दार्थ

तिक्खुत्तो=तीन वार
आयाहिरण=दाहिनी ओर से
पयाहिण=प्रदक्षिरणा
करेमि=करता हूँ
वंदामि=स्तुति करता हूँ
नमंसामि=नमस्कार करता हूँ
सक्कारेमि=सत्कार करता हूँ
सम्माणेमि=सम्मान करता हूँ
कल्लाण = कल्याण-रूप को
मगल=मगल-रूप को
देवय=देवता-स्वरूप को
चेइयं=ज्ञान-स्वरूप को

पज्जुवासामि=उपासना करता हूँ वंदामि=वन्दना करता हूँ
मत्थएण=मस्तक से

भावार्थ

भगवन्! दाहिनी ओर से प्रारभ करके पुन दाहिनी ओर तक आप की तीन बार प्रदक्षिणा करता हूँ।

वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।
सत्कार करता हूँ, सम्मान करता हूँ।

आप कल्याण-रूप है, मगल-रूप हैं।
आप देवता-स्वरूप हैं, चैत्य स्वरूप यानी ज्ञान स्वरूप हैं।

गुरुदेव! आपकी—मन, वचन और शरीर से—पर्युपासना—सेवा-भक्ति करता हूँ।

विनय-पूर्वक मस्तक झुका-कर आपके चरण कमलो मे वन्दना करता हूँ।

विवेचन

आध्यात्मिक-साधना के क्षेत्र मे गुरु का पद बहुत ऊँचा है। कोई भी दूसरा पद इसकी समानता नही कर सकता। गुरुदेव हमारी जीवन-नौका के नाविक हैं। अत वे ससार-समुद्र के काम, क्रोध, मोह आदि भयकर आवर्तो मे से हमे सकुशल पार पहुँचाते है।

आप जानते है—जब घर मे अन्धकार होता है, तब क्या दशा होती है? कितनी कठिनाइयो का सामना करना पडता है? चोर और सेठ का, रस्सी और सर्प का विवेक नष्ट हो जाता है। अन्धकार के कारण इतना विपर्यास होता है कि कुछ पूछिए ही नही। सत्-असत् का कुछ भी विवेक नही रहता। ऐसी दशा में,दीपक का कितना महत्त्व है, यह सहज ही समझ मे आ सकता है। ज्यो ही घनान्धकार मे दीपक जगमगाता है, चारो ओर शुभ्र प्रकाश फैल जाता है, तो कितना आनन्द होता है? प्रत्येक वस्तु अपने रूप में ठीक-ठीक दिखाई देने लगती है। सर्प और रस्सी सेठ और चोर स्पष्टतया सामने झलक उठते है! जीवन मे प्रकाश की कितनी आवश्यकता है?

अज्ञान का अंधकार

*

यह तो केवल स्थूल द्रव्य अन्धकार है। परन्तु, एक और अन्धकार है, जो इससे अनन्त गुण भयकर है। यदि वह अन्धकार विद्यमान हो, तो उसे हजारो दीपक, हजारो सूर्य भी नष्ट नही कर सकते। वह अन्धकार हमारे अतरग का है। उसका नाम अज्ञान है। अज्ञान-अन्धकार के कारण ही आज ससार में भयकर मारामारी होती है। प्रत्येक प्राणी वासना के जाल मे फँसा हुआ तडप रहा है। मुक्ति का मार्ग कही दृष्टि-गत ही नही होता। साधु को असाधु, असाधु को साधु, देव को कुदेव, कुदेव को देव, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, आत्मा को जड और जड को आत्मा समझते हुए यह आत्मा अज्ञानता के कारण ठोकरो-पर-ठोकरें खाता हुआ अनादिकाल से भटक रहा है।

सद्गुरु का महत्व

*

सद्गुरु ही इस अज्ञान को दूर कर सकते हैं। हमारे आध्यात्मिव जीवन-मन्दिर के वे ही प्रकाशमान दीपक हैं। उनकी कृपा दृष्टि से ही हमें वह प्रकाश मिलता है, जिसको लेकर जीवन की विकट घाटियो को हम सानन्द पार सकते हैं। उक्त प्रकाश-कर्तृत्व गुण को लेकर ही वैयाकरणो ने गुरु शब्द की व्युत्पत्ति की है कि 'गु' शब्द अन्धकार का वाचक है और 'रु' शब्द विनाश का वाचक है। अत गुरु वह, जो अन्धकार का नाश करता है।

आज के युग मे गुरु वहुत सस्ते हो रहे हैं। जन-गणना के अनुसार आजकल अकेले भारत मे ५६ लाख गुरुओ की फौज जनता के लिए अभिशाप वन रही है। अतएव जैन शास्त्रकार गुरु-पद का महत्व ऊँचा वताते हुए उसके कर्तव्य को भी ऊँचा वता रहे हैं। गुरु-पद के लिए न अकेला ज्ञान ही काफी है, और न अकेली क्रिया ही। ज्ञान और क्रिया का सुन्दर समन्वय ही गुरुत्व की सृष्टि कर सकता है। आज के गुरु लाखो की सम्पत्ति रखते हुए, भोग-विलास के मनमाने आनन्द उठाते हुए जनता को वेदान्त का उपदेश देते फिरते हैं ससार के मिथ्या होने का ढिढोरा पीटते फिरते हैं। भला, जो स्वय अन्धा है, वह दूसरो को क्या मार्ग दिखलाएगा ? जो स्वय पगु है वह

वह दूसरो को किस प्रकार लक्ष्य पर पहुँचाएगा ? जिसका जीवन ही शास्त्र हो, जिसकी प्रत्येक क्रिया पर त्याग और वैराग्य की अमिट छाप हो, वही गुरु होने का अधिकारी है। मनुष्य का मस्तक बहुत बडी पवित्र चीज है। वह किसी योग्य महान् आत्मा के चरणो मे ही झुकने के लिए है। अत हर किसी ऐरे-गैरे के आगे मस्तक रगडना पाप है, धर्म नही ! अस्तु, गुरु बनाते समय विचार कीजिए, ज्ञान और क्रिया की ऊँचाई परखिए, त्याग और वैराग्य की ज्योति का प्रकाश देखिए। ऐसा गुरु ही ससार समुद्र से स्वयं तिरता है और दूसरो को तार सकता हैं। गुरु की महत्ता ऊँची जाति और कुल वर्ण से नही है, रूप और ऐश्वर्य से नही है, किसी विशेष सम्प्रदाय से भी नही है। उसकी महत्ता तो मात्र गुणो से है, रत्नत्रय—ज्ञान, दर्शन, चारित्र से है। अतएव साम्प्रदायिक मोह को त्याग कर जहाँ कही गुणो के दर्शन हो, वही मस्तक झुका दीजिए ।

गुरुदेव की महिमा के सम्बन्ध में काफी वर्णन किया जा चुका है। अब जरा मूल-सूत्र के पाठो पर भी विचार कीजिए । गणधर देवो ने प्रस्तुत पाठ की रचना बडे ही भाव-भरे शब्दो मे की है । प्रत्येक शब्द प्रेम और श्रद्धा-भक्ति के गहरे रग मे रंगा हुआ है। उक्त पाठ के द्वारा शिष्य अपना अन्तर्हृदय स्पष्टतया खोल कर गुरुदेव के चरणो मे समर्पण कर देता है।

शब्दों मे भावो की गहराई

✿

मूल-सूत्र में 'वदामि' आदि चार पद एकार्थक जैसे मालूम होते हैं। अत प्रश्न होता है कि यदि ये सब पद एकार्थक हैं, तो फिर व्यर्थ ही सब का उल्लेख क्यो किया गया है ? किसी एक पद से ही काम नही चल जाता ? सूत्र तो सक्षिप्त पद्धति के अनुगामी होते हैं। सूत्र का अर्थ ही है—'सक्षेप में सूचना मात्र देना ।'

'सूचनात्सूत्रम्'—अभिधान चि० २।१५७

परन्तु, यहाँ तो एक ही अर्थ की सूचना के लिए इतने लम्बे-चौडे शब्दो का उल्लेख किया है। क्या यह सूत्र की शैली है ? उक्त प्रश्न के उत्तर में कहना है कि 'वदामि' आदि सब शब्दो का अलग-अलग

अर्थ है, एक नही । व्याकरण-शास्त्र की गभीरता में उतरते ही इन शब्दो की महत्ता पूर्ण रूप से प्रकट हो जायगी ।

'वंदामि' का अर्थ वन्दन करना है । वन्दन का अर्थ स्तुति है । मुख से गुण-गान करना, स्तुति है । सद्गुरु को केवल हाथ जोड़कर वन्दन कर लेना ही पर्याप्त नही है । गुरुदेव के प्रति अपनी वाणी को अर्पण कीजिए, उनकी स्तुति के द्वारा वाणी के मल को भी धोकर साफ कीजिए । किसी श्रेष्ठ पुरुष को देखकर चुप रहना, उसकी स्तुति में कुछ भी न कहना, वाणी की चोरी है । जो साधक वाणी का इस प्रकार चोर होता है, जो गुणानुरागी नही होता है, जो प्रमोद-भावना का पुजारी नही होता है, वह आध्यात्मिक विभूति का किसी प्रकार भी अधिकारी नही हो सकता ।

'नमसामि' का अर्थ नमस्कार करना है । नमस्कार का अर्थ पूजा है, पूजा का अर्थ प्रतिष्ठा है, और प्रतिष्ठा का अर्थ है—उपास्य महापुरुष को सर्वश्रेष्ठ समझना, भगवत्स्वरूप समझना । जब तक साधक के हृदय में श्रद्धा की बलवती तरग प्रवाहित न हो सद्गुरू को सर्वश्रेष्ठ समझने का शुभ सकल्प जागृत न हो, तब तक शून्य हृदय से यदि मस्तक को झुका भी दिया, तो क्या लाभ ? वह नमस्कार निष्प्राण है, जीवन शून्य है । इस प्रकार के नमस्कार से अपने शरीर को केवल पीडा ही देना है और कुछ लाभ नही ।

'सत्कार' का अर्थ मन से आदर करना है । मन मे आदर का भाव हो, तभी उपासना का महत्त्व है, अन्यथा नही । गुरुदेव के चरणो में वन्दन करते समय मन को खाली न रखिए, उसे श्रद्धा एव आदर के अमृत से भर कर गद्गद बनाइए ।

'सम्मान' का अर्थ बहुमान देना है । जब भी कभी अवसर मिले गुरुदेव के दर्शन करना न भूलिए गुरुदेव के आगमन को तुच्छ न समझिए, हजार काम छोड कर भी उनके चरणो मे वन्दन करने के लिए पहुचिये । सम्राट् भरत चक्रवर्ती ने जब सुना कि भगवान् ऋषभ देव अयोध्या नगरी के बाहर उद्यान में पधारे हैं, तो पुत्र-जन्म का महोत्सव छोडा, चक्र-रत्न पाने के कारण होने वाला अपना चक्रवर्ती पद-महोत्सव भी छोडा, और सब से पहले प्रभु के दर्शन को पहुँचा । इसे कहते हैं—बहुमान देना । यदि गुरुदेव का आगमन सुनकर भी

मन में उत्साह जागृत न हो, ससारी कामो का मोह न छूटे, तो यह गुरुदेव का अपमान है। और, जहाँ इस प्रकार का अपमान होता है, वहाँ श्रद्धा कैसी और भक्ति कैसी ? आजकल के उन साधको को इस शब्द पर विशेष लक्ष्य देना चाहिए, जो गुरुदेव के यह पूछने पर कि भाई, व्याख्यान आदि सुनने कैसे नही आए ? तब कहते हैं कि अजी, काम में लगा रहा, इसलिए नही आ सका। और कुछ तो यह भी कहते हैं, अजी, काम-धाम तो कुछ नही था, यो ही आलस्य में पडे रह गए। यह अपमान नही तो क्या है ?

'कल्लाण' का सस्कृत रूप कल्याण है। कल्याण का स्थूल अर्थ क्षेम, राजी-खुशी होता है। परन्तु हमे इसके लिए जरा गहराई मे उतरना चाहिए।

अमर कोष के सुप्रसिद्ध टीकाकार एव महावैयाकरण भट्टोजी दीक्षित के सुपुत्र श्री भानुजी दीक्षित कल्याण का अर्थ प्रात-स्मरणीय करते हैं।

'कल्ये प्रात काले अण्यते, 'अण' शब्दे' (भ्वा-प-से-)

—अमर-कोष १/४/२५

उक्त सस्कृत व्युत्पत्ति का हिन्दी मे यह अर्थ है—प्रात काल मे जो पुकारा जाता है, वह प्रात स्मरणीय है। कल्य+अण ये दो शब्द हैं। 'कल्य' का अर्थ प्रात काल है, और 'अण' का अर्थ कहना, बोलना है। यह अर्थ बहुत ही सुन्दर है। रात्रि के गहन अन्धकार का नाश होते ही ज्यो ही सुनहरा प्रभात होता है और मनुष्य निद्रा से जाग उठता है, तब वह पवित्र आत्माओ का शुभ नाम सर्वप्रथम स्मरण करता है। गुरुदेव का नाम इसके लिए पूर्णतया उचित है। अत गुरुदेव सच्चे अर्थों मे कल्याण रूप है।

कल्याण का एक और अर्थ आचार्य हेमचन्द्र करते हैं। उनका अर्थ भी सुन्दर है।

'कल्य नीरुजत्वमणतीति'

—अभिधानचिन्तामणि १/८६

कल्य का अर्थ है—नीरोगता—स्वस्थता। जो मनुष्य को नीरोगता प्रदान करता है, वह कल्याण है। यह अर्थ आगम के टीकाकारो को भी अभीष्ट है—

कल्योऽस्यन्तनीरुक्तया मोक्षस्तमाणयति प्रापयतीतिकल्याण' मुक्तिहेतौ
—उत्तरा०, टीका, अ० ३

यहाँ कहा गया है कि कल्याण का अर्थ मोक्ष है, क्योकि वही ऐसा पद है जहाँ आत्मा पूर्णतया कर्म-रोग से मुक्त हो कर स्वस्थ होता है—आत्मस्वरूप मे स्थित होता है। अस्तु, जो कल्य—मोक्ष प्राप्त भी कराए, वह कल्याण होता है। यह अर्थ गुरुदेव के महान् व्यक्तित्व के लिए सर्वथा अनुरूप है। गुरु ही हमे मोक्षप्राप्ति के साधनो के उपदेशक होने के कारण मोक्ष मे पहुँचाने वाले हैं।

मगल का अर्थ कल्याण के समान ही शुभ, क्षेम, प्रशस्त एव शिव होता है। परन्तु, जब हम व्याकरण की गहराई मे उतरते है, तो हमे मगल शब्द की अनेक व्युत्पत्तियो के द्वारा एक-से-एक मनोहर एव गभीर भाव दृष्टि-गोचर होते हैं।

आवश्यक निर्युक्ति के आधार पर आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक-सूत्र के प्रथम अध्ययन के प्रथम गाथासूत्र की टीका मे लिखते हैं—

'मग्यते=अधिगम्यते हितमनेन इति मंगलम्'

—जिसके द्वारा साधक को हित की प्राप्ति हो वह मगल है। अथवा—

'मां गालयति भवादिति मंगलम्, संसारादपनयति'

—जो मत्पदवाच्य आत्मा को ससार के वन्धन से अलग करता है, छुड़ाता है, वह मगल है।

उक्त दोनो व्युत्पत्तियाँ गुरुदेव पर पूर्णतया ठीक उतरती हैं। गुरुदेव के द्वारा ही साधक को आत्म-हित की प्राप्ति होती है और सासारिक काम, क्रोध आदि वन्धनो से छटकारा मिलता है।

विशेषावश्यक भाष्य के प्रसिद्ध टीकाकार श्री मल्लधारी हेमचन्द्र कहते हैं—

'मङ्ग्यते=अलङ्क्रियते आत्मा इति मगलम्'
—विशेषा० गा० २३ शिष्यहितावृत्ति

—जिसके द्वारा आत्मा शोभायमान हो, वह मगल है।

'मोदन्ते अनेन इति मगलम्'

जिससे आनन्द तथा हर्ष प्राप्त हो वह मगल है।

'मह्यन्ते=पूज्यन्ते अनेन इति मगलम'

जिसके द्वारा साधक पूज्य—विश्ववन्द्य होते है, वह मगल है।

सद्‌गुरु ही साधक को ज्ञानादि गुणो से अलकृत करते है, निश्रेयस् का मार्ग बता कर आनन्दित करते है, अन्त मे आध्यात्मिक साधना के उच्च शिखर पर चढा कर त्रिभुवन-पूज्य बनाते है, अतः सच्चे मगल वे ही हैं।

एक आचार्य मगल शब्द की और ही व्युत्पत्ति करते हैं। वह भी बडी ही सरस एव भावना-प्रधान है।

'मंगति=हितार्थं सर्पति इति मगलम्'

—जो सब प्राणियो के हित के लिए प्रयत्नशील होता है, वह मंगल है।

'मगति दूर दुष्टमनेन अस्माद् वा इति मगलम्'

जिसके द्वारा दुर्दैव, दुर्भाग्य आदि सब सकट दूर हो जाते है वह मगल है।

उक्त व्युत्पत्तियो के द्वारा भी गुरुदेव ही सच्चे मगल सिद्ध होते है। जिसके द्वारा हित और अभीष्ट की प्राप्ति हो, वही तो मगल है। गुरुदेव से बढ कर हित तथा अभीष्ट की प्राप्ति का साधक दूसरा और कौन होगा ? द्रव्य मगलो की प्रवचना मे न पडकर गुरुदेव-रूप अध्यात्म-मगल की उपासना करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। अभ्युदय एव निश्रेयस् के द्वार गुरुदेव ही तो खोल सकते हैं।

'देवय' का सस्कृत रूप दैवत होता है। दैवत का अर्थ देवता है। मानव, देवताओ का आदिकाल से ही पुजारी रहा है। वैदिक-साहित्य तो देवताओ की पूजा से ही भरा पडा है। परन्तु यहाँ उन देवताओ से मतलब नही है। साधारण भोग-विलासी देवताओ के चरणो मे मस्तक झुकाने के लिए जैन-धर्म नही कहता। यहाँ तो उत्कृष्ट मानव मे ही देवत्व की उपासना की जाती है। आचार्य हरिभद्र के अष्टक प्रकरण की टीका मे श्री जिनेश्वर सूरि कहते हैं—

'दीव्यन्ति स्वरूपे इति देवा'।'

—अष्टक-प्रकरण टीका २९ अष्टक

अर्थात् जो अपने आत्म-स्वरूप मे चमकते है, वे देव हैं। गुरुदेव

पर यह व्युत्पत्ति ठीक उतरती है। गुरुदेव अपना अलौकिक चमत्कार शुद्ध आत्म-तत्त्व मे ही दिखाते हैं।

भगवान् महावीर भी सदाचार के ज्वलत सूर्य-रूप अपने साधु-अनगारो को देव कहते हैं। भगवती-सूत्र मे पाँच प्रकार के देवो का वर्णन है। उनमे चतुर्थ श्रेणी के देव, धर्मदेव वतलाए है, जो कि मुनि हैं—

"गोयमा ! जे इमे अणगारा भगवतो इरियासमिया० जाव गुत्तबभयारी, से तेणट्ठेणं एव वुच्चइ धम्मदेवा"

—भगवती-सूत्र, श० १२, उद्दे० ६

गुरु का गौरव

*

अहिंसा और सत्य आदि के महान् साधको को जैन-धर्म मे ही नही, वैदिक-धर्म मे भी देव कहा है। कर्मयोगी श्री कृष्ण दैवी सम्पदा का कितना सुन्दर वर्णन करते हैं—

अभय सत्त्व-सशुद्धिर्ज्ञान-योग-व्यवस्थिति ।
दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥

—गीता १६।१।

स्वाभाव से ही निर्भय रहना, सन्मार्ग मे किसी से भी न डरना, सब को मन, वाणी और कर्म से अभयदान देना— अभय है। झूठ, कपट, दभ आदि के मल से अन्त करण को शुद्ध रखना, सत्व सशुद्धि है। ज्ञान् योग की साधना मे दृढ रहना—ज्ञानयोग-व्यवस्थिति है। दान—किसी अतिथि को कुछ देना। दम—इन्द्रियो का निग्रह। यज्ञ—जन सेवा के लिए उचित प्रवृत्ति करना। स्वाध्याय, तप और सरलता।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्व मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध-क्रोध न करना, विषय-वासनाओ का त्याग, शान्ति—चित्त की अनुद्विग्नता, अपैशुन-चुगली न करना, दया—सब जीवो को अपने समान समझ कर उन्हे कष्टो से छुडाने का भरसक प्रयत्न करना, अलोलुपता—अनासक्ति, मार्दव—कोमलता, लज्जा—अयोग्य कार्य करते हुए लजाना, अचपलता—विना प्रयोजन यो ही व्यर्थ चेष्टा न करना।

तेज क्षमा. घृति शौचमद्रोहो नातिमानता ।
भवन्ति सम्पद दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज—अहिंसा आदि गुण-गौरव के लिए निर्भय भाव से प्रभावशाली रहना, क्षमा, धैर्य, शौच—मन, वाणी शरीर की आचरण-मूलक पवित्रता, अद्रोह—किसी भी प्राणी से घृणा और वैर न रखना, अपने-आपको दूसरो से बडा मानने का अहकार न करना और नम्र रहना—ये सब दैवी सम्पत्ति के लक्षण है।

उक्त गुणो का धारक मानव, साधारण मानव नही, देव हे—परम देव परमात्मा के पद का आराधक है। आसुरी भावना से निकल कर जब मनुष्य दैवी भावना मे आता है, तब वह जीवन की अमर पवित्रता प्राप्त करता है, माया के बन्धन से छूटता है, विश्व का गुरु बनता है, और बिना किसी भेदभाव के सबको अजर, अमर सत्य का ज्ञान दान देकर मुमुक्षु जनता का उद्धार करता है।

वस्तुत विचार किया जाए, तो गुरुदेव का पद, देवता तो क्या, साक्षात् परमेश्वर के समान है। परमात्मा का अर्थ है—परम अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा। गुरुदेव की आत्मा साधारण आत्मा नही, उत्कृष्ट आत्मा ही है। मानव-जीवन मे काम, क्रोध, मद, लोभ वासना आदि पर विजय प्राप्त करना आसान काम नही है। बडे-बडे वीर, धीर, शूर भी इन विकारो के आवेग के समय हतप्रभ हो जाते है। भयकर गजराज को वश मे करना, काल-मूर्ति सिंह की पीठ पर सवार होना, ससार के एक छोर से दूसरे छोर तक विजय प्राप्त कर लेना बहुत ही आसान है, परन्तु अपने अन्दर मे ही रहे हुए विकार-रूप शत्रुओ पर विजय प्राप्त करना, किसी विरले ही आत्म-साधक का काम है। कोई महान् प्रतापी एव तेजस्वी आत्मा ही अन्तरग शत्रुओ को नष्ट कर सकता है। अतएव एक आचार्य ने ठीक ही कहा है कि स्त्री और धन-इन दो पाशो मे सारा संसार जकडा हुआ है। अत जिसने इन दोनो पर विजय प्राप्त करली है, वीतरागता धारण करली है, वह दो हाथो वाला साक्षात् परमेश्वर है—

कान्ता कनक—सूत्रेण, वेष्टित सकलं जगत्,
तासु तेषु विरक्तो यो, द्विभुज परमेश्वर ।

जैन-साहित्य मे भी इसी भावना को लक्ष्य मे रखकर गुरु देव को

'भन्ते' शब्द से सम्बोधित किया गया है। भन्ते का अर्थ भगवान् है। देखिए, 'करेमि भन्ते' आदि सूत्र।

'चैत्य' शब्द की अनेकार्थकता

*

'चेइय'—प्राकृत शब्द का सस्कृत रूप चैत्य है। इसके सम्बन्ध मे कुछ साम्प्रदायिक विवाद है। कुछ विद्वान् चैत्य का अर्थ ज्ञान करते है। इस परम्परा के अनुयायी स्थानकवासी है। दूसरे विद्वान् चैत्य का अर्थ प्रतिमा करते हैं। इस परम्परा के अनुयायी श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक है। चैत्य शब्द अनेकार्थक है, अत प्रसगानुसार ही इसका अर्थ ग्रहण किया जाता है। प्रस्तुत प्रसग मे कौनसा अर्थ अभिप्रेत है, इस पर थोडा विचार करना अत्यावश्यक है।

चैत्य का ज्ञान अर्थ करने मे तो कोई विवाद ही नही है। ज्ञान, प्रकाश का वाचक है। अत· गुरुदेव को 'ज्ञान' कहना, प्रकाश शब्द से सम्बोधित करना, सर्वथा औचित्यपूर्ण है। 'चिती सज्ञाने' धातु से चैत्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ ज्ञान है।

चैत्य का दूसरा अर्थ प्रतिमा भी यहाँ घटित ही है, अघटित नही। मूर्ति-पूजक विद्वान् भी यहाँ चैत्य का अभिधेय अर्थ मूर्ति न करके, लक्षणा द्वारा मूर्ति-सदृश पूजनीय अर्थ करते हैं। जिस प्रकार किसी मूर्ति-पूजक पन्थ के अनुयायी को अपने इष्ट देव की प्रतिमा आदरणीय एव सत्करणीय होती है, उसी प्रकार गुरुदेव भी सत्करणीय हैं। यह उपमा है। उपमा लौकिक पदार्थो की भी दी जा सकती है, इसमे किसी सम्प्रदायविशेष का अभिमत मान्य एवं अमान्य नही हो जाता। स्थानकवासी यदि यह अर्थ स्वीकार करें, तो कोई आपत्ति नही है। क्या हम ससार मे लोगो को अपने-अपने इष्टदेव की प्रतिमाओ का आदर-सत्कार करते नही देखते है? क्या उपमा देने मे भी कुछ दोष है? यहाँ तीर्थ कर की प्रतिमा के सदृश तो नही कहा है और न श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आचार्यो ने ही यह माना है। देखिए अभयदेव सूरि क्या लिखते हैं?—

'चैत्यमिष्टदेवप्रतिमा, चैत्यमिव चैत्य पर्युपासयाम'

—भग० २ श०, १ उ०

यह भगवती का स्थल भगवान् महावीर से सम्बन्ध रखता है।

अत. साक्षात् भगवान् को वन्दना करते समय उनको उनकी ही मूर्ति के सदृश बताना, कैसे उचित हो सकता है ? अस्तु, लोक-प्रचलित उपमा देना ही यहाँ अभीष्ट है।

उक्त दो अर्थो के अतिरिक्त, 'चैत्य' शब्द के कुछ और भी अर्थ किए जाते हैं। आचार्य अभयदेव स्थानाग सूत्र की टीका मे लिखते हैं कि 'जिनके देखने से चित्त मे आह्लाद उत्पन्न हो, वे चैत्य होते है—

'चित्ताह्लादकत्वाद्वा चैत्या.'

—स्थानागटीका ४/२

यह अर्थ भी यहाँ प्रसगानुकूल है। गुरुदेव के दर्शन से किस भक्त के हृदय मे आह्लाद उत्पन्न नही होता ?

राजप्रश्नीयसूत्र मे उक्त पाठ पर टीका करते हुए सुप्रसिद्ध आगमिक विद्वान् आचार्य मलयगिरि ने एक और ही विलक्षण एव भावपूर्ण अर्थ किया है। उनका कहना है कि चैत्य वह है—जो मन को सुप्रशस्त, सुन्दर, शान्त एव पवित्र बनाए—

चैत्य सुप्रशस्तमनोहेतुत्वाद् ।'

—राज० १८ कण्डिका, सूर्याभदेवताधिकार

यह अर्थ भी यहाँ पूर्णतया सगत है। हमारे वासना-कलुषित अप्रशस्त मन को प्रशस्त बनाने वाले शुद्ध चैत्य गुरुदेव ही तो हैं। उनके अतिरिक्त और कौन है, जो हमारे मन को प्रशस्त कर सके ?

वंदना का महान् फल

*

अन्त मे, पुन 'वंदामि' शब्द पर कहना है कि अपने महोपकारी गुरुदेव के प्रति वन्दना-क्रिया साधक जीवन की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण क्रिया है। अपने अभिमान को त्याग कर गद्गद् हृदय से साधक गुरु के चरणो मे स्वय को विनय-पूर्वक अर्पण करता है, तो आत्मा मे वह अलौकिक ज्ञान-प्रभा विकसित होती है, जो साधक को अध्यात्म पद के ऊँचे शिखर पर पहुँचा देती है। भगवान् महावीर ने कहा है—

"वदणएण जीवे नीयागोय कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्म निबधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहय आणाफल निव्वत्तेइ, दाहिणभाव च जणयइ।"

—उत्तरा०, २६/१०

—वन्दन करने से नीचगोत्र कर्म का क्षय होता है, उच्च गोत्र का अभ्युदय होता है, सौभाग्य लक्ष्मी का उपार्जन किया जाता है, प्रत्येक मनुष्य सहर्ष—विना आनाकानी के आज्ञा स्वीकार करने लगता है, और वह दाक्षिण्यभाव—श्रेष्ठ सभ्यता को प्राप्त होता है !

भगवान् महावीर का उपर्युक्त कथन पूर्णतया सत्य है। राजा श्रेणिक ने भक्तिभाव-पूर्वक मुनियो को वन्दन करने के कारण छह नरक के सचित पाप नष्ट कर डाले थे, यह ऐतिहासिक घटना जैन-इतिहास मे सुप्रसिद्ध है। आजकल के भक्तिभावना-शून्य मनुष्य वन्दन का क्या महत्त्व समझ सकते है ? अब तो उष्ट्र वन्दनाएँ होती है। क्या मजाल जरा भी सिर झुक जाए ! बहुत से सज्जन एक इच भी शरीर को नही नमायेंगे, केवल मुख से 'दडवत्' या 'पाँव लगो' कह देंगे, और समझ लेंगे कि बस वन्दना का बेडा पार कर दिया।

वंदन : द्रव्य और भाव

*

आगम-साहित्य मे वन्दना के दो प्रकार बताए है—द्रव्य और भाव। दो हाथ, दो पैर और एक मस्तक, शरीर के इन पाँच अगो से उपयोग शून्य वन्दन करना द्रव्यवन्दन है। और, इन्ही पाँच अगो से भाव-सहित विशुद्ध एव निर्मल मन के द्वारा उपयोग सहित वन्दन करना भाव-वन्दन है। भाव के विना द्रव्य व्यर्थ है, उसका आध्यात्मिक जीवन मे कोई अर्थ नही।

वन्दन-विधि

*

मूल-पाठ मे जो प्रदक्षिणा शब्द आया है, उसका क्या भाव है ? उत्तर मे कहना है कि प्राचीनकाल मे तीर्थङ्कर या गुरुदेव समवसरण अर्थात् सभा के ठीक बीच मे बैठते थे। अत आगन्तुक भगवान् के या गुरु के चारो ओर घूम कर, फिर सामने आकर, पचाग नमाकर वन्दन करता था। गुरुदेव के दाहिने हाथ से घूमना शुरू किया जाता था। अत आदक्षिण प्रदक्षिणा होती थी। प्रदक्षिणा का यह क्रम तीन बार चलता था। और प्रत्येक प्रदक्षिणा की समाप्ति पर वन्दन होता था। दुर्भाग्य से, वह परम्परा आज विच्छिन्न हो गयी है। अत अब तो गुरुदेव के दाहिनी ओर से बाईं ओर तीन बार अंजलि-

वद्ध हाथ घुमा कर आवर्तन करने का नाम ही प्रदक्षिणा है। आज-कल की उक्त प्रदक्षिणा क्रिया का स्पष्ट रूप आरती उतारने की प्रचलित पद्धति से अच्छी तरह मिलता है। कुछ सज्जन भ्रान्ति-वश अपने हाथो से अपने ही दक्षिण और वाम हस्त समझ वैठते है। फलत. अपने मुख का ही आवर्तन करने लग जाते हैं। प्रदक्षिणा-क्रिया का वह प्राचीन रूप नही रहा, तो कम-से-कम प्रचलित रूप को तो सुरक्षित रखना चाहिए। इसे भी क्यो नष्ट-भ्रष्ट किया जाए।

जहां तक वौद्धिक चिन्तन का सम्वन्ध है, 'तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिण करेमि' तक का पाठ मुख से वोलने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती। इसका सम्वन्ध तो करने से है, वोलने से नही। यह विधि-अश का पाठ है। असली पाठ 'वन्दामि' से शुरु होता है।

❀ ❀

८ || आलोचना-सूत्र

इच्छाकारेण संदिसह भगवं !
इरियावहियं पडिक्कमामि ?
इच्छं, इच्छामि पडिक्कमिउं ।१।
इरियावहियाए, विराहणाए ।२।
गमणागमणे ।३।
पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे,
ओसा-उत्तिग-पणग-दग-मट्टी—मक्कडा-संताणा-संकमणे ।४।
जे मे जीवा विराहिया ।५।
एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया ।६।
अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया,
संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया,
ठाणाओ ठाणं संकामिया जीवियाओ ववरोविया
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।७।

शब्दार्थ

भगवं=हे भगवन् !
इच्छाकारेण=इच्छापूर्वक
संदिसह=आज्ञा दीजिए

[ताकि]
इरियावहियं=ऐर्यापथिकी क्रिया का
पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करूँ

[गुरुदेव के आज्ञा देने पर]
इच्छं=आज्ञा प्रमाण है
इच्छामि=चाहता हूँ
पडिक्कमिउं=निवृत्त होने को
[किस से ?]
इरियावहियाए=ईर्यापथ-सम्बन्धिनी
विराहणाए=विराधना से
[विराधना किन जीवों की, और किस तरह ?]
गमणागमणे=जाने-आने मे
पाणक्कमणे=किसी प्राणी को दबाने से
बीयक्कमणे=बीज को दबाने से
हरियक्कमणे=वनस्पति को दबाने से
ओसा=ओस को
उत्तिग=कीडी आदि के बिल को
पणग=पाँच वर्ण की काई को
दग=जल को
मट्टी=मिट्टी को
मक्कडा-संताणा=मकडी के जालो को
संकमणे=कुचलने से, मसलने से
[उपसहार]
मे=मैंने
जे=जो
जीवा=जीव
विराहिया=पीड़ित किए हो
[कौन से जीव ?]
एगिंदिया=एक इन्द्रिय वाले
बेइंदिया=दो इन्द्रिय वाले
तेइंदिया=तीन इन्द्रिय वाले
चउरिंदिया=चार इन्द्रिय वाले
पंचिंदिया=पाँच इन्द्रिय वाले
[किस तरह पीडित किए हो ?]
अभिहया=सामने से आते रोके हो
वत्तिया=धूल आदि से ढके हो
लेसिया=परस्पर मसले हो
संघाइया=इकट्ठे किए हो
संघट्टिया=छुए हो
परियाविया=परितापना दी हो
किलामिया=थकाये हो
उद्दविया=हैरान किए हो
ठाणाओ=एक स्थान से
ठाणं=दूसरे स्थान पर
संकामिया=रखे हो
जीवियाओ=जीवन से
ववरोविया=रहित किए हो
तस्स=उसका
दुक्कडं=दुष्कृत-पाप
मि=मेरे लिए
मिच्छा=निष्फल हो

भावार्थ

भगवन् ! इच्छा के अनुसार आज्ञा दीजिए कि मैं ऐर्यापथिकी—गमन मार्ग मे अथवा स्वीकृत धर्माचरण मे होने वाली पाप-क्रिया का प्रतिक्रमण करूँ ?

[गुरुदेव की ओर से आज्ञा मिल जाने पर कहना चाहिए कि]
भगवन्, आज्ञा प्रमाण है।

मार्ग मे चलते-फिरते जो विराधना—किसी जीव को पीडा हुई हो, तो मैं उस पाप से निवृत्त होना चाहता हूँ।

गमनागमन मे किसी प्राणी को दवाकर, सचित्त वीज एव वनस्पति को कुचलकर, आकाश से गिरने वाली ओस, चीटी के विल, पाँचो रग की काई, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकडी के जालो को मसलकर, एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक किसी भी जीव की विराधना-हिंसा की हो, सामने आते हुओ को रोका हो, धूल आदि से ढका हो, जमीन पर या आपस मे रगडा हो, एकत्रित करके ऊपर-नीचे ढेर किया हो, अनावधानी से क्लेश-जनक रीति से छुआ हो, परितापना दी हो, श्रात किया हो—थकाया हो, त्रस्त—हैरान किया हो, एक जगह से दूसरी जगह वदला हो, अधिक क्या—जीवन से ही रहित किया हो, तो मेरा वह सव पाप हार्दिक पश्चाताप के द्वारा मिथ्या हो—निष्फल हो।

विवेचन

विवेक वनाम यतना

✲

जैन-धर्म मे विवेक का वहुत महत्त्व है। प्रत्येक क्रिया के पीछे विवेक का रखना, यतना का विचार करना, श्रावक एव साधु दोनो साधको के लिए अतीव आवश्यक है। इधर-उधर कही भी आना-जाना हो, उठना-वैठना हो, वोलना हो, लेना-देना हो, कुछ भी काम करना हो, सर्वत्र और सर्वदा विवेक को हृदय से न जाने दीजिए। जो भी काम करना हो, अच्छी तरह सोच-विचार कर, देख-भाल कर यतना के साथ कीजिए, आपको पाप नही लगेगा। पाप का मूल-प्रमाद है, अविवेक है। जरा भी प्रमाद हुआ कि पाप की कालिमा हृदय पर दाग लगा देगी। भगवान् महावीर कठोर निवृत्ति-धर्म के पक्षपाती हैं। परन्तु, उनकी निवृत्ति का यह अर्थ नही कि मनुष्य सव ओर से निष्क्रिय होकर वैठ जाए, किसी भी काम का न रहे, जीवन को सर्वथा शून्य ही वना ले। उनकी निवृत्ति जीवन को निष्क्रिय न वना कर, दुष्क्रिय से शुभ-क्रिय वनाती है। विवेक के प्रकाश मे जीवन-पथ पर अग्रसर होने को कहती है। यही कारण है कि शास्त्रो मे साधक को सर्वथा यतमान रहने का आदेश दिया गया है। कहा गया है कि यतना-पूर्वक चलने-फिरने, खडे होने, वैठने, सोने, वोलने-चालने, खाने-पीने आदि से पाप-कर्म

का वन्ध नही होता, क्योकि पाप-कर्म के वन्धन का मूल अयतना है—

जयं चरे जय चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जय भुजंतो भासतो,पाव-कम न बंधई ॥

—दश० ४/८

प्रस्तुतसूत्र हृदय की कोमलता का ज्वलन्त उदाहरण है। विवेक और यतना के सकल्पो का जीता-जागता चित्र है। आवश्यक प्रवृत्ति के लिए कही इधर-उधर आना-जाना हुआ हो, और यतना का ध्यान रखते हुए भी, यदि कही अनवधानता-वश किसी जीव को पीड़ा पहुँची हो, तो उसके लिए उक्त पाठ मे पश्चात्ताप किया गया है। साधारण मनुष्य आखिर भूल का पुतला है। सावधानी रखते हुए भी कभी-कभी भूल कर वैठता है, लक्ष्य-च्युत हो जाता है। भूल होना कोई असाधारण घातक चीज नही है, परन्तु उन भूलो के प्रति उपेक्षित रहना, उन्हें स्वीकार ही न करना, किसी प्रकार का मन मे पश्चात्ताप ही न लाना, भयंकर चीज है। जैन-धर्म का साधक जरा-जरा-सी भूलो के लिए पश्चात्ताप करता है और हृदय की जागरूकता को कभी भी सुप्त नही होने देता। वही साधक अध्यात्म-क्षेत्र मे प्रगति कर सकता है, जो ज्ञात या अज्ञात किसी भी रूप से होने वाले पाप कार्यों के प्रति हृदय से विरक्ति व्यक्त करता है, उचित प्रायश्चित्त लेकर आत्मविशुद्धि का विकास करता है, और भविष्य के लिए विशेष सावधान रहने का प्रयत्न करता है।

हृदय-विशुद्धि

प्रस्तुत पाठ के द्वारा उपर्युक्त आलोचना की पद्धति से, पश्चात्ताप की विधि से, आत्म-निरीक्षण की शैली से, आत्म—विशुद्धि का मार्ग बताया गया है। जिस प्रकार वस्त्र मे लगा हुआ मैल खार और साबुन से साफ किया जाता है, वस्त्र को अपनी स्वाभाविक शुद्ध दशा मे लाकर स्वच्छ-श्वेत वना लिया जाता है, उसी प्रकार गमनागमनादि क्रियाएँ करते समय अशुभयोग, मन की चंचलता तथा अविवेक आदि के कारण अपने विशुद्ध सयम-धर्म में किसी भी तरह का कुछ भी पाप मल लगा हो, तो वह सब पाप प्रस्तुत-पाठ के चिन्तन द्वारा साफ किया जाता है। अर्थात् आलोचना के द्वारा अपने सयम धर्म को पुनः स्वच्छ, शुद्ध वनाया जाता है।

प्रत्येक कार्य के लिए क्षेत्र-विशुद्धि का होना अतीव आवश्यक है। साधारण किसान भी वीज वोने से पहले अपने खेत के झाड-झखाडो को काट-छाँट कर साफ करता है, भूमि को जोत कर उसे कोमल वनाता है, ऊँची-नीची जगह को समतल करता है, तभी धान्य के रूप मे वीज वोने का सुन्दर फल प्राप्त करता है, अन्यथा नही। ऊसर भूमि मे यो ही फेंक दिया जाने वाला बीज नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, पनप नही पाता। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी सामायिक आदि प्रत्येक पवित्र क्रिया करने से पहले, धर्म-साधना का वीजारोपण करने से पहले, अपनी हृदय-भूमि को विशुद्ध और कोमल वनाना चाहिए। पाप-मल से दूषित हृदय मे सामायिक की, अर्थात् समभाव की पवित्र सुवास कभी नही फैल सकती। पाप-मूर्च्छित हृदय, सामायिक के द्वारा सहसा तरोताजगी नही पा सकता। इसीलिए, जैन-धर्म मे पद-पद पर हृदय शुद्धि का विधान किया है। और, यह हृदय-शुद्धि आलोचना के द्वारा ही होती है। प्रस्तुत आलोचना-सूत्र का यही महत्त्व है—यह पाठको के ध्यान मे रहना चाहिए।

गमनागमन आदि प्रवृत्तियो मे किस प्रकार, किन-किन जीवो को पीडा पहुँच जाती है? इसका कितनी सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है। सूत्रकार की दृष्टि कितनी अधिक पैनी है। देखिए, वह किस प्रकार जरा-जरा-सी भूलो को पकड रही है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी सूक्ष्म और स्थूल जीवो के प्रति क्षमा-याचना करने का, और हृदय को पश्चात्ताप द्वारा विमल वनाने का वडा ही प्रभाव-पूर्ण विधान है यह।

मानसिक—कोमलता

✿

आप कहेगे कि यह भी क्या पाठ है? कीडे, मकोडे तथा वनस्पति और वीज तक की सूक्ष्म हिंसा का उल्लेख कुछ औचित्य-पूर्ण नहीं जँचता? यह भी भला हिंसा है?

मैं कहूँगा, जरा हृदय को कोमल वना कर उन पामर जीवो की ओर नजर डालिए। आपको पता लगेगा कि उनको भी जीवन की उतनी ही अपेक्षा है, जितनी आपको। जव तक हृदय मे उपेक्षा है, कठोरता है, तव तक उनके जीवन का मूल्य आपकी आँखो मे नही चढ सकता, वैसे ही, जैसे कि नर-भक्षी सिंह की आँखो मे आपके जीवन का मूल्य। परन्तु, जो भावुक-हृदय हैं, दयालु हैं, उनको दूसरे

सत्य, शील, नम्रता आदि आत्म-गुणो की भी हिंसा करता है। अतः स्पष्ट है कि स्व-हिंसा के क्षेत्र मे सभी पापो का समावेश हो जाता है।

प्रस्तुत पाठ का नाम ऐर्यापथिकी-सूत्र है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसका अर्थ किया है—

'ईरणं'—ईर्या—गमनमित्यर्थ., तत्प्रधान. पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी'—

—योगशास्त्र (३/१२४) स्वोपज्ञवृत्ति

ईर्या का अर्थ गमन है, गमन-युक्त जो पथ—मार्ग वह ईर्या—पथ कहलाता है। ईर्या पथ मे होने वाली क्रिया—विराधना ऐर्यापथिकी है। मार्ग मे इधर उधर जाते-आते जो हिंसा, असत्य आदि क्रियाएँ हो जाती हैं, उन्हे ऐर्यापथिकी कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र एक और भी अर्थ करते हैं—

'ईर्यापथ साध्वाचार.

—योगशास्त्र, (३/१२४) स्वोपज्ञ-वृत्ति

आचार्य श्री का अभिप्राय है कि ईर्यापथ साधुआचार—श्रेष्ठ आचार को कहते है और उसमे जो पाप—कालिमा लगी हो, उसको ऐर्यापथिकी कहा जाता है। उक्त कालिमा की शुद्धि के लिए ही प्रस्तुत पाठ है।

'मिच्छामि दुक्कडं' का हार्द

✿

प्रश्न है, केवल 'मिच्छा मि दुक्कड' कहने से पापो की शुद्धि किस प्रकार हो जाती है ? क्या यह जैना की तोबा है, जो बोलते ही गुनाह माफ हो जाते हैं ? बात, जरा विचारने की है। केवल 'मिच्छा मि दुक्कड' का शब्द पाप दूर नहीं करता। पाप दूर करता है—'मिच्छा मि दुक्कड' शब्दो से व्यक्त होने वाला साधक के हृदय मे रहा हुआ पश्चात्ताप। पश्चात्ताप की शक्ति बहुत बडी है। यदि निष्प्राण रूढि के फेर मे न पडकर, शुद्ध हृदय के द्वारा अन्दर की गहरी लगन मे पापो के प्रति विरक्ति प्रकट की जाए, पश्चात्ताप किया जाए, तो अवश्य ही पापकालिमा धुल जाती है। पश्चात्ताप का विमल वेगशाली झरना, अन्तरात्मा पर जमे हुए दोष-रूप कूडे-करकट को बहा कर दूर फेंक देता है, आत्मा को शुद्ध-पवित्र बना देता है।

श्री भद्रवाहु स्वामी ने आवश्यक सूत्र पर एक विशाल निर्युक्ति ग्रन्थ लिखा है । उसमे 'मिच्छा मि दुक्कड' के प्रत्येक अक्षर का निर्वचन उपर्युक्त विचारो को लेकर वडे ही भाव-भरे ढग से किया है। वे लिखते हैं—

'मि' त्ति मिउ-मद्दवत्ते,
'छ' त्ति अ दोसाण छादणे होइ ।
'मि' त्ति अ मेराइ ठिओ,
'दु' त्ति दुगछामि अप्पाण ।। १५०० ।।
'क' त्ति कड मे पाव,
'ड' त्ति य डेवेमि त उवसमेण ।
एसो मिच्छा दुक्कड-
पयक्खरत्थो समासेण ।।१५.१ ।।

—आवश्यक-निर्युक्ति

गाथाओ का भावार्थ '**नामैकदेशे नाम ग्रहणम्**'—न्याय के अनुसार इस प्रकार है—'मि' मृदुता—कोमलता तथा अहकाररहितता के लिए है। 'छ' दोषो को त्यागने के लिए है। 'मि' सयम-मर्यादा मे दृढ रहने के लिए है। 'दु' पाप कर्म करने वाली अपनी आत्मा की निन्दा के लिए है। 'क' कृत पापो की स्वीकृति के लिए है। और 'ड' उन पापो को उपशमाने के लिए—नष्ट करने के लिए है।

प्रस्तुत सूत्र मे कुल कितने प्रकार की हिंसा है और उसकी शुद्धि के लिए 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड' मे 'कितने मिच्छामि दुक्कड' की भावनाएँ छपी हुई है ? हमारे प्राचीन आचार्यो ने इस प्रश्न पर भी अपना स्पष्ट निर्णय दिया है। ससार मे जितने भी ससारी प्राणी हैं, वे सव के सव ५६३ प्रकार के हैं, न अधिक और न कम। उक्त पाँच सौ तिरेसठ भेदो मे पृथ्वी, जल आदि पाच स्थावर और मनुष्य, तिर्यच, नारक तथा देव आदि त्रस, सभी जीवो का समावेश हो जाता है। अस्तु उपर्युक्त ५६३ भेदो को 'अभिहया' से 'जीवियाओ ववरोविया' तक के दश पदो से, जो कि जीवो की हिंसा-विषयक हैं, गुणन करने से ५६३० भेद होते हैं। यह दश-विध विराधना अर्थात् हिंसा राग और द्वेप के कारण होती है, अत इन सव भेदो को दो मे गुणन करने पर ११२६० भेद हो जाते हैं। यह विराधना मन, वचन, और काय से होती है, अत तीन से गुणन करने पर ३३७८० भेद वन जाते हैं।

विराधना करना, कराना और अनुमोदन करने के रूप मे तीन प्रकार से होती है, अतः तीन से गुणन करने पर १० १३ ४० भेद हो जाते हैं। इन सबको भी भूत, भविष्यत् और वर्तमान रूप तीन काल से गुणन करने पर ३० ४० २० भेद हो जाते है। इन को भी अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, गुरु और निज आत्मा—उक्त छह की साक्षी से गुणन करने पर सब १८ २४ १२० भेद होते हैं। 'मिच्छामि दुक्कड' का कितना वडा विस्तार है। साधक को चाहिए कि शुद्ध हृदय से प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्री भावना रखते हुए कृत पापो की अरिहन्त आदि की साक्षी से आलोचना करे, अपनी आत्मा को पवित्र बनाए।

जीव-जातिया

*

सपूर्ण विश्व मे जितने भी ससारी जीव हैं उन सब को जैन-दर्शन ने पाच जातियो मे विभक्त किया है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी जीव उक्त पाँच जातियो मे आ जाते है। वे पाँच जातियाँ इस प्रकार हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। श्रोत्र—कान, चक्षु—आख, घ्राण—नाक, रसन—जिह्वा और स्पर्शन—त्वचा—ये पाच इन्द्रियाँ हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति एकेन्द्रिय जीव हैं, इनको एक स्पर्शन इन्द्रिय ही है। कृमि, शख, सीप आदि द्वीन्द्रिय हैं, इनको स्पर्शन और रसन दो इन्द्रियाँ हैं। चीटी, मकोडा, खटमल, जू आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं, इनको स्पर्शन, रसन और घ्राण तीन इन्द्रियाँ हैं। मक्खी, मच्छर, बिच्छू आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं, इनको उक्त तीन और एक चक्षु कुल चार इन्द्रियाँ हैं। गर्भ से पैदा होने वाले तिर्यंच, मनुष्य तथा नारक एव देव पचेन्द्रिय जीव हैं, इनको श्रोत्र मिला कर पूरी पाच इन्द्रियाँ हैं।

'इन्द्रिय' का अर्थबोध

*

'इन्द्र' नाम आत्मा का है। क्योकि वही अखिल विश्व मे ऐश्वर्य शाली है। जड जगत् मे ऐश्वर्य कहाँ? वह तो आत्मा का ही अनुचर है, दास है। अतएव कहा है—

'इन्दति-ऐश्वर्यवान् भवतीति इन्द्र.'

—निरुक्त ४/१/८

और जो इन्द्र—आत्मा का चिह्न हो, ज्ञापक हो, बोधक हो, अथवा आत्मा जिसका सेवन करता हो, वह इन्द्रिय कहलाता है। इस व्युत्पत्ति के लिए देखिये—पाणिनीय अष्टाध्यायी का पाचवा अध्याय, दूसरा पाद और ६३वा सूत्र। उक्त निर्वचन के अनुसार श्रोत्र आदि पाचो ही इन्द्रियपद-वाच्य है। ससारी आत्माओ को जो कुछ भी सीमित बोध है, वह सब इन इन्द्रियो के द्वारा ही तो है!

पाठ-विधि

*

ऐर्यापथिक-सूत्र के पढने की विधि भी बडी सुन्दर एव सरस है। 'तिक्खुत्तो' के पाठ से तीन बार गुरुचरणो मे वन्दना करने के पश्चात् गुरुदेव के समक्ष नत-मस्तक खडा होना चाहिए। खडे होने की विधि यह है कि दोनो पैरो के बीच मे आगे की ओर चार अगुल तथा पीछे की ओर ऐडी के पास तीन अगुल से कुछ अधिक अन्तर रखना चाहिए। यह जिन-मुद्रा का अभिनय है। तदनन्तर, दोनो घुटने भूमि पर टेक कर, दोनो हाथो को कमल के मुकुल की तरह जोड कर, मुख के आगे रख कर, दोनो हाथो की कोहनियाँ पेट के ऊपर रख कर, योग-मुद्रा का अभिनय करना चाहिए। पश्चात् मधुर स्वर से 'इच्छाकारेण सविसह' से 'पडिक्कमामि' तक का पाठ पढना चाहिए। यह आलोचना के लिए आज्ञा-प्राप्ति का सूत्र है। गुरुदेव की ओर से आज्ञा मिल जाने पर 'इच्छं' कहना चाहिये। यह आज्ञा का सूचक है। इसके अनन्तर, गुरु के समक्ष ही उकडू आसन से बैठ कर या खडे हो कर 'इच्छामि पडिक्कमिउ' से लेकर 'मिच्छामि दुक्कड' तक का पूर्ण पाठ पढना चाहिए। गुरुदेव न हो, तो भगावन् का ध्यान करके उनकी साक्षी से ही पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके खडे हो कर यह पाठ पढ लेना चाहिए।

सात सम्पदा

*

प्राचीन टीकाकारो ने प्रस्तुत सूत्र मे सात सपदाओ की योजना की है। सम्पदा का अर्थ विराम एव विश्रान्ति होता है।

प्रथम अभ्युपगम सम्पदा है, जिसका अर्थ गुरुदेव से आज्ञा लेना है।

दूसरी निमित्त सम्पदा है, जिसमे आलोचना का निमित्त कारण जीवो की विराधना वताया गया है।

तीसरी ओघ—सामान्य हेतु सम्पदा है, जिनमे सामान्य रूप से विराधना का कारण सूचित किया है।

चौथी इत्वर—विशेष हेतु सम्पदा है, जिसमे जीव-विराधना के 'पाणक्कमणे' आदि विशेष हेतु कथन किये हैं।

पंचम सग्रह सम्पदा है, जिसमे 'जे मे जीवा विराहिया'—इस एक वाक्य से ही सव जीवो की विराधना का सग्रह किया है।

छठी जीव-सम्पदा है, जिसमे नामग्रहण-पूर्वक जीवो के भेद वतलाये है।

सातवी विराधना सम्पदा है, जिसमे 'अभिहया' आदि विराधना के प्रकार कहे गए है।

* *

६ || कायोत्सर्ग-सूत्र

तस्स

उत्तरी—करणेणं

पायच्छित्त-करणेणं

विसोही-करणेणं

विसल्ली-करणेणं

पावाण कम्माण

निग्घायणट्ठाए

ठामि काउस्सग्ग ।1।

शब्दार्थ

तस्स=उसकी, दूषित आत्मा की

उत्तरीकरणेण=विशेष उत्कृष्टता के लिए

पायच्छित-करणेणं=प्रायश्चित करने के लिए

विसोही-करणेण=विशुद्धि करने के लिए

विसल्ली-करणेणं=शल्य का त्याग करने के लिए

पावाण =पाप

कम्माणं=कर्मों का

निग्घायणट्ठाए=नाश करने के लिए

काउस्सग्ग=कायोत्सर्ग

ठामि—करता हूं

भावार्थ

आत्मा की विशेष उत्कृष्टता—श्रेष्ठता के लिए, प्रायश्चित्त के लिए, विशेष निर्मलता के लिए, शल्य-रहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हू—अर्थात् आत्म-विकास की प्राप्ति के लिए शरीरसम्बन्धी समस्त चचल व्यापारो का त्याग करता हू, विशुद्ध चिन्तन करता हूँ।

विवेचन

यह उत्तरी-करण-सूत्र है। इसके द्वारा ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण से शुद्ध आत्मा मे बाकी रही हुई सूक्ष्म मलिनता को भी दूर करने के लिए विशेष परिष्कार-स्वरूप कायोत्सर्ग का सकल्प किया जाता है। जीवन मे जरा भी मलिनता न रहने पाये, यह महान् आदर्श, उक्त सूत्र के द्वारा ध्वनित होता है।

व्रत शुद्धि के लिए संस्कार

*

सस्कार के तीन प्रकार माने गए है—दोष-मार्जन, हीनाग-पूर्ति और अतिशयाधायक। इन तीनो सस्कारो के द्वारा प्रत्येक पदार्थ अपनी विशिष्ट अवस्थाओ मे पहुच जाता है। एक सस्कार वह है, जो सर्वप्रथम दोषो को दूर करता है। यह दोष-मार्जन सस्कार कहलाता है। दूसरा सस्कार वह है, जो दोषो की कुछ भी झलक शेष रह गई हो, उसे दूर कर दोष-रहित पदार्थो के हीन-स्वरूप की पूर्ति करता है। यह हीनाग-पूर्ति सस्कार है। तीसरा सस्कार दोष-रहित पदार्थ मे एक प्रकार की विशेषता (खूबी) उत्पन्न करता है, वह अतिशयाधायक सस्कार कहा जाता है। समस्त सस्कारो का का सस्कारत्व, इन तीन संस्कारो मे समाविष्ट हो जाता है।

उदाहरण के रूप मे, मलिन वस्त्र को ही ले लीजिए। धोबी पहले वस्त्रो को भट्टी पर चढा कर वस्त्रो के मैल को पृथक् करता है। यही पहला दोष-मार्जन सस्कार है। अन्तिम बार जल मे से निकाल कर, धूप मे सुखा कर यथा-व्यवस्थित वस्त्रो की तह कर देना, हीनाग-पूर्ति सस्कार है। अन्त मे सलवटें साफ कर, इस्त्री कर देना—तीसरा अतिशयाधायक सस्कार है।

एक और भी उदाहरण लीजिए। रगरेज वस्त्र को पहले पानी मे डुबो कर, मल कर उसके दाग-धब्बे दूर करता है, यही पहला दोषमार्जन सस्कार है। पुन साफ-सुथरे वस्त्र को अभीष्ट रग से रजित कर देना, यही दूसरा हीनाग-पूर्ति सस्कार है। अन्त मे कलप लगा कर इस्त्री कर देना, तीसरा अतिशयाधायक सस्कार है। इन्ही तीन सस्कारो को शास्त्रीय भाषा मे शोधक, विशेपक, एव भावक सस्कार कहते हैं।

व्रत-शुद्धि के लिए भी यही तीन सस्कार माने गए हैं। आलोचना एव प्रतिक्रमण के द्वारा स्वीकृत व्रत के प्रमाद-जन्य दोषो का मार्जन किया जाता है। कायोत्सर्ग के द्वारा इधर-उधर रही हुई शेष मलिनता भी दूर कर, व्रत को अखण्ड बना कर हीनाग-पूर्ति सस्कार किया जाता है। अन्त मे प्रत्याख्यान के द्वारा आत्म-शक्ति मे अत्यधिक वेग पैदा करके व्रतो मे विशेषता उत्पन्न की जाती है, यह अतिशयाधायक सस्कार है।

जो वस्तु एक बार मलिन हो जाती है, वह एक बार के प्रयत्न से ही शुद्ध नही हो जाती। उसकी विशुद्धि के लिए बार-बार प्रयत्न करना होता है। जग लगा हुआ शस्त्र, एक बार नही, अनेक बार रगडने, मसलने और सान पर रखने से ही साफ होता है, चमक पाता है।

पाप-मल से मलिन हुआ सयमी आत्मा भी, इसी प्रकार, एक बार के प्रयत्न से ही शुद्ध नही हो जाता। उसकी शुद्धि के लिए साधक को बार-बार प्रयत्न करना पडता है। एक के बाद एक प्रयत्नो की लम्बी परम्परा के बाद ही आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करता है, पहले नही। अस्तु सर्वप्रथम आलोचना-सूत्र के द्वारा आत्म-विशुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाता है, और गमनागमनादि क्रियाओ से होने वाली मलिनता उक्त ईर्या-पथिक प्रतिक्रमण से साफ हो जाती है। परन्तु पाप-मल की बारीक झाँई फिर भी शेप रह जाता है, उसे भी साफ करने के लिए और अत शल्य को बाहर निकाल फेकने के लिए, दूसरी बार कायोत्सर्ग के द्वारा शुद्धि करने का पवित्र सकल्प किया जाता है। मन, वचन और शरीर की चचलता हटाकर, हृदय मे वीतराग भगवान की स्तुति का प्रवाह बहा कर, अपने-आपको अशुभ एव चचल व्यापारो से हटाकर, शुभ

व्यापार मे केन्द्रित कर, अपूर्व समाधि-भाव की प्राप्ति के लिए एव पाप-कर्मों के निर्घातन के लिए सत्प्रयत्न करना ही, प्रस्तुत उत्तरीकरण-सूत्र का महामगलकारी उद्देश्य है।

कायोत्सर्ग का महत्त्व

✿

हाँ तो, यह कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा का सूत्र है। पाठक मालूम करना चाहते होगे कि कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है? कायोत्सर्ग मे दो शब्द हैं—काय और उत्सर्ग। अत कायोत्सर्ग का अर्थ हुआ-काय अर्थात् शरीर का, शरीर की चचल क्रियाओ का उत्सर्ग अर्थात् त्याग। आशय यह है कि कायोत्सर्ग करते समय साधक, शरीर का विकल्प भूलकर, शरीर की मोह-माया त्याग कर आत्म-भाव मे प्रवेश करता है। और, जब आत्म-भाव मे प्रविष्ट होकर शुद्ध परमात्म-तत्त्व का स्मरण किया जाता है, तब वह परमात्म-भाव मे लीन हो जाता है। जब कि यह परमात्म-भाव मे की लीनता अधिकाधिक रसमय दशा में पहुँचती है, तब आत्म-प्रदेशो मे व्याप्त पाप कर्मों की निर्जरा—क्षीणता होती है, फलत जीवन में पवित्रता आती है। आध्यात्मिक पवित्रता का मूल कायोत्सर्ग मे अन्तर्निहित है।

कायोत्सर्ग की व्युत्पत्ति मे शरीर की चचलता का त्याग उपलक्षणमात्र है। शरीर के साथ मन, वचन का भी ग्रहण है। मन, वचन और शरीर का दुर्व्यापार जब तक होता रहता है, तब तक पाप-कर्मों का आस्रव बन्द नही हो सकता। और, जब तक कर्म-बन्धन से छुटकारा नही होता, तब तक मोक्ष-पद की साधना पूर्ण नही होती। अत कर्म-बन्धनो को तोडने के लिए तथा कर्मों का आस्रव रोकने के लिए मन, वचन और शरीर के अशुभ व्यापारो का त्याग आवश्यक है, और यह त्याग कायोत्सर्ग की साधना के द्वारा होता है। इस प्रकार कायोत्सर्ग मोक्ष प्राप्ति का प्रधान कारण है, यह न भूलना चाहिए।

आत्म शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त

✿

प्रायश्चित्त का महत्त्व, साधना के क्षेत्र मे बहुत बड़ा माना गया है। प्रायश्चित्त एक प्रकार का आध्यात्मिक दण्ड है, जो किसी भी

दोष के होने पर साधक द्वारा अपनी इच्छा से लिया जाता है। इस आध्यात्मिक दण्ड का उद्देश्य एव लक्ष्य होता है—आत्म-शुद्धि, हृदय-शुद्धि। आत्मा की अशुद्धि का कारण पाप-मल है, भ्रान्त आचरण है। प्रायश्चित्त के द्वारा पाप का परिमार्जन और दोष का शमन होता है, इसीलिए प्रायश्चित्त-समुच्चय आदि प्राचीन धर्म-ग्रन्थो मे प्रायश्चित्त का पाप-छेदन, मलापनयन, विशोधन और अपराध-विशुद्धि आदि नामो से उल्लेख किया गया है।

आगम-साहित्य मे बाह्य और आभ्यन्तर भेद से बारह प्रकार के तप का उल्लेख है। आत्मा पर लगे पाप-मल को दूर करने वाला उपर्युक्त प्रायश्चित्त, आभ्यन्तर तप मे माना गया है। अतएव आलोचना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग आदि की साधनाएँ प्रायश्चित्त है। आगम साहित्य मे दश प्रकार के प्रायश्चित्त का उल्लेख है। उनमे से यहाँ केवल कायोत्सर्ग रूप जो पचम 'व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित' है, उसका उल्लेख है। व्युत्सर्ग का अर्थ करते हुए आचार्य अभयदेव कहते है कि शरीर की चपलताजन्य चेष्टाओ का निरोध करना व्युत्सर्ग है--

'व्युत्सर्गार्हं यत्कायचेष्टानिरोधत'

—स्थानाग, ६ ठा० टीका

शरीर की क्रियाओ को रोक कर, मौन रह कर, धर्म ध्यान के द्वारा मन को जो एकाग्र बनाया जाता है, वह कायोत्सर्ग है। उक्त कायोत्सर्ग का आत्मशुद्धि के लिए विशेष महत्त्व है। स्पन्दन, दूषण का प्रतिनिधि है, तो स्थिरत्व शुद्धि का प्रतिनिधि है।

प्रायश्चित्त · परिभाषाएँ

✿

प्रायश्चित्त का निर्वचन पूर्वाचार्यो ने बडे ही अनूठे ढग से किया है। प्राय —बहुत, चित्त—मन अर्थात जीवात्मा को शोधन करने वाली साधना जिसके द्वारा हृदय की अधिक-से-अधिक शुद्धि हो, वह प्रायश्चित्त कहलाता है—

'प्रायो बाहुल्येन चित्त =जीव शोधयति कर्ममलिन विमलीकरोति'

—पचाशक विवरण

प्रायश्चित्त का दूसरा अर्थ होता है—पाप का छेदन करने वाला—

"पापच्छेदकत्वात् प्रायश्चित्तं, प्राकृते पायच्छित्तमिति।"

—स्था० ३ ठा० ४ उद्दे० टीका

तीसरा अर्थ और है—प्राय—पाप, उसको चित्त—शोधन करना।

'प्राय. पापं विनिर्दिष्ट, चित्तं तस्य च शोधनम्।'

—धर्म सग्रह ३ अधि०

तथा—

'अपराधो वा प्राय, चित्त शुद्धि, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तमपराध-विशुद्धि'।'

—राजवार्तिक ६/२२/१

उक्त सभी अर्थों का मूल आवश्यकनिर्युक्ति मे इस प्रकार दिया है—

पाव छिंदइ जम्हा,
पायच्छित्त तु भण्णई तेण।
पाएण वा वि चित्तं,
विसोहए तेण पच्छित्त ।१५०३।

जिससे पाप का नाश होता है, अथवा जिसके द्वारा चित्त की विशुद्धि होती है—उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है।

प्रायश्चित्त की एक और भी बडी सुन्दर व्युत्पत्ति है, जो सर्व-साधारण जनता के मानस पर प्रायश्चित्त की प्रतिक्रिया को ध्यान मे रख कर की गई है। प्राय का अर्थ है लोक—जनता, और चित्त का अर्थ मन है। जिस क्रिया के द्वारा जनता के मन मे आदर हो, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त कर लेने के बाद जनता पर क्या प्रतिक्रिया होती है, यही उस व्युत्पत्ति का प्राण है। बात यह है कि पाप करने वाला व्यक्ति जनता की आँखो में गिर जाता है, जनता उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगती है। क्योकि जनता मे आदर धर्माचरण का होता है, पापाचरण का नही। पापाचरण के कारण मनुष्य जनता के हृदय से अपना वह धर्माचरण-मूलक गौरव

सहसा गँवा बैठता है। परन्तु, जब वह शुद्ध हृदय से प्रायश्चित्त कर लेता है, अपने अपराध का उचित दण्ड ले लेता है, तो जनता का हृदय भी बदल जाता है, और वह उसे प्रेम तथा गौरव की दृष्टि से देखने लगती है। इसलिए कहा गया है—

प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत्,
तच्चित्त–ग्राहक कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।

—प्रायश्चित्त समुच्चयवृत्ति

प्रायश्चित्त का एक अर्थ और भी है, जो वैदिक साहित्य के विद्वानो द्वारा किया जा रहा है। उनका कहना है कि प्रायश्चित्त शब्द के 'प्राय' और 'चित्त' ये दो विभाग हैं। 'प्राय' विभाग प्रयाण-भाव का सूचक है। आत्मा की भूतपूर्व शुद्ध अवस्था ही 'प्राय' है। अस्तु, इस गत-भाव का पुन चयन-सग्रह ही 'चित्त' है। प्रायोभाव का चयन ही प्रायश्चित्त है। दूषणो के कारण मलिन आत्मा शुद्ध होकर पुन स्वरूप मे उपस्थित हो, यह प्रायश्चित्त का भावार्थ है। यह अर्थ भी प्रस्तुत प्रकरण में युक्ति-सगत है। कायोत्सर्ग-रूप प्रायश्चित्त के द्वारा आत्मा चचलता से हटकर पुन अपने स्थिर-रूप मे, आध्यात्मिक दृष्टि से व्रतो की दृढता मे स्थित हो जाता है।

व्रती कौन ?

जैन-धर्म की विचार-धारा के अनुसार अहिंसा, सत्य आदि व्रतो के लेने मात्र से कोई सच्चा व्रती नही हो सकता। सुव्रती होने के लिए सबसे पहली और मुख्य शर्त यह है कि उसे शल्यरहित होना चाहिए। सच्चा व्रती एव त्यागी वही है, जो सर्वथा निश्छल होकर, अभिमान दभ एव भोगासक्ति से परे होकर अपने स्वीकृत चारित्र मे लगे दोषो को स्वीकार करता है, उनका यथाविधि प्रतिक्रमण करता है, आलोचना करता है और कायोत्सर्ग आदि के द्वारा शुद्धि करने के लिए सदा तैयार रहता है। जहाँ दभ है, व्रत-शुद्धि के प्रति उपेक्षा है, वहाँ शल्य है। और, जहा शल्य है, वहाँ व्रतो की साधना कहा ? इसी आदर्श को ध्यान मे रखकर आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थ-सूत्र ७/१३ मे कहते है—'नि:शल्यो व्रती'—जो शल्य से मुक्त है, वही व्रती है।

शल्य क्या है ?

✿

शल्य का अर्थ है, 'शल्यतेऽनेन इति शल्यम्' जिसके द्वारा अन्तर मे पीडा सालती रहती है, कसकती रहती है, वल एव आरोग्य की हानि होती है, वह तीर, भाला और काँटा आदि।

आध्यात्मिक-क्षेत्र मे लक्षणा-वृत्ति के द्वारा माया, निदान और मिथ्या-दर्शन को शल्य कहते हैं। लक्षणा का अर्थ आरोप करना है। तीर आदि शल्य के आन्तरिक वेदना-जनक रूप साम्य से माया आदि मे शल्य का आरोप किया गया है। जिस प्रकार शरीर के किसी भाग मे काँटा तथा तीर आदि जव घुस जाता है, तो वह व्यक्ति को चैन नही लेने देता है, शरीर को विषाक्त वनाकर अस्वस्थ कर देता है, इसी प्रकार माया आदि शल्य भी जव अन्तर्हृदय मे घुस जाते हैं, तव साधक की आत्मा को शान्ति नही लेने देते हैं, उसे सर्वदा व्याकुल एव वेचैन किए रहते है सर्वथा अस्वस्थ वनाए रखते हैं। अहिंसा, सत्य आदि आत्मा का आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, वह शल्य के द्वारा चौपट हो जाता है, साधक आध्यात्मिक दृष्टि से वीमार पड जाता है।

१—**माया-शल्य**—माया का अर्थ कपट होता है। अतएव छल करना, ढोग रचना, जनता को ठगने की मनोवृत्ति रखना, अन्दर और वाहर एकरूप से सरल न रहना, स्वीकृत व्रतो मे लगे दोषो की आलोचना न करना, माया-शल्य है।

२—**निदान-शल्य**—धर्माचरण से सासारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा रखना निदान है। किसी राजा आदि का धन, वैभव देखकर या सुनकर मन मे यह सकल्प करना कि ब्रह्मचर्य, तथा तप आदि मेरे धर्म के फलस्वरूप मुझे भी यही वैभव एव समृद्धि प्राप्त हो, यह निदान-शल्य है।

३—**मिथ्यादर्शन-शल्य**—सत्य पर श्रद्धा न करना, असत्य का आग्रह रखना, मिथ्यादर्शन-शल्य है। यह शल्य वहुत भयंकर है। इसके कारण कभी भी सत्य के प्रति अभिरुचि नहीं होती। यह शल्य सम्यग्दर्शन का विरोधी है।

जव तक साधक के हृदय मे, उल्लिखित किसी भी शल्य का सकल्प वना रहेगा, तव तक कोई भी नियम तथा व्रत विशुद्ध नही हो सकता। मायावी का व्रत असत्य-मिश्रित होता है। भोगासक्त का व्रत वीतराग-भावना से शून्य, सराग होता है। मिथ्या-दृष्टि का व्रत केवल द्रव्यलिङ्गस्वरूप है। सम्यक्त्व के विना घोर-से-घोर क्रिया-काड भी सर्वथा निष्फल है, वल्कि कर्म-वन्ध का कारण है।

प्रस्तुत उत्तरीकरण पाठ के सम्वन्ध मे अन्तिम सार-रूपेण इतना ही कहना है कि व्रत एव आत्मा की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त आवश्यक है। प्रायश्चित्त भाव-शुद्धि के विना नही हो सकता, भाव-शुद्धि के लिए शल्य का त्याग जरूरी है। शल्य का त्याग और पाप कर्मो का नाश कायोत्सर्ग से ही हो सकता है, अत कायोत्सर्ग करना परमावश्यक है। कायोत्सर्ग सयम मे होने वाली भूलो का एक विशिष्ट प्रायश्चित्त ही तो है।

✿ ✿

अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएण,
खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं,
उड्डुएणं, वाय-निसग्गेणं,
भमलीए, पित्त मुच्छाए ।१।
सुहुमेहिं अंग-संचालेहिं,
सुहुमेहिं खेल-संचालेहिं
सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं ।२।
एवमाइएहिं आगारेहिं,
अभग्गो अविराहिओ,
हुज्ज मे काउस्सग्गो ।३।
जाव अरिहंताणं, भगवंताण,
नमुक्कारेणं न पारेमि ।४।
ताव कायं ठाणेणं मोणेणं,
झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि ।५।

शब्दार्थ

अन्नत्थ=आगे कहे जाने वाले आगारो के अतिरिक्त कायोत्सर्ग मे शेष काय-व्यापारो का त्याग करता हूँ ।

ऊससिएण=उच्छ्वास से
नीससिएण=नि श्वास से
खासिएण=खासी से
छीएण=छीक से
जंभाइएणं=जभाई-उवासी से
उड्डुएण =डकार से
वायनिसग्गेण =अपानवायु से
भमलिए=चक्कर आने से
पित्तमुच्छाए=पित्त-विकार की मूर्च्छा से
सुहुमेहिं=सूक्ष्म
अग-सचालेहिं=अङ्ग के सचार से
सुहुमेहिं=सूक्ष्म
खेल-सचालेहिं=कफ के सचार से
सुहुमेहिं=सूक्ष्म
दिट्ठिसचालेहिं=दृष्टि के सचार से
एवमाइएहिं=इत्यादि
आगारेहिं=आगारो-अपवादो से
मे=मेरा
काउस्सग्गो=कायोत्सर्ग
अभग्गो=अभग्न
अविराहिओ=विराधना-रहित
हुज्ज=हो
[कायोत्सर्ग कब तक ?]
जाव=जब तक
अरिहंताणं=अरिहन्त
भगवताणं=भगवानो को
नमुक्कारेणं=नमस्कार करके कायोत्सर्ग को
न पारेमि=न पारूँ
ताव=तव तक
ठाणेण=(एक स्थान पर) स्थिर रह कर
मोणेण=मौन रह कर
झाणेण=ध्यानस्थ रह कर
अप्पाणं=अपने
काय=शरीर को
वोसिरामि=(पाप कर्मो से) अलग करता हूँ

भावार्थ

कायोत्सर्ग मे काय-व्यापारो का परित्याग करता हूँ, निश्चल होता हूँ। परन्तु, जो शारीरिक क्रियाएँ अशक्यपरिहार होने के कारण स्वभावत हरकत मे आजाती हैं, उनको छोडकर।

उच्छ्वास—ऊँचा श्वास, नि श्वास—नीचा श्वास, कासित-खाँसी, छिक्का—छीक, उवासी, डकार, अपान वायु, चक्कर, पित्तविकारजन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म-रूप से अङ्गो का हिलना, सूक्ष्म-रूप से कफ का निकलना, सूक्ष्य-रूप से नेत्रो का हरकत मे आ जाना, इत्यादि आगारो से मेरा कायोत्सर्ग अभग्न एव अविराधित हो।

जव तक अरिहन्त भगवानो को नमस्कार न कर लूँ अर्थात् 'नमो अरिहताण' न पढ लूँ, तव तक एक स्थान पर स्थिर रह

कर, मौन रह कर, धर्म-ध्यान मे चित्त की एकाग्रता करके अपने शरीर को पाप-व्यापारो से अलग करता हूँ ।

विवेचन

कायोत्सर्ग का अर्थ है, शरीर की सब प्रवृत्तियो को रोक कर पूर्णतया निश्चल एव निस्पन्द रहना । साधक जीवन के लिए यह निवृत्ति का मार्ग अतीव आवश्यक है । इसके द्वारा मन, वचन एव शरीर मे दृढता का भाव पैदा होता है, जीवन ममता के क्षेत्र से वाहर होता है, सव ओर आत्म-ज्योति का प्रकाश फैल जाता है, और आत्मा वाह्य जगत् से सम्वन्ध हटाकर, शरीर की ओर से भी पराङ्मुख होकर अपने वास्तविक मूल-स्वरूप के केन्द्र मे अवस्थित हो जाता है ।

कायोत्सर्ग मे आगार

*

परन्तु, एक वात है, जिस पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है । साधक कितना ही क्यो न दृढ एव साहसी हो, परन्तु कुछ शरीर के व्यापार ऐसे है, जो वरावर होते रहते हैं, उनको किसी भी प्रकार से वन्द नही किया जा सकता । यदि हठात् वन्द करने का प्रयत्न किया जाए, तो लाभ के वदले हानि की ही सम्भावना रहती है । अत कायोत्सर्ग से पहले यदि उन व्यापारो के सम्वन्ध मे छूट न रखी जाए, तो फिर कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा का भग होता है । एक ओर तो प्रतिज्ञा है कि शरीर के व्यापारो का त्याग करता हूँ, और उधर श्वास आदि के व्यापार चालू रहते हैं, अत यह प्रतिज्ञा का भग नही तो और क्या है ? इसी सूक्ष्म वात को लक्ष्य मे रखकर सूत्रकार ने प्रस्तुत आगार-सूत्र का निर्माण किया है। अव पहले से ही छूट रख लेने के कारण प्रतिज्ञा भग का दोष नही होता । कितनी सूक्ष्म सूझ है ! सत्य के प्रति कितनी अधिक जागरूकता है !

'एवमाइए हिं आगारेहिं'—उक्त पद के द्वारा यह विधान है कि श्वास आदि के सिवा यदि कोई और भी विशेष कारण उपस्थित हो तो कायोत्सर्ग बीच मे ही, समय पूर्ण किए विना ही समाप्त किया जा सकता है । वाद मे उचित स्थान पर पुन उसको पूर्ण कर लेना चाहिए । वीच मे समाप्त करने के कारणो पर प्राचीन टीकाकारो

ने अच्छा प्रकाश डाला है। कुछ कारण तो ऐसे हैं, जो अधिकारी-भेद मे मानवी दुर्वलताओ को लक्ष्य मे रखकर माने गए हैं। और कुछ उत्कृष्ट दयाभाव के कारण है। अतएव किसी आकस्मिक विपत्ति मे किसी की सहायता के लिए कायोत्सर्ग खोलना पडे, तो उनका आगार रखा जाता है। जैन-धर्म शुष्क क्रिया-काण्डो मे पडकर जड नही वनता है। वह ध्यान-जैसे आवश्यक-विधान मे भी आकस्मिक सहायता देने की छूट रख रहा है। आज के जड क्रियाकाण्डी इस ओर लक्ष्य देने का कष्ट उठाएँ, तो जन-मानस से वहुत सारी गलतफहमियाँ दूर हो सकती है।

हाँ, तो टीकाकारो ने आदि शब्द से अग्नि का उपद्रव, डाकू अथवा राजा आदि का महाभय, सिंह अथवा सर्प आदि क्रूर प्राणियो का उपद्रव, तथा पचेन्द्रिय जीवो का छेदन-भेदन इत्यादि अपवादो का ग्रहण किया है। अग्नि आदि के उपद्रव का ग्रहण इसलिए है कि सभव है, साधक मूल मे दुर्वल हो, वह उस समय तो अहम् मे अडा रहे, किन्तु वाद मे भावो की मलिनता के कारण पतित हो जाए। दूसरी वात यह भी है कि साधक दृढ भी हो, जीवन की अन्तिम घडियो तक विशुद्ध परिणामी भी रहे, किन्तु लोकापवाद तो भयकर है। व्यर्थ की धृष्टता के लिए लोग, जैनधर्म की निन्दा कर सकते हैं। और फिर साधना का मिथ्या आग्रह रखकर जीवन को यो ही व्यर्थ नष्ट कर देने मे लाभ भी क्या है ?

पचेन्द्रिय जीवो का छेदन-भेदन आगार-स्वरूप इसलिए रखा गया है कि यदि अपने समक्ष किसी जीव की हत्या होती हो, तो चुपचाप न देखता रहे। शीघ्र ही ध्यान खोल कर उस हत्या को वन्द कराने का यत्न करना चाहिए। अहिंसा से वढकर कोई साधना नही हो सकती। सर्पादि किसी को काट ले, तो वहाँ भी सहायता के लिए ध्यान खोला जा सकता है। इसी भाव को लक्ष्य मे रखकर आचार्य हेमचन्द्र योगशास्त्र की स्वोपज्ञ वृत्ति मे लिखते हैं—

"मार्जारमूषिकादे पुरतो गमने ऽप्रत· सरतोऽपि न भङ्ग ।
सर्पदष्टे आत्मनि वा साध्वादौ सहसा उच्चारयतो न भङ्ग ।

—योग० (३/१२४) स्वोपज्ञ वृत्ति

'अभग्गो' और 'अविराहिओ' के सस्कृत-रूप क्रमश· 'अभग्न' एवं

'अविराधित' हैं। अभग्न का अर्थ पूर्णत. नष्ट न होना है, और अविराधित का अर्थ देशत नष्ट न होना है—

"भग्न सर्वथा विनाशित', न भग्नोऽभग्न । विराधितो देशभग्न , न विराधितोऽविराधित"

—योगशास्त्र, (३/१२४) स्वोपज्ञ वृत्ति

कायोत्सर्ग मे आसन

*

एक बात और। कायोत्सर्ग पद्मासन से करना चाहिए। अथवा बिलकुल सीधे खडे होकर, नीचे की ओर भुजाओ को प्रलवमान रखकर, आँखे नासिका के अग्रभाग पर जमाकर अथवा बन्द करके जिन मुद्रा के द्वारा करना भी अधिक सुन्दर होगा। एक ही पैर पर अधिक भार न देना, दीवार आदि का सहारा न लेना, मस्तक नीचे की ओर नही झुकाना, आँखें नही फिराना, सिर नही हिलाना आदि बातो का कायोत्सर्ग मे ध्यान रखना चाहिए।

समय व सम्पदा

*

सूत्र मे कायोत्सर्ग के काल के सम्बन्ध मे वर्णन करते हुए जो यह कहा गया है कि 'नमो अरिहताण' पढने तक कायोत्सर्ग का काल है, इसका यह अर्थ नही कि कायोत्सर्ग का कोई निश्चित काल नही, जब जी चाहा तभी 'नमो अरिहताणं' पढा और कायोत्सर्ग पूर्ण कर लिया! 'नमो अरिहताण' पढने का तो यह भाव है कि जितने काल का कायोत्सर्ग किया जाए अथवा जो कोई निश्चित पाठ पढा जाए, वह पूर्ण होने पर ही समाप्ति-सूचक 'नमो अरिहताण' पढना चाहिए। यह नियम कायोत्सर्ग के प्रति सावधानी की रक्षा के लिए है। अन्यमनस्क भाव से लापरवाही रखते हुए कोई भी साधना शुरू करना और समाप्त करना फल-प्रद नही होती। पूर्ण जागरूकता के साथ कायोत्सर्ग प्रारम्भ करना और समाप्त करना, कितना अधिक आत्म-जागृति का जनक होता है! यह अनुभवी ही जान सकते है।

प्रस्तुत-सूत्र मे पाँच सम्पदा अर्थात् विश्राम है—

प्रथम एक वचनान्त आगार-सम्पदा है, इसमे एक वचन के द्वारा आगार वताए हैं।

दूसरी वहुवचनान्त आगार सम्पदा है, इसमे वहुवचन के द्वारा आगार वताए हैं।

तीसरी आगन्तुक-आगार-सम्पदा है, इसमे आकस्मिक अग्नि-उपद्रव आदि की सूचना है।

चतुर्थ कायोत्सर्ग विधि-सम्पदा है, इसमे कायोत्सर्ग के काल की मर्यादा का सकेत है।

पाँचवी स्वरूप-सम्पदा है, इसमे कायोत्सर्ग के स्वरूप का वर्णन है।

यह सम्पदा का कथन मूल-सूत्र पाठ के अन्तरग मर्म को समझने के लिए अतीव उपयोगी है।

❀ ❀

८ || चतुर्विंशतिस्तव सूत्र

लोगस्स उज्जोयगरे,
धम्मतित्थयरे जिरणे ।
श्ररिहते कित्तइस्सं,
चउवीस पि केवली ॥ १ ॥

उसभमजिय च वदे,
संभवमभिरणदरण च सुमइ च ।
पउमप्पहं सुपासं,
जिरणं च चदप्पहं वंदे ॥ २ ॥

सुविहि च पुप्फदंतं,
सीश्रल-सिज्जंस-वासुपुज्ज च ।
विमलमरणत च जिरणं,
धम्म संति च वंदामि ॥ ३ ॥

कुंथुं श्ररं च मल्लिं,
वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिरण च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं,
पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥

एवं मए अभित्थुआ,
विहुय-रयमला पहीण-जरमरणा ।

चउवीसं पि जिणवरा,
तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
कित्तिय-वंदिय-महिया,
जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाभं,
समाहि-वरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥
चंदेसु निम्मलयरा,
आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा,
सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

[१]

लोगस्स=सम्पूर्ण लोक के
उज्जोयगरे=उद्द्योत करने वाले
धम्मतित्थयरे=धर्मतीर्थ के कर्ता
जिणे=राग-द्वेष के विजेता
अरिहंते=अरिहन्त
चउवीसंपि=चौवीसों ही
केवली=केवल ज्ञानियों का
कित्तइस्सं=कीर्तन करूँगा

[२]

उसभ=ऋषभदेव
च=और
अजियं=अजित को
वंदे=वन्दन करता हूँ
संभव=संभव
च=और
अभिणंदण=अभिनन्दन
च=और
सुमइं=सुमति को
पउमप्पहं=पद्मप्रभ
सुपासं=सुपार्श्व
च=और
चंदप्पहं=चन्द्रप्रभ
जिणं=जिनको
वंदे=वन्दना करता हूँ

[३]

सुविहिं=सुविधि
च=अथवा
पुप्फदंतं=पुष्पदंत
च=और
सीअल=शीतल
सिज्जंस=श्रेयांस
वासुपुज्जं=वासुपूज्य
च=और
विमल=विमल
अणंतं=अनन्त
जिणं=जिन

धम्म=धर्मनाथ
च=और
संतिं=शान्ति को
वंदामि=वन्दना करता हूँ

[४]

कुंथुं=कुन्थु
अर=अरनाथ
च=और
मल्लिं=मल्लि
मुणिसुव्वय=मुनिसुव्रत
च=और
नमिजिण=नमि जिनको
वंदे=वन्दन करता हूँ
रिट्ठनेमिं=अरिष्ट नेमि
पास=पार्श्वनाथ
तह=तथा
वद्धमाणं च=वर्द्धमान को भी
वंदामि=वन्दना करता हूँ

[५]

एवं=इस प्रकार
मए=मेरे द्वारा
अभित्थुआ=स्तुति किए गए
विहुयरयमला=पाप मल से रहित
पहीणजरमरणा=जरा और मृत्यु से मुक्त
चउवीसंपि=चौवीसों ही
जिणवरा=जिनवर
तित्थयरा=तीर्थ कर
मे=मुझ पर
पसीयंतु=प्रसन्न हो

[६]

जे=जो
ए=ये
लोगस्स=लोक मे
उत्तमा=उत्तम
कित्तिय=कीर्तित=स्तुत
वंदिय=वन्दित
महिया=पूजित
सिद्धा=तीर्थंकर हैं, वे
आरुग्ग=आरोग्य=आत्म स्वास्थ्य और
बोहिलाभ=बोधि-सम्यग्धर्म का लाभ
उत्तम=श्रेष्ठ
समाहिवर=श्रेष्ठ समाधि
दिंतु=देवें

[७]

चंदेसु=चन्द्रों से भी
निम्मलयरा=विशेष निर्मल
आइच्चेसु=सूर्यों से भी
अहियं=अधिक
पयासयरा=प्रकाश करने वाले
सागरवर=महासागर के समान
गम्भीरा=गम्भीर
सिद्धा=सिद्ध भगवान्
मम=मुझ को
सिद्धिं=सिद्धि, मुक्ति
दिसंतु=देवें

भावार्थ

अखिल विश्व मे धर्म का उद्द्योत—प्रकाश करने वाले, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले, (राग द्वेष के) जीतने वाले,

(अन्तरग काम क्रोधादि) शत्रुओ को नष्ट करने वाले, केवलज्ञानी चौवीस तीर्थकरो का मैं कीर्तन करूंगा—स्तुति करूंगा ॥ १ ॥

श्रीऋषभदेव को और अजितनाथ जी को वन्दना करता हूँ। सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व और राग-द्वेष-विजेता चन्द्रप्रभ जिन को भी नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

श्री पुष्पदन्त (सुविधिनाथ), शीतल, श्रेयास, वासु पूज्य, विमलनाथ, रागद्वेष के विजेता अनन्त, धर्म तथा श्री शान्तिनाथ भगवान् को नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

श्री कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, एव राग-द्वेप के विजेता नमिनाथ जी को वन्दना करता हूँ। इसी प्रकार भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, और वर्धमान (महावीर) स्वामी को भी नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्मरूप धूल के मल से रहित है, जो जरामरण दोनो से सर्वथा मुक्त हैं, वे अन्त. शत्रुओ पर विजय पाने वाले धर्मप्रवर्तक चौवीस तीर्थ कर मुझ पर प्रसन्न हो ॥ ५ ॥

जिनकी इन्द्रादि देवो तथा मनुष्यो ने स्तुति की है, वन्दना की है, पूजा-अर्चा की है, और जो अखिल ससार मे सबसे उत्तम है, वे सिद्ध—तीर्थ कर भगवान् मुझे आरोग्य—सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शान्ति, बोधि—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय धर्म का पूर्ण लाभ, तथा उत्तम समाधि प्रदान करे ॥ ६ ॥

जो अनेक कोटि चन्द्रमाओ से भी विशेप निर्मल है, जो सूर्यो से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयभूरमण जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, वे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि अर्पण करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि—मोक्ष प्राप्त हो ॥ ७ ॥

विवेचन

सामायिक को अवतारणा के लिए आत्म-विशुद्धि का होना परमआवश्यक है। अतएव सर्वप्रथम आलोचना-सूत्र के द्वारा ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण करके आत्म-शुद्धि की गई है। तत्पश्चात् विशुद्धि मे और अधिक उत्कर्प पैदा करने के लिए, हिंसा तथा असत्य आदि भूलो का प्रायश्चित्त करने के लिए कायोत्सर्ग की साधना का उल्लेख किया

गया है। दोनो साधनाओ के बाद, यह पुन. तीसरी बार भक्तहृदय मे चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र के द्वारा भक्ति-सुधा की वर्षा करने का विधान है। जैन समाज मे चतुर्विंशतिस्तव को वहुत अधिक महत्त्व प्राप्त है। वस्तुत 'लोगस्स' भक्ति-साहित्य की एक अमर रचना है। इसके प्रत्येक शब्द मे भक्ति-भाव का अखड स्रोत छिपा हुआ है। अगर कोई भक्त, पद-पद पर भक्ति-भावना से भरे हुए अर्थ का रसास्वादन करता हुआ, उक्त पाठ को पढे, तो वह अवश्य ही आनन्द-विभोर हुए विना नही रहेगा। जैन-साधना मे सम्यग्दर्शन का वडा भारी महत्त्व है। और वह सम्यग्दर्शन किस प्रकार अधिकाधिक विशुद्ध होता है ? वह विशुद्ध होता है, चतुर्विंशतिस्तव के द्वारा—
'चउव्वीसत्थएण दसणविसोहि जणयइ।' —उत्तराध्ययन २६/६

चतुर्विंशतिस्तव के द्वारा दर्शन की विशुद्धि होती है।

भगवत्स्मरण : श्रद्धा का वल

आज संसार अत्यधिक त्रस्त, दु खित एव पीडित है। चारो ओर क्लेश एव कष्ट की ज्वालाएँ धधक रही है, और वीच मे अवरुद्ध मानव-प्रजा झुलस रही है। उसे अपनी मुक्ति का कोई मार्ग प्रतीत नही होता। ऐसी अवस्था मे सरल भावेन सतो के द्वार खटखटाये जाते हैं, और अपने रोने रोये जाते है। वालक, वूढे, युवक और स्त्रिया, सभी प्रार्थना के लिए कातर हैं। सन्त उन्हे हमेशा से एक ही उपाय वताते चले आए है—भगवान् का नाम, और वस नाम ! भगवान् के नाम मे असीम शक्ति है, अपार वल है, जो चाहो सो पा सकते हो, आवश्यकता है, श्रद्धा की, विश्वास की। विना श्रद्धा एव विश्वास के कुछ नही होता। लाखो जन्म वीत जाएँ, तव भी आपको कुछ नही मिलेगा, केवल अभाव के लौह-द्वार से टकरा कर लौट आओगे। यदि श्रद्धा और विश्वास का वल लेकर आगे वढोगे, तो सम्पूर्ण विश्व की निधियाँ आपके श्रीचरणो मे विखरी पाएँगी।

एक कहानी है। विद्वानो की सभा थी। एक विद्वान मुट्ठी वन्द किए उपस्थित हुए। एक ने पूछा—मुट्ठी मे क्या है ? उत्तर मिला—हाथी। दूसरे ने पूछा—उत्तर मिला—घोडा। तीसरे ने पूछा—उत्तर मिला—गाय। विद्वान ने किसी को भैस तो किसी को सिंह, किसी को

हिमालय, तो किसी को समुद्र, किसी को चाँद तो किसी को सूरज बता-बता कर सब को आश्चर्य मे डाल दिया। सब लोग कहने लगे—मुट्ठी है या बला ? मुट्ठी मे यह सब-कुछ नही हो सकता। झूठ ! सर्वथा झूठ ! विद्वान् ने मुट्ठी खोली। रगकी एक नन्ही सी टिकिया हथेली पर रखी थी। पानी डाला, दवात मे रग घुल गया। अब विद्वान् के हाथ मे कागज था, कलम थी। जो-कुछ कहा था वह सब, सुन्दर चित्रो के रूप मे सब को मिल गया।

यही बात भगवान् के नन्हे से नाम मे है। श्रद्धा का जल डालिए, ज्ञान का कागज और चरित्र की कलम लीजिए, फिर जो अभीष्ट हो, प्राप्त कीजिए। सब मिलेगा, कमी किसी बात की नही है। सूखी टिकिया कुछ नही कर सकती थी। इसी प्रकार श्रद्धा-हीन नाम भी कुछ नही कर सकता है।

लोग कहते है, अजी नाम से क्या होता है ? मैं कहता हूँ, अच्छा ! आपका केस न्यायालय मे चल रहा है। आप किसी से दस हजार रुपया माँगते है। जज पूछता है, क्या नाम ? आप कह दीजिए, नाम का तो पता नही। क्या होगा ? मामला रद्द ! आप तो कहते है—नाम से कुछ नही होता। पर, यहाँ तो बिना नाम के सब चौपट हो गया ! यही बात भगवान् के नाम मे भी है। उसे शून्य न समझिए ! श्रद्धा का बल लगा कर जरा दृढता के साथ नाम लीजिए, जो चाहोगे सो हो जायगा !

स्मरण से मन पवित्र होता है

☼

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक चौबीस तीर्थ कर हमारे इष्टदेव है, हमे अहिंसा और सत्य का मार्ग बताने वाले हैं, घ र अज्ञान-अन्धकार मे भटकते हुए हमको ज्ञान की दिव्य-ज्योति के देने वाले है, अत कृतज्ञता के नाते, भक्ति के नाते उनका नाम स्मरण करना, उनका कीर्तन करना, हम साधको का मुख्य कर्तव्य है। यदि हम आलस्य-वश किवा उद्दण्डता-वश भगवान् का गुण-कीर्तन न करें, तो यह हमारा चुप रहना, अपनी वाणी को निष्फल करना है। अपने से गुणाधिक, श्रेष्ठ एवं पूजनीय व्यक्ति के

सम्वन्ध मे चुप रहना, नैषधकार श्रीहर्ष के शब्दो में वाणी की निष्फलता का असह्य शल्य है—

"वाग्जन्म वैफल्यमसह्यशल्यं
गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्"

—नैषधचरित ८/३२

महापुरुषो का स्मरण हमारे हृदय को पवित्र वनाता है। वासनाओं की अशान्ति को दूर कर अखड आत्म-शान्ति का आनन्द देता है। तेज वुखार की हालत मे जव हमारे सिर पर वर्फ की ठडी पट्टी वँधती है, तो हमे कितना सुख, कितनी शान्ति मिलती है! इसी प्रकार जव वासना का ज्वर चैन नही लेने देता है, तव भगवन्नाम की वर्फ की पट्टी ही शाति दे सकती है। प्रभु का मगलमय पवित्र नाम कभी भी ज्योतिर्हीन नही हो सकता। वह अवश्य ही अन्तरात्मा मे ज्ञान का प्रकाश जगमगाएगा। देहली-दीपक न्याय आप जानते है? देहली पर रखा हुआ दीपक अन्दर और वाहर दोनो ओर प्रकाश फैलाता है। भगवान् का नाम भी जिह्वा पर रहा हुआ अन्दर और वाहर दोनो जगत को प्रकाशमान वनाता है। वह हमें वाह्य-जगत् मे रहने के लिए विवेक का प्रकाश देता है, ताकि हम अपनी लोक-यात्रा सफलता के साथ विना किसी विघ्न-वाधा के तय कर सकें। वह हमे अन्तर्जगत् मे भी प्रकाश देता है, ताकि हम अहिंसा, सत्य आदि के पथ पर दृढता के साथ चल कर इस लोक के साथ परलोक को भी शिव एव सुन्दर वना सकें।

सकल्पवल

*

मनुष्य श्रद्धा का, विश्वास का वना हुआ है, अत वह जैसी श्रद्धा करता है, जैसा विश्वास करता है, जैसा सकल्प करता है, वैसा ही वन जाता है—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुष, यो यच्छ्द्ध. स एव स'।

—भगवद् गीता १७/३

विद्वानो के संकल्प विद्वान् वनाते है और मूर्खों के सकल्प मूर्ख!

वीरो के नाम से वीरता के भाव पैदा होते हैं, और कायरो के नाम से भीरुता के भाव। जिस वस्तु का हम नाम लेते हैं, हमारा मन तत्क्षण उसी आकार का हो जाता है। मन एक साफ कैमरा है। वह जैसी वस्तु की ओर अभिमुख होगा, ठीक उसी का आकार अपने मे धारण कर लेगा। ससार मे हम देखते है कि वधिक का नाम लेने से हमारे सामने वधिक का चित्र खडा हो जाता है। सती का नाम लेने से सती का आदर्श हमारे ध्यान मे आ जाता है। साधु का नाम लेने से हमे साधु का ध्यान हो आता है। ठीक इसी प्रकार पवित्र पुरुषो का नाम लेने से अन्य सव विपयो से हमारा ध्यान हट जायगा और हमारी वुद्धि महापुरुप-विपयक हो जायगी। महापुरुपो का नाम लेते ही महामगल का दिव्य रूप हमारे सामने खडा हो जाता है। यह केवल जड अक्षर-माला नही है। इन शव्दो पर ध्यान दीजिए, आपको अवश्य ही अलौकिक चमत्कार का साक्षात्कार होगा।

सकल्प-चित्र

भगवान् ऋपभ का नाम लेते ही हमे ध्यान आता है—मानव-सभ्यता के आदिकाल का। किस प्रकार ऋषदेवभ ने वनवासी, निष्क्रिय अवोध मानवो को सर्वप्रथम मानव-सभ्यता का पाठ पढाया, मनुष्यता का रहन-सहन सिखाया, व्यक्तिवादी से हटा कर समाजवादी वनाया, परस्पर प्रेम और स्नेह का आदर्श स्थापित किया, पश्चात् अहिंसा और सत्य आदि का उपदेश देकर लोक-परलोक दोनो को उज्ज्वल एव प्रकाशमय वनाया।

भगवान् नेमिनाथ का नाम हमे दया की चरम-भूमिका पर पहुंचा देता है। पशु-पक्षियो को रक्षा के निमित्त वे किस प्रकार विवाह को ठुकरा देते है, किस प्रकार राजीमती-सी सर्वसुन्दरी अनुराग-युक्ता पत्नी को विना व्याहे ही त्यागकर स्वर्ण-सिंहासन को लात मार कर भिक्षु वन जाते हैं? जरा कल्पना कीजिए, आपका हृदय दया और त्याग-वैराग्य के सुन्दर भावो से गद्गद हो उठेगा।

भगवान पार्श्वनाथ हमे गगा-तट पर कमठ-जैसे मिथ्या कर्म-काण्डी को वोध देते एव धधकती हुई अग्नि मे से दयार्द्र होकर नाग-नागनी को वचाते नजर आते है। और, आगे चलकर कमठ का कितना भयकर उपद्रव सहन किया, परन्तु विरोधी पर जरा भी तो क्षोभ न हुआ ! कितनी वडी क्षमा है !

भगवान् महावीर के जीवन की झाकी देखेंगे, तो वह वडी ही मनोहर है, प्रभाव-पूर्ण है। वारह वर्ष की कितनी कठोर, एकान्त साधना ! कितने भीषण एव लोमहर्षक उपसर्गो का सहना ! पशु-मेध और नर मेध जैसे विनाशकारी मिथ्या विश्वासो पर कितने कठोर क्रान्तिकारी प्रहार ! अछूतो एव दलितो के प्रति कितनी ममता, कितनी आत्मीयता ! गरीव ब्राह्मण को अपने शरीर पर के एकमात्र वस्त्र का दान देते, चन्दना के हाथो उडद के उवले दाने भोजनार्थ लेते, विरोधियो की हजारो यातनाएँ सहते हुए भी यज्ञ आदि मिथ्या विश्वासो का खडन करते, गौतम जैसे प्रिय-शिष्य को भी भूल के अपराध मे दण्ड देते हुए भगवान् महावीर के दिव्य रूप को यदि आप एक वार भी अपने कल्पना-पथ पर ला सके, तो धन्य-धन्य हो जायेगे, अलौकिक आनन्द मे आत्म-विभोर हो जायेंगे। कौन कहता है कि हमारे महापुरुष के नाम, उनके स्तुति-कीर्तन, कुछ नही करते। यह तो आत्मा से परमात्मा वनने का पथ है। जीवन को सरस, सुन्दर एव सवल वनाने का प्रवल साधन है ! अतएव एक धुन से, एक लगन से अपने धर्म-तीर्थ करो का, अरिहन्त भगवानो का स्मरण कीजिए। सूत्रकार ने इसी उच्च आदर्श को ध्यान मे रखकर चतुर्विशतिस्तव-सूत्र का निर्माण किया है।

तीर्थ और तीर्थकर

*

'धर्म-तीर्थ कर' शब्द का निर्वचन भी ध्यान मे रखने लायक है। धर्म का अर्थ है, जिसके द्वारा दुर्गति मे, दुरवस्था मे पतित होता हुआ आत्मा सभल कर पुन स्व-स्वरूप मे स्थित हो जाए, वह अध्यात्म साधना ! तीर्थ का अर्थ है, जिसके द्वारा ससार समुद्र से

तिरा जाए, वह साधना । 'प्रतिक्रमण सूत्र पद विवृत्ति' मे आचार्य नमि लिखते है

"दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मान धारयतीति धर्म —'तीर्यतेऽनेन इति तीर्थम्, धर्म एव तीर्थम् धर्मतीर्थम्"

अस्तु, ससार-समुद्र से तिराने वाला, दुर्गति से उद्धार करने वाला धर्म ही सच्चा तीर्थ है। और, जो इस प्रकार के अहिंसा, सत्य आदि धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं, वे तीर्थ कर कहलाते है। चौवीसो ही तीर्थ करो ने, अपने-अपने समय मे, अहिसा, सत्य आदि आत्म-धर्म की स्थापना की है, धर्म से भ्रष्ट होती हुई जनता पुन धर्म मे स्थिर की है।

'जिन' का अर्थ है—विजेता। किसका विजेता ? इसके लिए फिर आचार्य नमि के पास चलिए, क्योकि वह आगमिक परिभाषा का एक विलक्षण पण्डित है। प्रतिक्रमण सत्र पद विवृत्ति मे लिखा है

"राग-द्वेष कषायेन्द्रिय परिषहोपसर्गाष्टप्रकारकर्म जेतृत्वाज्जिना ।"

राग, द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परिषह, उपसर्ग तथा अष्टविध कर्म के जीतने से जिन कहलाते हैं। चार और आठ कर्म के चक्कर मे न पड़िए। तीर्थकरो के चार अघाति-कर्म भी विजित-प्राय ही है। वासना-हीन पुरुष के लिए केवल भोग्य-मात्र हैं, बधन नही। घाति-कर्म नष्ट होने के कारण अब इनसे आगे नये कर्म नही बध सकते। यह तो तीर्थकरो के जीवन काल की बात है। और, यदि वर्तमान मे प्रश्न है, अब तो चौवीस तीर्थ कर मोक्ष मे पहुँच चुके हैं, आठो ही कर्मो को नष्ट कर सिद्ध हो चुके है, अत वे पूर्ण जिन है।

तीर्थकर : उच्चता का आदर्श

*

जैन-धर्म ईश्वरवादी नही है, तीर्थ करवादी है। किसी सर्वथा परोक्ष एव अज्ञात ईश्वर मे वह बिल्कुल विश्वास नही रखता। उनका कहना है कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की स्वरूप-सम्बन्धी कोई रूपरेखा हमारे सामने ही नही है, जो अनादिकाल से मात्र कल्पना का विषय ही रहा है, जो सदा से अलौकिक ही रहता

चला आया है, वह हम मनुष्यो को अपना क्या आदर्श सिखा सकता है ? उसके जीवन पर से, उसके व्यक्तित्व पर से हमे क्या कुछ लेने लायक मिल सकता है ? हम मनुष्यो के लिए तो वही आराध्यदेव चाहिए, जो कभी मनुष्य ही रहा हो, हमारे समान ही संसार के सुख-दु ख से एव मोह-माया से सत्रस्त रहा हो, और बाद मे अपने अनुभव एव आध्यात्मिक जागरण के बल से ससार के समस्त सुख-भोगो को दु खमय जानकर तथा प्राप्त राज्य-वैभव को ठुकरा कर निर्वाण पद का पूर्ण व दृढ साधक बना हो, सदा के लिए कर्म-बन्धनो से मुक्त होकर अपने मोक्ष-स्वरूप अंतिम लक्ष्य पर पहुँचा हो। जैन-धर्म के तीर्थंकर एव जिन इसी श्रेणी के साधक थे। वे कुछ प्रारम्भ से ही देव न थे, अलौकिक न थे। वे भी हमारी ही तरह एक दिन इस ससार के पामर प्राणी थे, परन्तु अपनी अध्यात्म-साधना के बल पर अन्त मे शुद्ध, बुद्ध, मुक्त एव विश्ववद्य हो गए थे। प्राचीन धर्म-शास्त्रो मे आज भी उनके उत्थान-पतन के अनेक कडवे-मीठे अनुभव एव धर्म-साधना के क्रम-बद्ध चरण-चिह्न मिल रहे हैं, जिन पर यथा-साध्य चल कर हर कोई साधक अपना आत्म-कल्याण कर सकता है। तीर्थंकरो का आदर्श साधक-जीवन के लिए क्रमबद्ध अभ्युदय एव निश्रेयस का रेखाचित्र उपस्थित करता है।

पूजा: और पुष्प

✿

"महिया' का अर्थ महित—पूजित होता है। इस पर विवाद करने की कोई बात नही है। सभी वन्दनीय पुरुष, हमारे पूज्य होते हैं। आचार्य पूज्य है, उपाध्याय पूज्य है, साधु पूज्य हैं, फिर भला तीर्थंकर क्यो न पूज्य होगे। उनसे बढकर तो पूज्य कोई हो ही नही सकता।

पूजा का अर्थ है, सत्कार एव सम्मान करना। वर्तमान पूजा आदि के शाब्दिक सघर्ष से पूर्व होने वाले आचार्यो ने ही पूजा के दो भेद किए हैं द्रव्य-पूजा और भाव-पूजा। शरीर और वचन को बाह्य विषयो से सकोच कर प्रभु-वन्दना में नियुक्त करना, द्रव्य-पूजा है और मन को भी बाह्य भोगासक्ति से हटाकर प्रभु के चरणो मे अर्पण

करना, भाव-पूजा है। इस सम्बन्ध मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो विद्वान् एकमत हैं।[1]

भगवत्पूजा के लिए पुष्पो की भी आवश्यकता होती है। प्रभु के समक्ष उपस्थित होने वाला भक्त पुष्प-हीन कैसे रह सकता है ? आइए, जैन-जगत के प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य हरिभद्र हमे कौन से पुष्प वतलाते हैं ? उन्होने बड़े ही प्रेम से प्रभु-पूजा के योग्य पुष्प चुन रक्खे हैं—

> अहिंसा सत्यमस्तेय, ब्रह्मचर्यमसगता।
> गुरुभक्तिरतपो ज्ञान, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ।।
>
> —अष्टक प्रकरण ३/६

देखा, आपने कितने सुन्दर पुष्प हैं ! अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, भक्ति, तप और ज्ञान—प्रत्येक पुष्प जीवन को महका देने वाला है ! भगवान् के पुजारी वनने वालो को इन्ही हृदय के भाव-पुष्पो द्वारा पूजा करनी होगी। अन्यथा स्थूल क्रियाकाड से कुछ भी होना जाना नही है। प्रभु की सच्ची पूजा—उपासना तो यही है कि हम सत्य वोले, अपने वचन का पालन करे, कठोर भाषण न करें किसी को पीडा न पहुँचाएँ, ब्रह्मचर्य का पालन करे, वासनाओ को जीते, पवित्र विचार रखे, सव जीवो के प्रति समभावना एव आदर की आदत पैदा करे, लोकैषणा एव वित्तैषणा से अलग रहे। जव इन भाव पुष्पो की सुगन्ध आपके हृदय के अणु-अणु मे समा जाए, उस समय ही समझना चाहिए कि

---

१ (क) दिगम्वर विद्वान आचार्य अमित गति कहते हैं—

> वचो-विग्रह-सकोचो, द्रव्य-पूजा निगद्यते ।
> तत्र मानस-सकोचो, भावपूजा पुरातनै. ।।
>
> —अमितगति श्रावकाचार

(ख) श्वेताम्बर विद्वान् आचार्य नमि कहते हैं—

नम इति पूजार्थम् । पूजा च द्रव्य-भाव-सकोचस्तत्र करशिर पादाविसन्यासो द्रव्य-सकोच , भाव-सकोचस्तु विशुद्धस्य मनसो नियोग ।।

—प्रतिक्रमणसूत्रपदविवृति`, प्रणिपातदण्डक

हम भगवान् के सच्चे पुजारी बन रहे हैं और हमारी पूजा मे अपूर्व वल एव शक्ति का सचार हो रहा है।

प्रभु के दरबार मे यही पुष्प लेकर पहुँचो । प्रभु को इन से असीम प्रेम है। उन्होने अपने जीवन का तिल-तिल इन्ही पुष्पो की रक्षा करने के पीछे खर्च किया है, विपत्ति की असह्य चोटो को मुस्कुराते हुए सहन किया है। अत जिसको जिस वस्तु से अत्यधिक प्रेम हो, वही लेकर उसकी सेवा मे उपस्थित होना चाहिए । पूजा व्यक्तित्व के अनुसार होती है। अन्यथा पूजा नही, पूजा का उपहास है। पूज्य, पूजक और पूजा का परस्पर सम्बन्ध रखने वाली योग्य त्रिपुटी ही जीवन का कल्याण कर सकती है, अन्य नही।

पितामह भीष्म शर-शय्या पर पडे थे। तमाम शरीर मे वाण विधे थे, परन्तु उनके मस्तक मे वाण न लगने से सिर नीचे लटक रहा था। भीष्म ने तकिया मागा। लोग दौडे और नरम-नरम रूई मे भरे कोमल तकिये लाकर उनके सिर के नीचे रखने लगे । भीष्म ने उन सबको लौटाते हुए कहा "अर्जुन को बुलाओ !" अर्जुन आए। भीष्म ने कहा —"बेटे अर्जुन ! सिर नीचे लटक रहा है, तकलीफ हो रही है, जरा तकिया तो लाओ।" चतुर अर्जुन ने तुरन्त तीन वाण मस्तक मे मार कर वीरवर भीष्म की स्थिति के अनुकूल तकिया लगा दिया। पितामह ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया । क्योकि, अर्जुन ने जैसी शय्या थी, वैसा ही तकिया दिया। उस समय वीरवर भीष्म को आराम पहुँचाने की इच्छा से उन्हे रूई का तकिया देना उन्हे कष्ट पहुँचाना था, और था उनकी महिमा के प्रति अपने मोह-अज्ञान का प्रदर्शन । किसकी कैसी उपासना होनी चाहिए, इसके लिए यह कहानी ही पर्याप्त होगी, अधिक क्या ?

आरोग्य और समाधि

*

लोगस्स मे जो 'आरुग्ग' शब्द आया है, उसके दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य आरोग्य यानी ज्वर आदि रोगो से रहित होना । भाव आरोग्य यानी कर्म-रोगो से रहित होकर स्वस्थ होना, आत्म-स्वरूपस्थ होना, सिद्ध होना । सिद्ध दशा पाकर ही दुर्दशा से छुटकारा मिलेगा। प्रस्तुत-सूत्र मे आरोग्य से मूल अभिप्राय, भाव

आरोग्य से है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि साधक को द्रव्य आरोग्य से कोई वास्ता ही नही रखना चाहिए । भाव-आरोग्य की साधना के लिए द्रव्य-आरोग्य भी अपेक्षित है। यदि द्रव्य आरोग्य हमारी साधना मे सहकारी हो सकता है, तो वह भी अपेक्षित ही है, त्याज्य नही।

'समाहिवरमुत्तम' मे समाधि शब्द का अर्थ बहुत गहरा है। यह दार्शनिक जगत् का महामान्य शब्द है । वाचक यशोविजय जी ने कहा है—जब कि ध्याता, ध्यान एव ध्येय की द्वैत-स्थिति हट कर केवल स्वस्वरूप-मात्र का निर्भास होता है, वह ध्यान समाधि है—

स्वरूपमात्र-निर्भास, समाधिर्ध्यानमेव हि।

—द्वात्रिंशिका २४/२७

उपाध्याय जी की उडान कितनी ऊँची है। समाधि का कितना ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है। योगसूत्रकार पतञ्जलि भी वाचक जी के ही पथ पर है।

भगवान् महावीर साधक-जीवन के बडे ही मर्मज्ञ पारखी हैं। समाधि का वर्णन करते हुए आपने समाधि के दश प्रकार बतलाए हैं—पाच महाव्रत और पाच समिति—

"दसविहा समाही पण्णत्ता तंजहा, पाणाइवायाओ वेरमणं ."

—स्थानाग सूत्र, १०/३/११

पाच महाव्रत और पाच समिति का मानव जीवन के उत्थान मे कितना महत्त्व है, यह पूछने की चीज नही ? समस्त जैन-वाङ्मय इन्ही के गुण-गान से भरा पडा है ! सच्ची शान्ति इन्ही के द्वारा मिलती है।

समाधि का सामान्य अर्थ है—'चित्त की एकाग्रता ।' जब साधक का अन्तर्मन, इधर-उधर के विक्षेपो से हटकर, अपनी स्वीकृत साधना के प्रति एक-रूप हो जाए, किसी प्रकार की वासना का लेश भी न रहे, तब वह समाधि-पथ पर पहुँचता है। यह समाधि, मनुष्य का अभ्युदय करती है, अन्तरात्मा को पवित्र बनाती है, एव सुख-दुःख तथा हर्ष शोक आदि की हर हालत मे शान्त एव स्थिर रखती है। इस उच्च समाधि-दशा पर पहुँचने के बाद आत्मा का पतन

नही होता। प्रभु के चरणो मे अपनी साधना के प्रति सर्वथा उत्तरदायित्व-पूर्ण रहने की माँग कितनी अधिक सुन्दर है ! कितनी अधिक भाव-भरी है !

कुछ लोग भोग-पिपासा से अन्धे होकर गलत ढग से प्रार्थना करते भी देखे गए हैं। कोई स्त्री माँगता है, तो कोई धन, कोई पुत्र माँगता है, तो कोई प्रतिष्ठा ! अधिक क्या, कितने ही लोग तो अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने और उनका सहार करने के लिए प्रभु के नाम की मालाएँ फेरते हैं। इस कुचक्र मे साधारण जनता ही नही, अच्छे-से-अच्छे व्यक्ति भी फसे हुए हैं। परन्तु, जैन-धर्म के विशुद्ध दृष्टिकोण से यह सब उन वीतराग महापुरुषो का भयङ्कर अपमान है ! निवृत्ति मार्ग के प्रवर्तक तीर्थ करो से इस प्रकार वासनामयी प्रार्थनाएँ करना वज्र मूर्खता का अभिशाप है ! जो जैसा हो, उससे वैसी ही प्रार्थना करनी चाहिए। विरागी मुनियो से काम-शास्त्र के उपदेश की और वेश्या से धर्मोपदेश की प्रार्थना करने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध मे हर कोई कह सकता है कि उसका दिल और दिमाग ठिकाने पर नही है। अतएव प्रस्तुत पाठ मे ऐसे स्वार्थी भक्तो के लिए खूब ही ध्यान देने योग्य बात कही गई है। यहाँ और कुछ ससारी पदार्थ न मांग कर तीर्थ करो के व्यक्तित्व के सर्वथा अनुरूप सिद्धत्व की, बोधि की और समाधि की प्रार्थना की गई है। जैन-दर्शन की भावनारूप सुन्दर प्रार्थना का आदर्श यही है कि हम इधर-उधर न भटक कर अपने आत्म-निर्माण के लिए ही मगल कामना करे— 'समाहिवरमुत्तम दितु।'

सिद्धः दाता नहीं, आलम्बन

अब एक अन्तिम शब्द 'सिद्धा सिद्धि मम दिसतु' रह गया है, जिस पर विचार करना आवश्यक है। कुछ सज्जन कहते हैं कि भगवान् तो वीतराग हैं, कर्त्ता नही हैं। उनके श्री-चरणो मे यह व्यर्थ की प्रार्थना क्यो और कैसी ? उत्तर मे कहना है कि वस्तुत प्रभु वीतरागी हैं, कुछ नही करते हैं, परन्तु उनका अवलम्ब लेकर भक्त तो सब-कुछ कर सकता है। सिद्धि, प्रभु नही देते, भक्त स्वय ग्रहण करता है। परन्तु, भक्ति की भाषा मे इस प्रकार प्रभु-चरणो मे प्रार्थना करना, भक्त का कर्तव्य है। ऐसा करने से अहता का नाश होता है, हृदय मे श्रद्धा का बल जागृत होता है, और भगवान् के प्रति अपूर्व सम्मान

प्रदर्शित होता है। यदि लाक्षणिक भाषा मे कहे, तो इसका अर्थ—'सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करे, यह न होकर यह होगा कि सिद्ध प्रभु के आलम्बन से मुझे सिद्धि प्राप्त हो।' अब यह प्रार्थना, भावना मे बदल गई है।

जैन-दृष्टि से भावना करना, अपसिद्धान्त नही, किन्तु सुसिद्धान्त है। जैन-धर्म मे भगवान का स्मरण केवल श्रद्धा का बल जागृत करने के लिए ही है, यहाँ लेने-देने के लिए कोई स्थान नही। हम भगवान् को कर्ता नही मानते, केवल अपने जीवन-रथ का सारथी मानते हैं। सारथी मार्ग-दर्शन करता है, युद्ध योद्धा को ही करना होता है। महाभारत के युद्ध मे कृष्ण की स्थिति जानते हैं आप ? क्या प्रतिज्ञा है ? "अर्जुन! मैं केवल तेरा सारथी बनूँगा। शस्त्र नही उठाऊँगा। शस्त्र तुझे ही उठाने होगे। योद्धाओ से तुझे ही लडना होगा। शस्त्र के नाते अपने ही गाण्डीव पर भरोसा रखना होगा!" यह है कृष्ण की जगत्प्रसिद्ध प्रतिज्ञा! अध्यात्म-रणक्षेत्र के महान् विजयी जैन तीर्थकरो का भी यही आदर्श है! उनका भी कहना है कि "हमने सारथी बनकर तुम्हे मार्ग बतला दिया है। अत हमारा प्रवचन यथासमय तुम्हारे जीवनरथ को हाकने और मार्ग-दर्शन कराने के लिए सदा-सर्वदा तुम्हारे साथ है, किन्तु साधना के शस्त्र तुम्हे ही उठाने होगे, वासनाओ से तुम्हे ही लडना होगा, सिद्धि तुमको मिलेगी, अवश्य मिलेगी! किन्तु मिलेगी अपने ही पुरुपार्थ से।"

सिद्धि का अर्थ पुरानी परम्परा मुक्ति—मोक्ष करती आ रही है। प्राय प्राचीन और अर्वाचीन सभी टीकाकार इतना ही अर्थ कह कर मौन हो जाते हैं। परन्तु, क्या सिद्धि का सीधा-सादा मुख्यार्थ उद्देश्य-पूर्ति नही हो सकता ? मुझे तो यही अर्थ उचित जान पडता है। यद्यपि परम्परा से मोक्ष भी उद्देश्य-पूर्ति मे ही सम्मिलित है। किन्तु यहाँ निरतिचार व्रतपालन-रूप उद्देश्य की पूर्ति ही कुछ अधिक सगत जान पडती है। उसका हम से निकट सम्बन्ध है।

पाठान्तर

✿

आचार्य हेमचन्द्र ने 'कित्तिय-वंदिय-महिया' मे के 'महिया' पाठ

के स्थान मे 'मइआ' पाठ का भी उल्लेख किया है। इस दशा मे 'मइआ' का अर्थ मेरे द्वारा करना चाहिए। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ होगा—मेरे द्वारा कीर्तित, वन्दित—

"मइआ इति पाठान्तरम्, तत्र मयका मया।"

—योग शास्त्र (३/१२४) स्वोपज्ञ-वृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र के कथनानुसार कीर्तन का अर्थ नाम-ग्रहण है, और वन्दन का अर्थ है स्तुति।

कर्म रज और मल

आचार्य हेमचन्द्र 'विहुयरयमला' पर भी नया प्रकाश डालते हैं। उक्त पद मे रज और मल दो शब्द है। रज का अर्थ वध्यमान कर्म, वद्ध कर्म, तथा ऐर्या-पथ कर्म किया है। और मल का अर्थ पूर्व वद्ध कर्म, निकाचित कर्म तथा साम्परायिक कर्म किया है। क्रोध, मान आदि कपायो के विना केवल मन आदि योगत्रय से वधने वाला कर्म ऐर्यापथ-कर्म होता है। और कपायो के साथ योगत्रय से वधने वाला कर्म साम्परायिक होता है। वद्ध कर्म केवल लगने मात्र होता है, वह दृढ नही होता। और निकाचित कर्म दृढ वधने वाले अवश्य भोगने योग्य कर्म को कहते है। सिद्ध भगवान् दोनो ही प्रकार के रज एव मल से सर्वथा रहित होते है :—

"रजश्च मलं च रजोमले। विधूते, प्रकम्पिते अनेकार्थत्वादपनीते वा रजोमले यैस्ते विधूतरजोमला'। वध्यमानं च कर्म रजः, पूर्ववद्धं तु मलम्। अथवा वद्ध रजो, निकाचित मलम्। अथवा ऐर्या-पथ रजः, साम्परायिक मलमिति।"

—योगशास्त्र, (३/१२४) स्वोपज्ञ-वृत्ति

विधि

चतुर्विंशतिस्तव, ऐर्यापथ-सूत्र के विवेचन मे निर्दिष्ट जिन-मुद्रा अथवा योग-मुद्रा से पढना चाहिए। अस्त-व्यस्त दशा मे पढने से स्तुति का पूर्ण रस नही मिलता।

* *

१ ‖ प्रतिज्ञा-सूत्र

करेमि भंते ! सामाइयं
सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।
जावनियमं पज्जुवासामि ।
दुविहं तिविहेणं ।
मणेणं, वायाए, काएणं।
न करेमि, न कारवेमि।
तस्स भंते ! पडिक्कमामि,
निंदामि, गरिहामि,
अप्पाणं वोसिरामि !

शब्दार्थ

भंते=हे भगवन् ! (आपकी साक्षी से मैं)
सामाइयं=सामायिक
करेमि=करता हूं
[कैसी सामायिक ?]
सावज्जं=सावद्य,
स+अवद्य=पाप-सहित
जोगं=व्यापारों को
पच्चक्खामि=त्यागता हूँ
[कब तक के लिए ?]
जाव=जब तक
नियमं=नियम की
पज्जुवासामि=उपासना करूँ
[किस रूप में सावद्य का त्याग ?]
दुविहं=दो करण से
तिविहेणं=तीन योग से

मरणेणं=मन से
वायाए=वचन से
काएणं=काया से (सावद्य व्यापार)
न करेमि=न स्वयं करूँगा
न कारवेमि=न दूसरो से कराऊँगा
भंते=हे भगवन् !
तस्स=अतीत मे जो भी पाप-कर्म किया हो, उसका
पडिक्कमामि=प्रतिक्रमण करता हू
निंदामि=आत्म-साक्षी से निन्दा करता हू
गरिहामि=आपकी साक्षी से गर्हा करता हूँ
अप्पाणं=अपनी आत्मा को
वोसिरामि=वोसराता हू, त्यागता हू

भावार्थ

हे भगवन् ! मैं सामायिक ग्रहण करता हूँ, पापकारी क्रियाओं का परित्याग करता हूँ।

जब तक मैं दो घडी के नियम की उपासना करूँ; तब तक दो करण [करना और कराना] और तीन योग से—मन, वचन और शरीर से पाप कर्म न स्वय करूँगा और न दूसरो से कराऊँगा।

[जो पाप कर्म पहले हो गए हैं, उनका] हे भगवन् ! मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, अपनी साक्षी से निन्दा करता हूँ, आपकी साक्षी से गर्हा करता हूँ। अन्त मे मैं अपनी आत्मा को पापव्यापार से वोसिराता हू—अलग करता हूँ। अथवा पाप-कर्म करने वाली अपनी भूतकालीन मलिन आत्मा का त्याग करता हू, नया पवित्र जीवन ग्रहण करता हूँ।

विवेचन

अब तक जो कुछ भी विधि-विधान किया जा रहा था, वह सब सामायिक ग्रहण करने के लिए अपने-आप को तैयार करना था। अतएव ऐर्यापथिकी-सूत्र के द्वारा कृत पापो की आलोचना करने के बाद, तथा कायोत्सर्ग मे एव खुले रूप मे लोगस्स-सूत्र के द्वारा अन्तर्हृदय की पाप कालिमा धो देने के बाद, सब ओर से विशुद्ध आत्म-भूमि मे सामायिक का बीजारोपण, उक्त 'करेमि भंते' सूत्र के द्वारा किया जाता है।

सामायिक क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर 'करेमि भंते' के मूल पाठ में स्पष्ट रूप से दे दिया गया है । सामायिक प्रत्याख्यान-स्वरूप है, सवर-रूप है, अतएव कम-से-कम दो घडी के लिए पाप-रूप व्यापारो का, क्रियाओ का, चेष्टाओ का प्रत्याख्यान—त्याग करना, सामायिक है ।

सामायिक की प्रतिज्ञा

साधक प्रतिज्ञा करता है—हे भगवन् ! जिनके कारण अन्तर्हृदय पाप-मल से मलिन होता हैं, आत्म-शुद्धि का नाश होता है, उन मन, वचन और शरीर-रूप तीनो योगो की दुष्प्रवृत्तियो का स्वीकृत नियम-पर्यन्त त्याग करता हूँ । अर्थात् मन से दुष्ट चिन्तन नही करूँगा, वचन से असत्य तथा कटु-भाषण नही करूँगा, और शरीर से हिंसा आदि किसी भी प्रकार का दुष्ट आचरण नही करूँगा । मन, वचन, एव शरीर की अशुभ प्रवृत्ति-मूलक चचलता को रोक कर अपने-आपको स्व-स्वरूप मे स्थिर तथा निश्चल बनाता हूँ, आत्म-शुद्धि के लिए आध्यात्मिक क्रिया की उपासना करता हूँ, भूतकाल मे किए गए पापो से प्रतिक्रमण के द्वारा निवृत्त होता हूँ, आलोचना एव पश्चत्ताप के रूप मे आत्म-साक्षी से निन्दा तथा आपकी साक्षी से गर्हा करता हूँ, पापचार मे सलग्न अपनी पूर्वकालीन आत्मा को वोसराता हूँ; फलत दो घडी के लिए सयम एव सदाचार का नया जीवन अपनाता हुँ ।

यह उपर्युक्त विचार, सामायिक का प्रतिज्ञा-सूत्र कहलाता है । पाठक समझ गए होगे कि कितनी महत्त्वपूर्ण प्रतिज्ञा है ! सामायिक का आदर्श केवल वेश वदलना ही नही, जीवन को वदलना है । यदि सामायिक ग्रहण करके भी वही वासना रही, वही प्रवंचना रही, वही क्रोध, मान, माया और लोभ की कालिमा रही,.तो फिर सामायिक करने से लाभ क्या ? खेद है कि प्रमाद मे, राग द्वेष मे, सासारिक प्रपचो मे उलझे रहने वाले आजकल के जीव नित्य प्रति सामायिक करते हुए भी सामायिक के अद्‌भुत अलौकिक सम-स्वरूप को नही देख पाते है ! यही कारण है कि वर्तमान युग मे सामायिक के द्वारा आत्म-ज्योति के दर्शन करके वाले विरले ही साधक मिलते हैं ।

सर्वविरतिः देशविरति

*

सामायिक मे जो पापचार का त्याग वतलाया गया है, वह किस कोटि का है ? उक्त प्रश्न के उत्तर मे कहना है कि मुख्य रूप से त्याग के दो मार्ग है—'सर्व-विरति और देश-विरति ।' सर्व-विरति का अर्थ है—'सर्व अश में त्याग ।' और देश-विरिति का अर्थ है—'कुछ अश मे त्याग ।' प्रत्येक नियम के तीन योग—मन, वचन, शरीर और अधिक-से-अधिक नौ भग [प्रकार] होते हैं । अस्तु, जो त्याग पूरे नौ भगो से किया जाता है, वह सर्व-विरति और जो नौ में से कुछ भी कम आठ, सात, या छह आदि भगो से किया जाता है, वह देश-विरति होता है । साधु की सामायिक सर्व-विरति है, अत वह तीन करण और तीन योग के नौ भगो से समस्त पाप-व्यापारो का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है । परन्तु, गृहस्थ की सामायिक देश-विरति है, अत वह पूर्ण त्यागी न वनकर केवल छह भगो से अर्थात् दो करण तीन योग से दो घडी के लिए पापो का परित्याग करता है । इसी वात को लक्ष्य मे रखते हुए प्रतिज्ञा-पाठ मे कहा गया कि 'दुविह तिविहेणं ।' अर्थात् सावद्य योग न स्वय करूँगा और न दूसरो से कराऊँगा, मन, वचन, एव शरीर से ।

दो करण और तीन योग के समिश्रण से सामायिक-रूप प्रत्याख्यान-विधि के छह प्रकार होते है—

१—मन से करूँ नही ।

२—मन से कराऊ नही ।

३—वचन से करूँ नही ।

४—वचन से कराऊँ नही ।

५—काया से करूँ नही ।

६—काया से कराऊँ नही ।

शास्त्रीय परिभाषा मे उक्त छह प्रकारो को षट् कोटि के नाम से लिखा गया है । साधु का सामायिक-व्रत नव कोटि से होता है, उसमे सावद्य व्यापार का अनुमोदन तक भी त्यागने के लिए तीन कोटियाँ

और होती हैं, परन्तु गृहस्थ की परिस्थितिया कुछ ऐसी हैं कि वह ससार मे रहते हुए पूर्ण त्याग के उग्र पथ पर नही चल सकता। अत साधुत्व की भूमिका मे लिए जाने वाले—मन से अनुमोदू नही, वचन से अनुमोदू नही, काया से अनुमोदू नही—उक्त तीन भगो के सिवा शेष छह भगो से ही अपने जीवन को पवित्र एव मगलमय वनाने के लिए सयम-यात्रा का आरंभ करता है। यदि ये छह भग भी सफलता के साथ जीवन मे उतार लिए जाएँ, तो वेडा पार है! सयम-साधना के क्षेत्र मे छोटी और वडी साधना का उतना विशेप मूल्य नही है, जितना कि प्रत्येक साधना को सच्चे हृदय से पालन करने का मूल्य है। छोटी-से-छोटी साधना भी यदि हृदय की शुद्ध भावना के साथ, ईमानदारी के साथ पालन की जाए, तो वह जीवन मे पवित्रता का मगलमय वातावरण उत्पन्न कर देती है, माया के वन्धनो को तोड डालती है।

'भते' के अर्थ

*

यह तो हुआ सामायिक की वस्तु-स्थिति के सम्वन्ध मे सामान्य विवेचन! अव जरा प्रस्तुत-सूत्र के विशेप स्थलो पर भी कुछ विचार-चर्चा कर लें। सर्वप्रथम प्रतिज्ञा-सूत्र का 'करेमि भते'-रूप प्रारभिक अश आपके समक्ष है। गुरुदेव के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति-भाव से भरा शब्द है यह! 'भदि कल्याणे सुखे च' धातु से 'भते' शब्द वनता है। 'भते' का सस्कृत रूप 'भदत' होता है। भदंत का अर्थ कल्याणकारी होता है। गुरुदेव से वढ कर ससार-जन्य दु ख से त्राण देने वाला और कौन भदत है? 'भते' के 'भवात' तथा 'भयात'—ये दो सस्कृत रूपान्तर भी किए जाते हैं। 'भवात' का अर्थ है—भव यानी ससार का अन्त करने वाला। और भयात का अर्थ है—भय यानी डर का अन्त करने वाला। गुरुदेव की शरण मे पहुँचने के वाद भव और भय का क्या अस्तित्व? 'भते' का अर्थ भगवान् भी होता है। पूज्य गुरुदेव के लिए 'भते'—'भगवान्' शब्द का सम्वोधन भी अति सुन्दर है।

यदि 'भते' से गुरुदेव के प्रति सम्वोधन न लेकर हमारी प्रत्येक क्रिया के साक्षी एव द्रष्टा सर्वज्ञ वीतराग भगवान् को सम्वोधित

करना माना जाए, तव भी कोई हानि नही है। गुरुदेव उपस्थित न हो, तव वीतराग भगवान् को ही साक्षी वना कर अपना धर्मानुष्ठान शुरू कर देना चाहिए। वीतराग देव हमारे हृदय की सव भावनाओ के द्रष्टा हैं, उनसे हमारा कुछ भी छिपा हुआ नही है, अत. उनकी साक्षी से धर्म-साधना करना, हमे आध्यात्मिक क्षेत्र मे वडी वलवती प्रेरणा प्रदान करता है, सतत जागृत रहने के लिए सावधान करता है। वीतराग भगवान् की सर्वज्ञता और उनकी साक्षिता हमारी धर्म-क्रियाओ मे रहे हुए दम्भ के विष को दूर करने के लिए अमोघ अमृत मन्त्र है।

सावद्य की व्याख्या

*

'सावज्ज जोग पच्चक्खामि' मे आने वाले 'सावज्ज' शब्द पर भी विशेष लक्ष्य रखने की आवश्यकता है। 'सावज्ज' का संस्कृत रूप सावद्य है। सावद्य मे दो शब्द हैं—स' और 'अवद्य'। दोनो मिलकर 'सावद्य' शब्द वनता है। सावद्य का अर्थ है,पाप-सहित। अत जो कार्य पाप-सहित हो, पाप-कर्म के वन्ध करने वाले हो, आत्मा का पतन करने वाले हो, सामायिक मे उन सवका त्याग आवश्यक है। परन्तु, कुछ लोगो की मान्यता है कि "सामायिक करते समय जीव-रक्षा का कार्य नही कर सकते, किसी की दया नही पाल सकते।" इस सम्वन्ध मे उनका अभिप्राय यह है कि "सामायिक मे किसी पर राग-द्वेप नही करना चाहिए। और, जव हम किसी मरते हुए जीव को वचाएँगे, तो, अवश्य उस पर राग-भाव आएगा। विना राग-भाव के किसी को वचाया नही जा सकता।" इस प्रकार उनकी दृष्टि मे किसी मरते हुए जीव को वचाना भी सावद्य योग है।

प्रस्तुत भ्रान्त धारणा के उत्तर मे निवेदन है कि सामायिक मे सावद्य योग का त्याग है। सावद्य का अर्थ है=पापमय कार्य। अत सामायिक मे जीव-हिसा का त्याग ही अभीष्ट है, न कि जीव-दया का। क्या जीव-दया भी पापमय कार्य है? यदि ऐसा है, तव तो ससार मे धर्म का कुछ अर्थ ही नही रहेगा। दया तो मानव-हृदय के कोमल-भाव की एव सम्यक्त्व के अस्तित्व की सूचना देने वाला अलौकिक धर्म है। जहाँ दया नही, वहाँ धर्म तो क्या, मनुष्य की साधारण मनुष्यता भी न रहेगी। जीव-दया जैन-धर्म का तो प्राण

है। सभ्यता के आदिकाल से जैन-धर्म की महत्ता दया के कारण ही ससार में प्रख्यात रही है।

रागभाव कहाँ और क्या है ?

✿

अब रहा राग-भाव का प्रश्न ! इस सम्बन्ध मे कहा है कि राग, मोह के कारण होता है। जहाँ ससार का अपना स्वार्थ है, कषाय-भाव है, वहाँ मोह है। जब हम सामायिक मे किसी भी प्राणी की, वह भी विना किसी स्वार्थ के, केवल हृदय की स्वभावत उद्‌बुद्ध हुई अनुकम्पा के कारण रक्षा करते है, तो मोह किधर से होता है ? राग-भाव को कहाँ स्थान मिलता है ? जीव-रक्षा मे राग-भाव की कल्पना करना, आध्यात्मिकता का उपहास है। हमारे कुछ मुनि जीव-रक्षा आदि सत्प्रवृत्ति मे भी राग-भाव के होने का शोर मचाते हैं। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि आप साधुओ की सामायिक वडी है, या गृहस्थ की ? आप मानते हैं कि साधुओ की सामायिक वडी है, क्योंकि वह नव कोटि की है और यावज्जीवन की है। इस पर कहना है कि आप अपनी नव कोटि की सर्वोच्च सामायिक मे भूख लगने पर आहार के लिए प्रयत्न करते हैं, भोजन लाते है और खाते हैं, तव राग-भाव नही होता ? रोग होने पर आप शरीर की सार-सभाल करते हैं, औषधि खाते हैं, तव राग-भाव नही होता ? शीतकाल मे सर्दी लगने पर कवल ओढते है, सर्दी से वचने का प्रयत्न करते हैं, तव राग-भाव नही होता ? रात होने पर आराम करते हैं, कई घटे सोये रहते हैं, तव राग-भाव नही होता ? राग भाव होता है, विना किसी स्वार्थ और मोह के किसी जीव को वचाने मे ? यह कहाँ का दर्शन-शास्त्र है ? आप कहेगे कि साधु महाराज की सव प्रवृत्तियां निष्काम-भाव से होती है, अत उनमे राग-भाव नही होता। मैं कहूँगा कि सामायिक आदि धर्म-क्रिया करते समय अथवा किसी भी अन्य समय, किसी जीव की रक्षा कर देना भी निष्काम प्रवृत्ति है, अत वह कर्म-निर्जरा का कारण है, पाप का कारण नहीं। किसी भी अनासक्त पवित्र प्रवृत्ति मे राग-भाव की कल्पना करना, शास्त्र के प्रति अन्याय है। यदि इसी प्रकार राग-भाव माना जाए, तव तो पाप से कही भी छुटकारा नही होगा, हम कही भी पाप से नहीं

वच सकेंगे। अत राग का मूल मोह मे, आसक्ति मे, ससार की वासना मे है, जीव रक्षा आदि धर्म-प्रवृत्ति मे नही। जो सारे चैतन्य जगत् के साथ एकतान हो गया है, अखिल चिद्-विश्व के प्रति निष्काम एव निष्कपट-भाव से तादात्म्य की अनुभूति करने लग गया है, वह प्राणि-मात्र के दु ख को अनुभव करेगा, उसे दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करेगा, फिर भी वेलाग रहेगा, राग मे नही फसेगा।

आप कह सकते है कि साधक की भूमिका साधारण है, अत' वह इतना नि स्पृह एव निर्मोही नही हो सकता कि जीव-रक्षा करे और राग-भाव न रखे। कोई महान् आत्मा ही उस उच्च भूमिका पर पहुच सकता है, जो दु खित जीवो की रक्षा करे और वह भी इतने निस्पृह भाव से, एव कर्तव्य वुद्धि से करे कि उसे किसी भी प्रकार के राग का स्पर्श न हो। परन्तु, साधारण भूमिका का सावक तो राग-भाव से अस्पृष्ट नही रह सकता। इसके उत्तर मे कहना है कि--"अच्छा आपकी वात ही सही, पर इसमे हानि क्या है? क्योकि, साधक की आध्यात्मिक दुर्वलता के कारण यदि जीव-दया के समय राग-भाव हो भी जाता है, तो वह पतन का कारण नही होता, प्रत्युत पुण्यानुवन्धी पुण्य का कारण होता है। पुण्या-नुवन्धी पुण्य का अर्थ है कि अशुभ कर्म की अधिकाश मे निर्जरा होती है और शुभ कर्म का वन्ध होता है। वह शुभ कर्म यहाँ भी सुख-जनक होता है और भविष्य मे भी। पुण्यानुवन्धी पुण्य का कर्ता सुख-पूर्वक मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। वह जहाँ भी जाता है, इच्छानुसार ऐश्वर्य प्राप्त करता है और उस ऐश्वर्य को स्वय भी भोगता है एवं उससे जन-कल्याण भी करता है। जैन-धर्म के तीर्थ कर इसी उच्च पुण्यानुवन्धी पुण्य के भागी है। तीर्थ कर नाम गोत्र उत्कृष्ट पुण्य की दशा मे प्राप्त होता है। आपको मालूम है, तीर्थ कर नाम गोत्र कैसे बँधता है? अरिहन्त सिद्ध भगवान् का गुणगान करने से, ज्ञान दर्शन की आराधना करने से, सेवा करने से, आदि आदि.. । इसका अर्थ तो यह हुआ कि अरिहन्त सिद्ध भगवान् की स्तुति करना भी राग भाव है, ज्ञान एव दर्शन की आराधना भी राग-भाव है? यदि ऐसा है, तव तो आपके विचार से वह भी अकर्तव्य ही ठहरेगा। यदि यह सव भी अकर्तव्य ही है, फिर साधना के नाम से हमारे पास रहेगा क्या? आप कह सकते

हैं कि अरिहन्त आदि की स्तुति और ज्ञानादि की आराधना यदि निष्काम-भाव से करे, तो हमे सीधा मोक्ष पद प्राप्त होगा। यदि सयोग-वश कभी राग-भाव हो भी जाए तो वह भी तीर्थ करादि पद का कारण भूत होने से लाभप्रद ही है, हानिप्रद नही। इसी प्रकार हम भी कहते हैं कि सामायिक मे या किसी भी अन्य दशा मे जीव-रक्षा करना मनुष्य का एक कर्तव्य है, उसमे राग कैसा? वह तो कर्म-निर्जरा का मार्ग है। यदि किसी साधक को कुछ राग-भाव आ भी जाए, तब भी कोई हानि नही। वह उपर्युक्त दृष्टि से पुण्यानुवन्धी पुण्य का मार्ग है, अत एकान्त त्याज्य नही।

'सावज्ज' का सस्कृत रूप 'सावर्ज्य' भी होता है। सावर्ज्य का अर्थ है—निन्दनीय, निन्दा के योग्य। अत जो कार्य निन्दनीय हो, निन्दा के योग्य हो, उनका सामायिक मे त्याग किया जाता है। सामायिक की साधना, एक अतीव पवित्र निर्मल साधना है। इसमे आत्मा को निन्दनीय कर्मो से वचाकर, अलग रख कर निर्मल किया जाता है। आत्मा को मलिन वनाने वाले, निन्दित करने वाले कपाय भाव हैं, और कोई नही। जिन प्रवृत्तियो के मूल मे कपाय भाव रहता हो, क्रोध, मान, माया और लोभ का स्पर्श रहता हो, वे सव सावज्य कार्य हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि कर्म-वन्ध का मूल एकमात्र कपाय-भाव मे है, अन्यत्र नही। ज्यो-ज्यो साधक का कपाय मद होता है, त्यो-त्यो कर्म-वन्ध भी मन्द होता है, और इसके विपरीत ज्यो-ज्यो कपाय-भाव की तीव्रता होती है, त्यो-त्यो कर्म-वन्ध की भी तीव्रता होती है। जव कषाय भाव का पूर्णतया अभाव हो जाता है, तव साम्परायिक कर्म-वन्ध का भी अभाव हो जाता है। और, जव साम्परायिक कर्म-वन्ध का अभाव होता है, तो साधक झटपट केवलज्ञान एव केवल-दर्शन की भूमिका पर पहुच जाता है। अत आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करना है कि कौन कार्य निन्दनीय है और कौन नही? इसका सीधा-सा उत्तर है कि जिन कार्यो की पृष्ठ-भूमि मे कपायभावना रही हुई हो, वे निन्दनीय है और जिन कार्यो की पृष्ठ-भूमि मे कपायभावना न हो, अथवा प्रशस्त उद्देश्य-पूर्वक अल्प कपाय-भावना हो, तो वे निन्दनीय नही है। अस्तु, सामायिक मे साधक को वह कार्य नही करना चाहिए, जो क्रोध, मान, आदि कापायिक परिणति के कारण होता

है। परन्तु जो कार्य समभाव के साधक हो, कषाय-भाव को घटाने वाले हो, वे अरिहन्त सिद्ध की स्तुति, ज्ञान का अभ्यास, गुरु-जनो का सत्कार, ध्यान, जीवदया, सत्य आदि अवश्य करणीय हैं।

प्रस्तुत 'सावर्ज्य' अर्थ पर उन सज्जनो को विचार करना चाहिए, जो सामायिक मे जीव-दया के कार्य मे पाप वताते हैं। यदि सामायिक के साधक ने किसी ऊँचाई से गिरते हुए अवोध वालक को सावधान कर दिया, किसी अघे श्रावक के आसन के नीचे दवते हुए जीव को वचा दिया, तो वहाँ निन्दा के योग्य कौन-सा कार्य हुआ? क्रोध, मान, माया और लोभ मे से किस कषाय-भाव का वहाँ उदय हुआ? किस कपाय की तीव्र परिणति हुई, जिससे एकान्त पाप-कर्म का वध हुआ? किसी भी सत्य को समझने के लिए हृदय को निष्पक्ष एव सरल बनाना ही होगा। जव तक निष्पक्षता के साथ दर्शन-शास्त्र की गम्भीरता मे नही उतरा जाएगा, तव तक सत्य के दर्शन नही हो सकते।

अत सत्य वात तो यह है कि किसी भी प्रवृत्ति मे स्वय प्रवृत्ति के रूप मे पाप नही है। पाप है उस प्रवृत्ति की पृष्ठ भूमि मे रहने वाले स्वार्थ-भाव मे, कपाय-भाव मे, राग-द्वेष के दुर्भाव मे। यदि यह सव-कुछ नही है, साधक के हृदय मे पवित्र एव निर्मल करुणा आदि का ही भाव है, तो फिर किसी भी प्रकार का पाप नही है।

काल मर्यादा : दो घड़ी की

*

मूल पाठ मे 'जाव नियम' है, उससे दो घडी का अर्थ कैसे लिया जाता है? 'जाव नियम' का भाव तो 'जव तक नियम है, तव तक'—ऐसा होता है? इसका फलितार्थ तो यह हुआ कि यदि दश या वीस मिनट आदि की सामायिक करनी हो, तो वह भी की जा सकती है?

उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि आगम-साहित्य मे गृहस्थ की सामायिक के काल का कोई विशेप उल्लेख नही है। आगम मे जहाँ कही भी सामायिक चारित्र का वर्णन आया है, वहाँ यही कहा है कि सामायिक दो प्रकार की है—इत्वरिक और यावत्कथिक।

इत्वरिक अल्पकाल की होती है और यावत्कथिक यावज्जीवन की। परन्तु, प्राचीन आचार्यों ने दो घडी का नियम निश्चित कर दिया है। इस निश्चय का कारण काल-सम्बन्धी अव्यवस्था को दूर करना है। दो घडी का एक मुहूर्त होता है, अत जितनी भी सामायिक करनी हो, उसी हिसाब से 'जावनियम' के आगे मुहूर्त एक, मुहूर्त दो इत्यादि बोलना चाहिए।

अनुमोदन खुला क्यो ?

✿

सामायिक मे हिंसा, असत्य आदि पाप-कर्म का त्याग केवल कृत और कारित रूप से ही किया जाता है, अनुमोदन खुला रहता है। यहाँ प्रश्न है कि सामायिक मे पाप-कर्म स्वय करना नही और दूसरो से करवाना भी नही, परन्तु क्या पाप-कर्म का अनुमोदन किया जा सकता है? यह तो कुछ उचित नही जान पडता कि सामायिक मे बैठने वाला साधक हिंसा की प्रशसा करे, असत्य का समर्थन करे, चोरी और व्यभिचार की घटना के लिए वाह-वाह करे, किसी को पिटते-मरते देखकर—'खूब अच्छा किया' कहे, तो यह सामायिक क्या हुई, एक प्रकार का मिथ्याचार ही हो गया!

उत्तर मे निवेदन है कि सामायिक मे अनुमोदन अवश्य खुला रहता है, परन्तु उसका यह अर्थ नही कि सामायिक मे बैठने वाला साधक पापाचार की प्रशसा करे, अनुमोदन करे। सामायिक मे तो पापाचार के प्रति प्रशसा का कुछ भी भाव हृदय मे न रहना चाहिए। सामायिक मे, किसी भी प्रकार का पापाचार हो, न स्वय करना है, न दूसरो से करवाना है और न करने वालो का अनुमोदन करना है। सामायिक तो अन्तरात्मा मे—रमण करने की—लीन होने की साधना है, अत उसमे पापाचार के समर्थन का क्या स्थान?

अब यह प्रष्टव्य हो सकता है कि जब सामायिक मे पापाचार का समर्थन अनुचित एव अकरणीय है, तब सावद्य योग का अनुमोदन खुला रहने का क्या तात्पर्य है? तात्पर्य यह है कि श्रावक गृहस्थ की भूमिका का प्राणी है। उसका एक पांव संसार-मार्ग मे है, तो दूसरा मोक्ष-मार्ग मे है। वह सासारिक प्रपचो का पूर्ण त्यागी नही

है। अतएव जब वह सामायिक मे बैठता है, तब भी घर-गृहस्थी की ममता का पूर्णतया त्याग नही कर सकता है। हाँ, तो घर पर जो कुछ भी आरभ-समारभ होता रहता है, दूकान पर जो कुछ भी कारोबार चला करता है, कारखाने आदि मे जो-कुछ भी द्वन्द्व मचता रहता है, उसकी सामायिक करते समय श्रावक प्रशसा नही कर सकता। यदि वह ऐसा करता है, तो वह सामायिक नही है; परन्तु जो वहाँ की ममता का सूक्ष्म तार आत्मा से बँधा रहता है, वह नही कट पाता है। अत सामायिक मे अनुमोदन का भाग खुला रहने का यही तात्पर्य है, यही रहस्य है और कुछ नही। भगवती-सूत्र मे सामायिक-गत ममता का विषय बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट कर दिया गया है।

आत्मदोषों की निन्दा

*

सामायिक के पाठ मे 'निन्दामि' शब्द आता है, उसका अर्थ है—मैं निन्दा करता हूँ। प्रश्न है, किसकी निन्दा ? किस प्रकार की निन्दा ? निन्दा चाहे अपनी की जाए या दूसरो की, दोनो ही तरह से पाप है। अपनी निन्दा करने से अपने मे उत्साह का अभाव होता है, हीनता एव दीनता का भाव जागृत होता है। आत्मा चिन्ता तथा शोक से व्याकुल होने लगता है, अतरग मे अपने प्रति द्वेष की भावना भी उत्पन्न होने लगती है। अत अपनी निन्दा भी कोई धर्म नही, पाप ही है। अब रही दूसरो की निन्दा, यह तो प्रत्यक्षत ही बडा भयकर पाप है। दूसरो से घृणा करना, द्वेष रखना, उन्हे जनता की आखो मे गिराना, उनके हृदय को विक्षुब्ध करना, पाप नही तो क्या धर्म है ? दूसरो की निन्दा करना, एक प्रकार से उनका मल खाना है। भारतीय साधको ने दूसरो की निन्दा करने वाले को विष्ठा खाने वाले सूअर की उपमा दी है। हा ! कितना जघन्य कार्य है !

उत्तर मे कहना है कि यहाँ निन्दा का अभिप्राय न अपनी निन्दा है, और न दूसरो की निन्दा। यहाँ तो पाप की, पापाचरण की, दूषित जीवन की निन्दा करना अभीष्ट है। अपने मे जो दुर्गुण हो, दोष हो, उनकी खूब डटकर निन्दा कीजिए। यदि साधक अपने

दोषो को दोष के रूप मे न देख सका, भूल को भूल न समझ सका और उसके लिए अपने हृदय मे सहज भाव से पश्चात्ताप का अनुभव न कर सका, तो वह साधक ही कैसा ? दोषो की निन्दा, एक प्रकार का पश्चात्ताप है। और पश्चात्ताप, आध्यात्मिक-क्षेत्र मे पाप-मल को भस्म करने के लिए एव आत्मा को शुद्ध निर्मल बनाने के लिए एक अत्यन्त तीव्र अग्नि माना गया है। जिस प्रकार अग्नि मे तपकर सोना निखर जाता है, उसी प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि मे तपकर साधक की आत्मा भी निखर उठती है, निर्मल हो जाती है। आत्मा मे मल कषाय-भाव का ही है, और कुछ नही। अत कषाय-भाव की निन्दा ही यहाँ अपेक्षित है।

सामायिक करते समय साधक विभाव-परिणति से स्वभाव-परिणति मे आता है, बाहर से सिमट कर अन्तर मे प्रवेश करता है। पाठक जानना चाहेगे कि स्वभाव परिणति क्या है और विभाव परिणति क्या है ? जब आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य और तप आदि की भावना मे ढलता है, तब वह स्वभाव परिणति मे ढलता है, अपने-आप मे प्रवेश करता है। ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा का अपना ही स्वभाव है, एक प्रकार से आत्मा ज्ञानादि-रूप ही है, अत ज्ञानादि की उपासना अपनी ही उपासना है, अपने स्वभाव की ही उपासना है। इसे स्वभाव परिणति कहते हैं। जब आत्मा पूर्ण-रूप से स्वभाव मे आ जाएगा, अपने-आप में ही समा जाएगा, तभी वह केवल ज्ञान, केवलदर्शन का महाप्रकाश पाएगा, मोक्ष मे अजर-अमर बन जाएगा। क्योकि, सदाकाल के लिए अपने पूर्ण स्वभाव का पा लेना ही तो दार्शनिक भाषा मे मोक्ष है।

अब देखिए, विभाव परिणति क्या है ? पानी स्वभावत· शीतल होता है, यह उसकी स्वभाव परिणति है, परन्तु जब वह उष्ण होता है, अग्नि के सम्पर्क से अपने में उष्णता लेता है, तब वह स्वभाव से शीतल होकर भी उष्ण कहा जाता है। उष्णता पानी का स्वभाव नही, विभाव है। स्वभाव अपने-आप होता है—विभाव दूसरे के सम्पर्क से। इसी प्रकार आत्मा स्वभावतः क्षमाशील है, विनम्र है, सरल है, सतोषी है, परन्तु कर्मो के सम्पर्क से क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी बना हुआ है। अस्तु जब आत्मा कषाय के साथ एकरूप होता है, तब वह स्व-भाव मे न रह कर विभाव

मे रहता है, पर-भाव में रहता है। विभाव परिणति का नाम दार्शनिक भाषा मे संसार है। अब पाठक अच्छी तरह से समझ सकते हैं कि निन्दा किसकी करनी चाहिए? सामायिक मे निन्दा विभाव परिणति की है। जो अपना नही है, प्रत्युत अपना विरोधी है, फिर भी अपने पर अधिकार कर बैठा है, उस कषाय-भाव की जितनी भी निन्दा की जाए, उतनी ही थोडी है।

जब किसी वस्त्र पर या शरीर पर मल लग जाए, तो क्या उसे बुरा नही समझना चाहिए, उसे धोकर साफ नही करना चाहिए? कोई भी सभ्य मनुष्य मल की उपेक्षा नही कर सकता। इसी प्रकार सच्चा साधक भी दोष-रूप मल की उपेक्षा नही कर सकता। वह जब भी ज्यो ही कोई दोष देखता है, झटपट उसकी निन्दा करता है, उसे धोकर साफ करता है। आत्मा पर लगे दोषो के मल को धोने के लिए निन्दा एक अचूक साधन है। भगवान् महावीर ने कहा है—"आत्म-दोषो की निन्दा करने से पश्चात्ताप का भाव जाग्रत होता है, पश्चात्ताप के द्वारा विषय-वासना के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न होता है, ज्यो-ज्यो वैराग्य-भाव का विकास होता है, त्यो-त्यो साधक सदाचार की गुण श्रेणियो पर आरोहण करता है, और ज्यो ही गुण श्रेणियो पर आरोहण करता है, त्यो ही मोहनीय कर्म का नाश करने मे समर्थ हो जाता है। मोहनीय कर्म का नाश होते ही आत्मा शुद्ध, बुद्ध, परमात्म-दशा पर पहुँच जाता है।"

निन्दा शोक न बने

*

हाँ, आत्म-निन्दा करते समय एक बात पर अवश्य लक्ष्य रखना चाहिए। वह यह कि निन्दा केवल पश्चात्ताप तक ही सीमित रहे, दोषो एव विषय-वासना के प्रति विरक्त-भाव जाग्रत करने तक ही अपेक्षित रहे। ऐसा न हो कि निन्दा पश्चात्ताप की मगल सीमा को लांघकर शोक के क्षेत्र मे पहुँच जाए। जब निन्दा शोक का रूप पकड़ लेती है, तो वह साधक के लिए बडी भयकर चीज हो जाती है। पश्चात्ताप आत्मा को सबल बनाता है और शोक निर्बल! शोक में साहस का अभाव है, कर्तव्य-बुद्धि का शून्यत्व है। कर्तव्य-विमूढ साधक जीवन की समस्याओ को कदापि

नही सुलझा सकता। न वह भौतिक जगत मे क्रांति कर सकता है और न आध्यात्मिक जगत् मे ही। किसी भी वस्तु का विवेक-शून्य अतिरेक जीवन के लिए घातक ही होता है।

गर्हा : गुरु की साक्षी

✿

आत्म-दर्शन के जिज्ञासु साधक को निन्दा के साथ गर्हा का भी उपयोग करना चाहिए। इसीलिए सामायिक-सूत्र मे 'निन्दामि' के पश्चात् 'गरिहामि' का भी प्रयोग किया है। जैन-दर्शन की ओर से साधना-क्षेत्र मे आत्म-शोधन के लिए गर्हा की महाति-महान् अनुपम भेंट है। साधारण लोग निन्दा और गर्हा को एक ही समझते है। परन्तु, जैन-साहित्य मे दोनो का अन्तर पूर्ण रूप से स्पष्ट है। जब साधक एकान्त मे बैठकर दूसरो को सुनाए बिना अपने पापो की आलोचना करता है, पश्चात्ताप करता है, वह निन्दा है, और जब वह गुरुदेव की साक्षी से अथवा किसी दूसरे की साक्षी से प्रकट रूप मे अपने पापाचरणो को धिक्कारता है, मन, वचन, और शरीर तीनो को पश्चात्ताप की धधकती आग मे झोंक देता है, प्रतिष्ठा के झूठे अभिमान को त्याग कर पूर्ण सरल-भाव से जनता के समक्ष अपने हृदय की गाठो को खोल कर रख छोडता है, उसे गर्हा कहते हैं। प्रतिक्रमण-सूत्र के टीकाकार आचार्य नमि इसी भाव को लक्ष्य मे रख कर कहते हैं—

> निन्दामि जुगुप्सामीत्यर्थ। गर्हामीति च स एवार्थ, किन्तु आत्म-साक्षिकी निन्दा, गुरुसाक्षिकी गर्हेति, 'परसाक्षिकी गर्ह' ति वचनात्।
>
> —प्रतिक्रमणसूत्र पदविवृत्ति, सामायिक-सूत्र

गर्हा जीवन को पवित्र बनाने की एक बहुत ऊँची अनमोल साधना है। निन्दा की अपेक्षा गर्हा के लिए अधिक आत्म-बल अपेक्षित है। मनुष्य अपने-आपको स्वय धिक्कार सकता है, परन्तु दूसरो के सामने अपने को आचरण-हीन, दोषी और पापी बताना बडा ही कठिन कार्य है। ससार मे प्रतिष्ठा का भूत बहुत बडा है। हजारो आदमी प्रति वर्ष अपने गुप्त दुराचार के प्रकट होने के कारण होने वाली अप्रतिष्ठा से घबरा कर जहर खा लेते हैं,

पानी मे डूब मरते हैं, येन केन प्रकारेण आत्म-हत्या कर लेते है। अप्रतिष्ठा वडी भयकर चीज है। महान् तेजस्वी एव आत्म-शोधक इने-गिने साधक ही इस खदक को लाघ पाते है। मनुष्य अन्दर के पापो को झाड-बुहार कर मुख द्वार पर लाता है, वाहर फेकना चाहता है, परन्तु ज्योही अप्रतिष्ठा की ओर दृष्टि जाती है, त्यो ही चुपचाप उस कूड को फिर अन्दर की ओर ही डाल लेता है, वाहर नही फेक पाता। गर्हा दुर्वल साधक के वस की वात नही है। इसके लिए अन्तरग की विशाल शक्ति चाहिए। फिर भी, एक वात है, ज्यो ही वह शक्ति आती है, पापो का गदा मल धुलकर साफ हो जाता है। गर्हा करने के वाद पापो को सदा के लिए विदाई ले लेनी होती है। गर्हा का उद्देश्य भविष्य मे पापो का न करना है।

—'पावाणं कम्माण अकरणयाए'

भगवान् महावीर के सयम-मार्ग मे जीवन को छुपाए रखने जैसी किसी वात को स्थान ही नही है। यहाँ तो जो है, वह स्पष्ट है, सव के सामने है, भीतर और वाहर एक है, दो नही। यदि कही वस्त्र और शरीर पर गदगी लग जाए, तो क्या उसे छुपाकर रखना चाहिए ? सव के सामने धोने मे लज्जा आनी चाहिए ? नही, गन्दगी आखिर गन्दगी है, वह छपाकर रखने के लिए नही है। वह तो झटपट धोकर साफ करने के लिए है। यह तो जनता के लिए स्वच्छ और पवित्र रहने का एक जीवित-जाग्रत निर्देश है, इसमे लज्जा किस वात की ? गर्हा भी आत्मा पर लगे दोपो को साफ करने के लिए है। उसके लिए लज्जा और सकोच का क्या प्रतिवन्ध ? प्रत्युत हृदय मे स्वाभिमान की यह ज्वाला प्रदीप्त रहनी चाहिए कि "हम अपनी गन्दगी को धोकर साफ करते है, छुपाकर नही रखते।" जहाँ छुपाव है, वही जीवन का नाश है!

दूपित आत्मा का त्याग

✿

सामायिक प्रतिज्ञा-सूत्र का अन्तिम वाक्य 'अप्पाणं वोसिरामि' है। इसका अर्थ सक्षेप मे—आत्मा को, अपने-आपको त्यागना है,

छोडना है। प्रश्न है, आत्मा को कैसे त्यागना ? क्या कभी आत्मा भी त्यागी जा सकती है ? यदि आत्मा को ही त्याग दिया, तो फिर रहा क्या ? उत्तर मे निवेदन है कि यहाँ आत्मा से अभिप्राय अपने पहले के जीवन से है। पाप-कर्म से दूषित हुए पूर्व जीवन को त्यागना ही, आत्मा को त्यागना है। आचार्य नमि कहते हैं—

"आत्मानम्=अतीत सावद्ययोग-कारिणम्=अश्लाघ्य व्युत्सृजामि"

—प्रतिक्रमणसूत्र पदविवृत्ति, सामायिक-सूत्र

देखिए, जैन तत्त्व-मीमासा की कितनी ऊँची उडान है ! कितनी भव्य कल्पना है ! पुराने सडे-गले दूषित जीवन को त्याग कर स्वच्छ एव पवित्र नये जीवन को अपनाने का, कितना महान् आदर्श है ! भगवान् महावीर का कहना है कि "सामायिक केवल वेश बदलने की साधना नही है। यह तो जीवन बदलने की साधना है।" अत. साधक को चाहिए कि जब वह सामायिक के आसन पर पहुँचे, तो पहले अपने मन को ससार की वासनाओ से खाली कर दे, पुराने दूषित सस्कारो को त्याग दे, पहले के पापा-चरण-रूप कुत्सित जीवन के भार को फेक कर बिल्कुल नया आध्यात्मिक जीवन ग्रहण कर ले। सामायिक करने से पहले—आध्यात्मिक पुनर्जन्म पाने से पहले, भोग-बुद्धि-मूलक पूर्व जीवन की मृत्यु आवश्यक है। सामायिक की साधना के समय मे भी यदि पुराने विकारो को ढोते रहे, तो क्या लाभ ? दूषित और दुर्गन्धित मलिन-पात्र मे डाला हुआ शुद्ध दूध भी अशुद्ध हो जाता है। यह है जैन-दर्शन का गभीर अन्तर्हृदय, जो 'अप्पाणं वोसिरामि' शब्द के द्वारा ध्वनित हो रहा है।

सामायिक-सूत्र का प्राण प्रस्तुत प्रतिज्ञा-सूत्र ही है। अतएव इस पर काफी विस्तार के साथ लिखा है, और इतना लिखना आवश्यक भी था। अब उपसहार मे केवल इतना ही निवेदन है कि यह सामायिक एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यायाम है। व्यायाम भले ही थोडी देर के लिए हो, दो घडी के लिए ही हो, परन्तु उसका प्रभाव और लाभ स्थायी होता है। जिस प्रकार मनुष्य प्रात काल उठते ही कुछ देर व्यायाम करता है, और उसके

फलस्वरूप दिन-भर शरीर की स्फूर्ति एव शक्ति वनी रहती है, उसी प्रकार सामायिक-रूप आध्यात्मिक व्यायाम भी साधक की दिन-भर की प्रवृत्तियो मे मन की स्फूर्ति एव शुद्धि को वनाए रखता है। सामायिक का उद्देश्य केवल दो घडी के लिए नही है, प्रत्युत जीवन के लिए है। सामायिक मे दो घडी वैठकर आप अपना आदर्श स्थिर करते है, वाह्य-भाव से हटकर स्वभाव मे रमण करने की कला अपनाते हैं। सामायिक का अर्थ ही है—आत्मा के साथ अर्थात् अपने-आपके साथ एकरूप हो जाना, समभाव ग्रहण कर लेना, राग-द्वेष को छोड देना। आचार्य पूज्यपाद तत्त्वार्थ-सूत्र की अपनी टीका मे कहते हैं—

'सम्' एकीभावे वर्तते। तद्-यथा सङ्गत घृत सङ्गत तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन, अयन=गमन समय, समय एव सामायिकम्। समय प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।

—सर्वार्थ सिद्धि ७/२१

हाँ, तो अपनी आत्मा के साथ एकरूपता केवल दो घडी के लिए ही नही, जीवन-भर के लिए प्राप्त करना है। राग-द्वेष का त्याग दो घडी के लिए कर देने-भर से काम नही चलेगा, इन्हे तो जीवन के हर क्षेत्र से सदा के लिए खदेडना होगा। सामायिक जीवन के समस्त सद्गुणो की आधार-भूमि है। आधार यो ही मामूली-सा सक्षिप्त नही, विस्तृत होना चाहिए। साधना के दृष्टिकोण को सीमित रखना, महापाप है। साधना तो जीवन के लिए है, फलत जीवन-भर के लिए है, प्रतिक्षण, प्रतिपल के लिए है। देखना, सावधान रहना! साधना की वीणा का अमर स्वर कभी वन्द न होने पाए, मन्द न होने पाए! सच्चा सुख विस्तार मे है, प्रगति मे है, सातत्य मे है, अन्यत्र नही—

'यो वै भूमा तत्सुखम्'

❁ ❁

प्रणिपात-सूत्र

नमोत्थुरा अरिहंताण, भगवंताण ॥ १ ॥
आइगराण, तित्थयराण, सयसंबुद्धाण ॥ २ ॥
पुरिसुत्तमाण, पुरिस-सीहाण, पुरिस-वर-पुंड-
रीयाण, पुरिसवर-गंधहत्थीरण ॥ ३ ॥
लोगुत्तमाण, लोग—नाहाण,
लोग-हियाण, लोग-पईवाण,
लोग-पज्जोयगराण ॥ ४ ॥
अभयदयाण चक्खुदयाण,
मग्गदयाण, सरणदयाण,
जीव-दयाण, वोहिदयाण ॥ ५ ॥
धम्मदयाण, धम्म-देसयाण, धम्मनायगाण,
धम्म-सारहीण, धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टीण ॥ ६ ॥
(दीवो ताणं सरण गई पइट्ठा)
अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धराण,
विअट्ट-छउमाण ॥ ७ ॥
जिणाणं, जावयाणं, तिन्नाण, तारयाण,
बुद्धाण, वोहयाण, मुत्ताण, मोयगाण ॥ ८ ॥
सव्वन्नूण, सव्वदरिसीण, सिवमयलमरुय-
मणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धि-
गइ—नामधेय ठाणं संपत्ताण,
नमो जिणाण जियभयाणं ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नमोत्थुणं=नमस्कार हो
अरिहन्ताणं=अरिहन्त
भगवंताणं=भगवान् को
[भगवान् कैसे हैं ?]
आइगराणं=धर्म की आदि करने वाले
तित्थयराणं=धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले
सयं=स्वयं ही
संबुद्धाणं=सम्यग्बोध को पाने वाले
पुरिसुत्तमाणं=पुरुषों में श्रेष्ठ
पुरिससीहाणं=पुरुषों में सिंह
पुरिसवरगंधहत्थीणं=पुरुषों में श्रेष्ठ गंधहस्ती
लोगुत्तमाणं=लोक में उत्तम
लोगनाहाणं=लोक के नाथ
लोगहियाणं=लोक के हितकारी
लोगपईवाणं=लोक में दीपक
लोगपज्जोयगराणं=लोक में उद्द्योत करने वाले
अभयदयाणं=अभय देने वाले
चक्खुदयाणं=नेत्र देने वाले
मग्गदयाणं=धर्म मार्ग के दाता
सरणदयाणं=शरण के दाता
जीवदयाणं=जीवन के दाता
बोहिदयाणं=बोधि=सम्यक्त्व के दाता
धम्मदयाणं=धर्म के दाता
धम्मदेसयाणं=धर्म के उपदेशक
धम्मनायगाणं=धर्म के नायक
धम्मसारहीणं=धर्म के सारथि
धम्मवर=धर्म के श्रेष्ठ
चाउरंत=चार गति का अन्त करने वाले
चक्कवट्टीणं=चक्रवर्ती
अप्पडिहय=अप्रतिहत तथा
वर-नाणदसण=श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन के
धराणं=धर्ता
विअट्टछउमाणं=छद्म से रहित
जिणाणं=राग द्वेष के विजेता
जावयाणं=औरों के जिताने वाले
तिन्नाणं=स्वयं तरे हुए
तारयाणं=दूसरों को तारने वाले
बुद्धाणं=स्वयं बोध को प्राप्त
बोहयाणं=दूसरों को बोध देने वाले
मुत्ताणं=स्वयं मुक्त
मोयगाणं=दूसरों को मुक्त कराने वाले
सव्वन्नूणं=सर्वज्ञ
सव्वदरिसीणं=सर्वदर्शी, तथा
सिव=उपद्रवरहित
अयल=अचल, स्थिर
अरुय=रोग रहित
अणंत=अन्त रहित
अक्खय=अक्षत
अव्वाबाह=बाधा रहित
अपुणरावित्ति=पुनरागमन से रहित (ऐसे)
सिद्धिगइ=सिद्धि गति
नामधेय=नामक
ठाणं=स्थान को
संपत्ताणं=प्राप्त करने वाले
नमो=नमस्कार हो
जियभयाणं=भय के जीतने वाले
जिणाणं=जिन भगवान् को

भावार्थ

श्री अरिहन्त भगवान् को नमस्कार हो। [अरिहन्त भगवान् कैसे है ?] धर्म की आदि करने वाले हैं, धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले हैं, अपने-आप प्रवुद्ध हुए है।

पुरुषो मे श्रेष्ठ हैं, पुरुषो मे सिंह हैं, पुरुषो मे पुण्डरीक कमल हैं, पुरुषो मे श्रेष्ठ गन्धहस्ती हैं। लोक मे उत्तम हैं, लोक के नाथ हैं, लोक के हितकर्ता हैं, लोक मे दीपक हैं, लोक मे उद्द्योत करने वाले है।

अभय देने वाले है, ज्ञानरूप नेत्र के देने वाले है, धर्म मार्ग के देने वाले है, शरण के देने वाले है, सयमजीवन के देने वाले है, वोधि—सम्यक्त्व के देने वाले है, धर्म के दाता है, धर्म के उपदेशक है, धर्म के नेता है, धर्म के सारथी—सचालक है।

चार गति के अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती है, अप्रतिहत एव श्रेष्ठ ज्ञानदर्शन के धारण करने वाले है, ज्ञानावरण आदि घाति कर्म से अथवा प्रमाद से रहित हैं।

स्वय रागद्वेप के जीतने वाले है, दूसरो को जिताने वाले हैं, स्वय संसार-सागर से तर गए है, दूसरो को तारने वाले हैं, स्वय वोध पा चुके है, दूसरो को वोध देने वाले हैं, स्वय कर्म से मुक्त है, दूसरो को मुक्त कराने वाले है।

सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी है। तथा शिव-कल्याणरूप अचल-स्थिर, अरुज--रोगरहित, अनन्त—अन्तरहित, अक्षय—क्षयरहित, अव्यावाघ—वाघा-पीडा से रहित, अपुनरावृत्ति—पुनरागमन से रहित अर्थात् जन्म-मरण से रहित सिद्धि-गति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके है, भय को जीतने वाले है, रागद्वेप को जीतने वाले है—उन जिन भगवानो को मेरा नमस्कार हो।

विवेचन

जैन-धर्म की साधना अध्यात्म-साधना है। जीवन के किसी भी क्षेत्र मे चलिए, किसी भी क्षेत्र मे काम करिए, जैन-धर्म आध्यात्मिक जीवन की महत्ता को भुला नहीं सकता। प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे जीवन मे पवित्रता का, उच्चता का और अखिल

विश्व की कल्याण भावना का मगल स्वर झकृत रहना चाहिए। जहाँ यह स्वर मन्द पडा कि साधक पतनोन्मुख हो जाएगा, जीवन के महान् आदर्श भुला बैठेगा, ससार की अँधेरी गलियो मे भटकने लगेगा।

भक्ति, ज्ञान एवं कर्मयोग का समन्वय

मानव-हृदय मे अध्यात्म साधना को बद्धमूल करने के लिए उसे सुदृढ एव सबल बनाने के लिए भारतवर्ष की दार्शनिक चिन्तन-धारा ने तीन मार्ग बतलाए है—भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग। वैदिक-धर्म की शाखाओ मे इनके सम्बन्ध मे काफी मतभेद उपलब्ध है। वैदिक विचारधारा के कितने ही सम्प्रदाय ऐसे है, जो भक्ति को ही सर्वोत्तम मानते है। वे कहते है—"मनुष्य एक बहुत पामर प्राणी है। वह ज्ञान और कर्म की क्या आराधना कर सकता है? उसे तो अपने-आप को प्रभु के चरणो मे सर्वतोभावेन अर्पण कर देना चाहिए। दयालु प्रभु ही, उसकी ससार-सागर मे फसी हुई नैया को पार कर सकते है, और कोई नही। ज्ञान और कर्म भी प्रभु की कृपा से ही मिल सकते है। स्वय मनुष्य चाहे कि मैं कुछ करूँ, सर्वथा असम्भव है।'

भक्ति-योग की इस विचार-धारा मे कर्तव्य के प्रति उपेक्षा का भाव छुपा है। मनुष्य की महत्ता के और आचरण की पवित्रता के दर्शन, इन विचारो मे नही होते। अपने पुत्र नारायण का नाम लेने मात्र से अजामिल को स्वर्ग मिल जाता है, अपने तोते को पढाने के समय लिए जाने वाले राम नाम से वेश्या का उद्धार हो जाता है, और न मालूम कौन क्या-क्या हो जाता है! वैदिक सप्रदाय के इस भक्ति-साहित्य ने आचरण का मूल्य बिल्कुल कम कर दिया है। नाम लो, केवल नाम और कुछ नही! केवल नाम लेने मात्र से जहाँ बेडा पार होता हो, वहाँ व्यर्थ ही कोई क्यो ज्ञान और आचरण के कठोर क्षेत्र मे उतरेगा?

वैदिक-धर्म के कुछ सप्रदाय केवल ज्ञान-योग की ही पूजा करने वाले है। वेदान्त इस विचार-धारा का प्रमुख पक्षपाती है। वह कहता है—'ससार और ससार के दुःख मात्र भ्रान्ति है, वस्तुत नही। लोग

व्यर्थ ही तप-जप की साधनाओ मे लगते है और कष्ट झेलते है। भ्रान्ति का नाश तप-जप आदि से नही होता है, वह होता है ज्ञान से। ज्ञान से बढ कर जीवन की पवित्रता का कोई दूसरा साधन ही नही है—

'न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते।

—गीता ४।३८

अपने-आप को शुद्ध आत्मा समझो, परब्रह्म समझो, बस, बेडा पार है। और क्या चाहिए ! जीवन मे करना क्या है, केवल जानना है। ज्यो ही सत्य के दर्शन हुए, आत्मा बन्धनो से स्वतन्त्र हुआ।"

वेदान्त की इस धारणा के पीछे भी कर्म की और भक्ति की उपेक्षा रही हुई है। जीवन-निर्माण के लिए एकान्त ज्ञानयोग के पास कोई रचनात्मक कार्यक्रम नही है। वेदान्त बौद्धिक व्यायाम पर आवश्यकता से अधिक भार देता है। मिसरी के लिए जहाँ उसका ज्ञान आवश्यक है, वहाँ उसका मुँह मे डाला जाना भी तो आवश्यक है ! 'ज्ञान भार क्रिया विना' के सिद्धान्त को वेदान्त भूल जाता है।

कुछ सप्रदाय ऐसे भी है, जो केवल कर्मकाण्ड के ही पुजारी है। भक्ति और ज्ञान का मूल्य, इनके यहाँ कुछ भी नही है। मात्र कर्म करना, यज्ञ करना, तप करना, पञ्चाग्नि आदि तप-साधना के द्वारा शरीर को नष्ट-भ्रष्ट कर देना ही, इनका विशिष्ट मार्ग है। इस मार्ग मे न हृदय की पूछ है और न मस्तिष्क की ! शुष्क शारीरिक जड क्रियाकाण्ड ही, इनके दृष्टिकोण मे सर्वेसर्वा है। प्राचीनकाल के मीमासक और आजकल के हठयोगी साधु, इस विचार-धारा के प्रमुख समर्थक है। ये लोग भूल जाते है कि जब तक मनुष्य के हृदय मे भक्ति और श्रद्धा की भावना न हो, ज्ञान का उज्ज्वल प्रकाश न हो, उचित और अनुचित का विवेक न हो, तब तक केवल कर्म-काण्ड क्या अच्छा परिणाम ला सकता है ? विना आँखो के दौडने वाला अन्धा अपने लक्ष्य पर कैसे पहुँच सकेगा ? जरा समझने की बात है ! जिस शरीर से दिल और दिमाग निकाल दिए जाएँ, वहाँ क्या शेप रहेगा ? विना ज्ञान के कर्म अन्धा है, और विना भक्ति के कर्म निर्जीव एव निष्प्राण !

अतएव जैन-धर्म विभिन्न मत-भेदो पर न चलकर समन्वय के

मार्ग पर चलता है। वह किसी भी क्षेत्र मे एकान्त वाद को स्थान नही देता। जैन-धर्म मे जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अनेकान्तवाद के उज्ज्वल आलोक से आलोकित रहता है। यही कारण है कि वह प्रस्तुत योगत्रय मे भी किसी एक योग का पक्ष न लेकर तीनो की समष्टि का पक्ष करता है। वह कहता है —"आध्यात्मिक जीवन की साधना न अकेले भक्तियोग पर निर्भर है, न अकेले ज्ञानयोग पर, और न कर्मयोग पर ही। साधना की गाडी तीनो के समन्वय से ही चलती है। भक्तियोग से हृदय मे श्रद्धा का वल पैदा करो! ज्ञानयोग से सत्यासत्य के विवेक का प्रकाश लो! और कर्मयोग से शुष्क एव मिथ्या कर्मकाण्ड की दलदल मे न फँसकर अहिंसा, सत्य आदि के आचरण का सत्पथ ग्रहण करो! तीनो का यथायोग्य उचित मात्रा मे समन्वय ही साधना को सवल तथा सुदृढ वना सकता है।"

भक्ति का सम्वन्ध व्यवहारत हृदय से है, अत वह श्रद्धारूप है, विश्वासरूप है, और भावनारूप है। जव साधक के हृदय से श्रद्धा का उन्मुक्त वेगशाली प्रवाह वहता है, तो साधना का कण-कण प्रभु के प्रेमरस से परिप्लुत हो जाता है। भक्त-साधक ज्यो-ज्यो प्रभु का स्मरण करता है, प्रभु का ध्यान करता है, प्रभु की स्तुति करता है, त्यो-त्यो श्रद्धा का वल अधिकाधिक पुष्ट होता है, आचरण का उत्साह जागृत हो जाता है। साधना के क्षेत्र मे भक्त, भगवान् और भक्ति की त्रिपुटी का वहुत वडा महत्त्व है।

ज्ञान योग, विवेक-वुद्धि को प्रकाशित करने वाला प्रकाश है। साधक कितना ही वडा भक्त हो, भावुक हो, यदि वह ज्ञान नही रखता है, उचित-अनुचित का भान नही रखता है, तो कुछ भी नही है। आज जो भक्ति के नाम पर हजारो मिथ्या विश्वास फैले हुए है, वे सव ज्ञानयोग के अभाव मे ही वद्धमूल हुए है। भक्त के क्या कर्तव्य है भक्ति का वास्तविक क्या स्वरूप है, आराध्य देव भगवान् कैसा होना चाहिए, इन सव प्रश्नो का उचित एव उपयुक्त उत्तर ज्ञानयोग के द्वारा ही मिल सकता है। साधक के लिए वन्ध के कारणो का तथा मोक्ष और मोक्ष के कारणो का ज्ञान भी अतीव आवश्यक है। और यह ज्ञान भी ज्ञान-योग की साधना के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

कर्मयोग का अर्थ सदाचार है। सदाचार के अभाव मे मनुष्य का

सास्कृतिक स्तर नीचा हो 'जाता है। वह आहार, निद्रा, भय और मैथुन-जैसी पाशविक भोग-बुद्धि मे ही फँसा रहता है। आशा और तृष्णा के चाकचिक्य से चुँधिया जाने वाला साधक, जीवन मे न अपना हित कर सकता है और न दूसरो का। भोग-बुद्धि और कर्त्तव्य-बुद्धि का आपस मे भयकर विरोध है। अत दुराचार का परिहार और सदाचार का स्वीकार ही आध्यात्मिक जीवन का मूल-मत्र है। और इस मत्र की शिक्षा के लिए कर्म-योग की साधना अपेक्षित है।

श्रद्धा, विवेक एवं सदाचार

*

जैन-दर्शन की अपनी मूल परिभाषा मे उक्त तीनो को सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र के नाम से कहा गया है। आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्ष-मार्ग ।'

—तत्त्वार्थ सूत्र १।१

अर्थात् सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही मोक्ष-मार्ग है। 'मोक्ष-मार्ग' यह जो एक वचनान्त प्रयोग है, वह यही ध्वनित करता है कि उक्त तीनो मिल कर ही मोक्ष का मार्ग है, कोई-सा एक या दो नही। अन्यथा 'मार्ग' न कह कर 'मार्गा' कहा जाता, वहुवचनान्त शब्द का प्रयोग किया जाता।

यह ठीक है कि अपने-अपने स्थान पर तीनो ही प्रधान है, कोई एक मुख्य और गौरा नही। परन्तु, मानस-शास्त्र की दृष्टि से एव आगमो के अनुशीलन से यह तो कहना ही होगा कि आध्यात्मिक साधना की यात्रा मे भक्ति का स्थान कुछ पहले है। यही से श्रद्धा की विमल गगा आगे के दोनो योग क्षेत्रो को प्लावित, पल्लवित, पुष्पित एव फलित करती है। भक्ति-शून्य नीरस हृदय मे ज्ञान और कर्म के कल्पवृक्ष कभी नही पनप सकते। यही कारण है कि सामायिक-सूत्र मे सर्वप्रथम नवकार मन्त्र का उल्लेख आया है, उसके वाद सम्यक्त्व-सूत्र, गुरु-गुण स्मरण-सूत्र और गुरु-वन्दन-सूत्र का पाठ है। भक्ति की वेगवती धारा यही तक समाप्त नही हुई। आगे चलकर एक वार ध्यान मे तो दूसरी वार प्रकट रूप से चतुर्विशति-स्तव-सूत्र यानी लोगस्स के पढने का मगल विधान है। 'लोगस्स' भक्तियोग

का एक वहुत मुन्दर एव मनोरम रेखाचित्र है। आराध्य देव के श्री चरणा मे अपने भावुक हृदय की समग्र श्रद्धा अर्पण कर देना, एव उनके वताए मार्ग पर चलने का दृढ सकल्प रखना ही तो भक्ति है। और यह 'लोगम्स' के पाठ मे हर कोई श्रद्धालु भक्त सहज ही पा सकता है। 'लोगस्स' के पाठ से पवित्र हुई हृदय-भूमि मे ही सामायिक का वीजारोपण किया जाता है। पूर्ण सयम का महान् कल्पवृक्ष इसी सामायिक के सूक्ष्म वीज मे छुपा हुआ है। यदि यह वीज सुरक्षित रहे, क्रमशः अकुरित, पल्लवित एव पुष्पित होता रहे, तो एक दिन अवश्य ही मोक्ष का अमृत फल प्रदान करेगा। हाँ, तो सामायिक के इस अमृत वीज को सीचने के लिए, उसे वद्ध मूल करने के लिए, अन्त मे पुन भक्तियोग का अवलम्वन लिया जाता है, 'नमोत्थुण' का पाठ पढा जाता है।

'नमोत्थुण'' मे तीर्थ कर भगवान् की स्तुति की गई है। तीर्थ कर भगवान्, राग और द्वेप पर पूर्ण विजय प्राप्त कर समभाव-स्वरूप सामायिक के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए महापुरुप हैं। अत उनकी स्तुति, सामायिक की सफलता के लिए साधक को अधिक-से-अधिक आत्म-शक्ति प्रदान करती है, अध्यात्म-भावना का वल वढाती है।

प्रभावशाली पाठ

*

'नमोत्थुण' एक महान् प्रभावशाली पाठ है। अत दूसरे प्रचलित साधारण स्तुति-पाठो की अपेक्षा 'नमोत्थुण' की अपनी एक अलग ही विशेपता है। वह यह है कि भक्ति मे हृदय प्रधान रहता है, और मस्तिप्क गौण। फलत कभी-कभी मस्तिष्क की अर्थात् चिन्तन की मर्यादा से अधिक गौणता हो जाने के कारण अन्तिम परिणाम यह आता है कि भक्ति वास्तविक भक्ति न रह कर अन्ध-भक्ति हो जाती है, सत्याभिमुखी न रह कर मिथ्याभिमुखी हो जाती है। संसार के धार्मिक इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जान सकता है कि जव मानव-समाज अन्ध-भक्ति की दल-दल मे फस कर विवेक-शून्य हो जाता है, तव वह आराध्य देव के गुणावगुणो के परिज्ञान की ओर मे धीरे-धीरे लापरवाह होने लगता है, फलतः

देव-भक्ति के पवित्र क्षेत्र मे देवमूढता को हृदय-सिंहासन पर विठा लेता है। आज ससार मे जो अनेक प्रकार के कामी, क्रोधी, अहकारी, रागी, द्वेषी, विलासी देवताओ का जाल विछा हुआ है, काली और भैरव आदि देवताओ के समक्ष जो दीन, मूक पशुओ का हत्याकाड रचा जा रहा है, वह सव इसी अन्ध-भक्ति और देव-मूढता का कुफल है। भक्ति के आवेश मे होने वाले इसी वौद्धिक पतन को लक्ष्य मे रख कर प्रस्तुत शक्रस्तव-सूत्र मे—'नमोत्थुण' मे तीर्थ कर भगवान् के विश्व-हितकर निर्मल आदर्श गुणो का अत्यन्त सुन्दर परिचय दिया गया है। तीर्थ कर भगवान् की स्तुति भी हो, और साथ-साथ उनके महामहिम सद्गुणो का वर्णन भी हो, यही 'नमोत्थुण-सूत्र' की विशेषता है। 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' की लोकोक्ति यहाँ पूर्णतया चरितार्थ हो जाती है। सूत्रकार ने 'नमोत्थुण' मे भगवान् के जिन अनुपम गुणो का मगलगान किया है, उन मे प्रत्येक गुण इतना विशिष्ट है, इतना प्रभावक है कि जिनका वर्णन वाणी द्वारा नही हो सकता। भक्त के सच्चे उन्फुल्ल हृदय से आप प्रत्येक गुण पर विचार कीजिए, चिन्तन कीजिए, मनन कीजिए, आप को एक-एक अक्षर मे, एक-एक मात्रा मे अलौकिक चमत्कार भरा नजर आएगा। 'गुणा पूजा-स्थान गुणिषु, न च लिंग न च वय' [गुण ही पूजा का कारण है, वेश या आयु नही]—का महान् दार्शनिक घोष, यदि आप अक्षर-अक्षर मे से—मात्रा-मात्रा मे से ध्वनित होता हुआ सुनना चाहते है, तो अधिक नही, केवल 'नमोत्थुण' का ही भावना-भरे हृदय से पाठ कीजिए। आपको इसी मे सब-कुछ मिल जाएगा।

अरिहन्त : स्वरूप और परिभाषा

✿

भगवान्—वीतराग देव अरिहन्त होते है। अरिहन्त हुए विना वीतरागता हो ही नही सकती। दोनो मे कार्य-कारण का अटूट सम्बन्ध है। अरिहन्तता कारण है, तो वीतरागता उसका कार्य है! जैन-धर्म विजय का धर्म है, पराजय का नही। शत्रुओ को जड मूल से नष्ट करने वाला धर्म है, उसकी गुलामी करने वाला नही। यही कारण है कि सम्पूर्ण जैन-साहित्य अरिहन्त और जिनके मंगलाचरण से प्रारम्भ होता है, और अन्त मे इनसे ही समाप्त

होता है। जैन-धर्म का मूल मन्त्र नवकार है, उसमे भी सर्व-प्रथम 'नमो-अरिहंताणं' है। जैन-धर्म की साधना का मूल सम्यग्दर्शन है, उसके प्रतिज्ञा-सूत्र मे भी सर्व-प्रथम 'अरिहन्तो मह देवो' है। अतएव प्रस्तुत 'नमोत्थुण' सूत्र का प्रारम्भ भी 'नमोत्थुण अरिहताण' से ही हुआ है। जैन-सस्कृति और जैन विचार-धारा का मूल अरिहन्त ही है। जैन-धर्म को समझने के लिए अरिहन्त शब्द का समझना, अत्यावश्यक है।

अरिहन्त का अर्थ है—'शत्रुओ को हनन करने वाला।' आप प्रश्न कर सकते है कि यह भी कोई धार्मिक आदर्श है ? अपने शत्रुओ को नष्ट करने वाले हजारो क्षत्रिय है, हजारो राजा है, क्या वे वन्दनीय है ? गीता मे श्रीकृष्ण के लिए भी 'अरिसूदन' शब्द आता है, उसका अर्थ भी शत्रुओ का नाश करने वाला ही है। श्रीकृष्ण ने कस, शिशुपाल, जरासन्ध आदि शत्रुओ का नाश किया भी है। अत क्या वे भी अरिहन्त हुए, जैन सस्कृति के आदर्श देव हुए ? उत्तर मे निवेदन है कि यहाँ अरिहन्त से अभिप्राय, बाह्य शत्रुओ को हनन करना नही है, प्रत्युत अन्तरग काम-क्रोधादि शत्रुओ को हनन करना है। बाहर के शत्रुओ को हनन करने वाले हजारो वीर क्षत्रिय मिल सकते है. भयङ्कर सिंहो और बाघो को मृत्यु के घाट उतारने वाले भी मिलते है, परन्तु अपने अन्दर मे ही रहे हुए कामादि शत्रुओ को हनन करने वाले सच्चे आध्यात्म-क्षेत्र के क्षत्रिय विरले ही मिलते है। एक साथ करोड शत्रुओ से जूझने वाले कोटि-भट वीर भी अपने मन की वासनाओ के आगे थर-थर काँपने लगते है, उन के इशारे पर नाचने लगते है। हजारो वीर धन के लिए प्राण देते है, तो हजारो सुन्दर स्त्रियो पर मरते है। रावण-जैसा विश्व-विजेता वीर भी अपने अन्दर की कामवासना से मुक्ति नही प्राप्त कर सका। अतएव जैन-धर्म कहता है कि अपने-आप से लडो ! अन्दर की वासनाओ से लडो ! बाहर के शत्रु इन्ही के कारण जन्म लेते है। विष-वृक्ष के पत्ते नोचने से काम नही चलेगा, जड उखाडिए, जड ! जब अन्तरग हृदय मे कोई सासारिक वासना ही न होगी, काम, क्रोध, लोभ आदि की छाया ही न रहेगी, तब बिना कारण के बाह्य शत्रु क्यो कर जन्म लेंगे ? जैन-धर्म का युद्ध, धर्म-युद्ध है। इसमे बाहर से नहीं

लडना है, अपने-आपसे लडना है। विश्व-शान्ति का मूल इसी भावना मे है। अरिहन्त वनने वाला, अरिहन्त वनने की साधना करने वाला, अरिहन्त की उपासना करने वाला ही, विश्व-शान्ति का सच्चा स्रष्टा हो सकता है, अन्य नही। हाँ तो, इसी अन्त शत्रुओ को हनन करने वाली भावना को लक्ष्य मे रख कर आचार्य भद्रवाहु ने कहा है कि 'ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म ही वस्तुत· ससार के सव जीवो के अरि हैं। अत जो महापुरुष उन कर्म शत्रुओ का नाश कर देता है, वह अरिहन्त कहलाता है।

अट्ठ विह पि य कम्मं,
अरिभूय होइ सव्व-जीवाए।
तं कम्ममरि हता,
अरिहता तेण वुच्चति॥

—आवश्यक नियुक्ति ९१४

प्राचीन मागधी, प्राकृत और सस्कृत आदि भाषाएँ, वडी गम्भीर एव अनेकार्थ-वोधक भाषाएँ है। यहाँ एक शव्द, अपने अन्दर मे रहे हुए अनेकानेक गभीर भावो की सूचना देता है। अतएव प्राचीन आचार्यो ने अरिहन्त आदि शव्दो के भी अनेक अर्थ सूचित किए हैं। अधिक विस्तार मे जाना यहाँ अभीष्ट नही है, तथापि सक्षेप मे परिचय के नाते कुछ लिख देना आवश्यक है।

'अरिहन्त' शव्द के स्थान मे कुछ प्राचीन आचार्यो ने अरहन्त और अरुहन्त पाठान्तर भी स्वीकार किए हैं। उनके विभिन्न सस्कृत रूपान्तर होते हैं—अर्हन्त, अरहोन्तर, अरथान्त, अरहन्त, और अरुहन्त आदि। 'अर्ह—पूजायाम्' धातु से वनने वाले अर्हन्त शव्द का अर्थ पूज्य है। वीतराग तीर्थकर-देव विश्व-कल्याणकारी धर्म के प्रवर्तक हैं, अत असुर, सुर, नर आदि सभी के पूजनीय हैं। वीतराग की उपासना तीन लोक मे की जाती है, अत वे त्रिलोक-पूज्य हैं, स्वर्ग के इन्द्र भी प्रभु के चरण कमलो की धूल मस्तक पर चढाते हैं, और अपने को धन्य-धन्य समझते हैं।

अरहोन्तर का अर्थ—सर्वज्ञ है। रह का अर्थ है—रहस्यपूर्ण—

गुप्त वस्तु। जिनसे विश्व का कोई रहस्य छुपा हुआ नही है, अनन्तानन्त जडचैतन्य पदार्थो को हस्तामलक की भाँति स्पष्ट रूप से जानते देखते हैं, वे अरहोन्तर कहलाते हैं।

अरथान्त का अर्थ है—परिग्रह और मृत्यु से रहित। 'रथ' शब्द उपलक्षण से परिग्रह मात्र का वाचक है और अन्त शब्द विनाश एव मृत्यु का। अत जो सब प्रकार के परिग्रह से और जन्म-मरण से अतीत हो, वह अरथान्त कहलाता है।

अरहन्त का अर्थ—आसक्ति-रहित है। रह का अर्थ आसक्ति है, अत' जो मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर देने के कारण राग-भाव से सर्वथा रहित हो गए हो, वे अरहन्त कहलाते है।

अरुहन्त का अर्थ है—कर्म-बीज को नष्ट कर देने वाले, फिर कभी जन्म न लेने वाले। 'रुह' धातु का सस्कृत भाषा मे अर्थ है—सन्तान अर्थात् परपरा। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज, फिर बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज—यह बीज और वृक्ष की परपरा अनादिकाल से चली आ रही है। यदि कोई बीज को जला कर नष्ट कर दे, तो फिर वृक्ष उत्पन्न नही होगा, बीज-वृक्ष की परम्परा समाप्त हो जायगी। इसी प्रकार कर्म से जन्म, और जन्म से कर्म की परम्परा भी अनादिकाल से चली आ रही है। यदि कोई साधक रत्नत्रय की साधना की अग्नि से कर्म-बीज को पूर्णतया जला डाले, तो वह सदा के लिए जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो जाएगा, अरुहन्त बन जाएगा। अरुहन्त शब्द की इसी व्याख्या को ध्यान मे रख कर आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थ-सूत्र के अपने स्वोपज्ञ भाष्य मे कहते हैं—

> दग्धेबीजे यथाऽत्यन्त, प्रादुर्भवति नाऽड्कुर ।
> कर्म-बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाड्कुर ॥
>
> —अन्तिम उपसहारकारिका प्रकरण

भगवान का स्वरूप

✿

भारतवर्ष के दार्शनिक एव धार्मिक साहित्य मे भगवान् शब्द बड़ा ही उच्च कोटि का भावपूर्ण शब्द माना जाता

है। इसके पीछे एक विशिष्ट भाव-राशि रही हुई है! 'भगवान्' शब्द 'भग' शब्द से बना है। अत भगवान् का शब्दार्थ है—'भगवाला आत्मा।'

आचार्य हरिभद्र ने भगवान् शब्द पर विवेचन करते हुए 'भग' शब्द के छ अर्थ बतलाये हैं—ऐश्वर्य=प्रताप, वीर्य=शक्ति अथवा उत्साह, यश=कीर्ति, श्री=शोभा, धर्म=सदाचार और प्रयत्न=कर्तव्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला अदम्य पुरुषार्थ। वह श्लोक इस प्रकार है—

> ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, वीर्यस्य[1] यशस श्रिय.।
> धर्मस्याऽथ प्रयत्नस्य, षण्णा भग इतीङ्गना॥
>
> —दशवैकालिक-सूत्र टीका, ४/१

हाँ तो अब भगवान् शब्द पर विचार कीजिए। जिस महान् आत्मा मे पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य, पूर्ण यश, पूर्ण श्री, पूर्ण धर्म और पूर्ण प्रयत्न हो, वह भगवान कहलाता है। तीर्थंकर महाप्रभु मे उक्त छहो गुण पूर्ण रूप से विद्यमान होते है, अत वे भगवान् कहे जाते है।

जैन-सस्कृति, मानव-सस्कृति है। यह मानव मे ही भगवत्स्वरूप की झाँकी देखती है। अत जो साधक, साधना करते हुए वीतराग-भाव के पूर्ण विकसित पद पर पहुँच जाता है, वही यहाँ भगवान् बन जाता है। जैन-धर्म यह नही मानता कि मोक्षलोक से भटक कर ईश्वर यहाँ अवतार लेता है, और वह ससार का भगवान् बनता है। जैन-धर्म का भगवान् भटका हुआ ईश्वर नही, परन्तु पूर्ण विकास पाया हुआ मानव-आत्मा ही ईश्वर है, भगवान् है। उसी के चरणो मे स्वर्ग के इन्द्र अपना मस्तक झुकाते है, उसे अपना आराध्य देव स्वीकार करते है। तीन लोक का सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसके चरणो मे उपस्थित रहता है। उसका प्रताप, वह प्रताप है, जिसके समक्ष कोटि-कोटि सूर्यों का प्रताप और प्रकाश भी फीका पड जाता है।

---

१ आचार्य जिनदास ने दशवैकालिक चूर्णि मे 'वीर्य' के स्थान मे 'रूप' शब्द का प्रयोग किया है।

आदिकर

अरिहन्त भगवान् 'आदिकर' भी कहलाते है। आदि कर का मूल अर्थ है, आदि करने वाला। पाठक प्रश्न कर सकते है कि किस की आदि करने वाला ? धर्म तो अनादि है, उसकी आदि कैसी ? उत्तर है कि धर्म अवश्य अनादि है। जब से यह संसार है, ससार का बन्धन है, तभी से धर्म है, और उसका फल मोक्ष भी है। जब ससार अनादि है, तो धर्म भी अनादि ही हुआ। परन्तु यहाँ जो धर्म की आदि करने वाला कहा है, उसका अभिप्राय यह है कि अरिहन्त भगवान् धर्म का निर्माण नही करते, प्रत्युत धर्म की व्यवस्था का, धर्म की मर्यादा का निर्माण करते है। अपने-अपने युग मे धर्म मे जो विकार आ जाते है, धर्म के नाम पर जो मिथ्या आचार फैल जाते है, उनकी शुद्धि करके नये सिरे से धर्म की मर्यादाओ का विधान करते है। अत अपने युग मे धर्म की आदि करने के कारण अरिहन्त भगवान् 'आदिकर' कहलाते है।

हमारे विद्वान् जैनाचार्यो की एक परम्परा यह भी है कि अरिहन्त भगवान् श्रुत-धर्म की आदि करने वाले है, अर्थात् श्रुत धर्म का निर्माण करने वाले हैं। जैन-साहित्य मे आचाराग आदि धर्म-सूत्रो को श्रुत धम कहा जाता है। भाव. यह है कि तीर्थकर भगवान् पुराने चले आये धर्मशास्त्रो के अनुसार अपनी साधना का मार्ग नही तैयार करते। उनका जीवन अनुभव का जीवन होता है। अपने आत्मानुभव के द्वारा ही वे अपना मार्ग तय करते हैं और फिर उसी को जनता के समक्ष रखते है। पुराने पोथी-पत्रो का भार लाद कर चलना, उन्हे अभीष्ट नही है। हर एक युग का द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के अनुसार अपना अलग शास्त्र होना चाहिए, अलग विधि-विधान होना चाहिए। तभी जनता का वास्तविक हित हो सकता है, अन्यथा नही। जो शास्त्र चालू युग की अपनी दुरूह गुत्थियो को नही सुलझा सकते, वर्तमान परिस्थितियो पर प्रकाश नही डाल सकते, वे शास्त्र मानवजाति के अपने वर्तमान युग के लिए अकिंचित्कर हैं, अन्यथा सिद्ध हैं। यही

कारण है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने शास्त्रों के अनुसार हूबहू न स्वयं चलते है, न जनता को चलाते हैं। स्वानुभव के बल पर नये शास्त्र और नये विधि-विधान निर्माण करके जनता का कल्याण करते हैं, अत वे आदिकर कहलाते हैं। उक्त विवेचन पर से उन सज्जनो का समाधान भी हो जाएगा, जो यह कहते है कि आज कल जो जैन-शास्त्र मिल रहे है, वे भगवान महावीर के उपदिष्ट ही मिल रहे हैं, भगवान् पार्श्वनाथ आदि के क्यो नहीं मिलते ?

तीर्थंकर

अरिहन्त भगवान् तीर्थंकर कहलाते है। तीर्थंकर का अर्थ है—तीर्थ का निर्माता। जिसके द्वारा ससाररूप मोहमाया का महानद सुविधा के साथ तिरा जाए, वह धर्म-तीर्थ कहलाता है। और, इस धर्म-तीर्थ की स्थापना करने के कारण भगवान् महावीर आदि तीर्थंकर कहे जाते हैं।

पाठक जानते है कि उफनती नदी के प्रवाह को तैरना कितना कठिन कार्य है ? साधारण मनुष्य तो देखकर ही भयभीत हो जाते हैं, अन्दर घुसने का साहस ही नहीं कर पाते। परन्तु जो अनुभवी तैराक हैं, वे साहस करके अन्दर घुसते है, और मालूम करते है कि किस ओर पानी का वेग कम है, कहाँ पानी छिछला है, कहाँ जलचर जीव नही है, कहाँ भवर और गर्त आदि नही हैं, कौन-सा मार्ग सर्व साधारण जनता को नदी पार करने के लिए ठीक रहेगा ? ये साहसी तैराक ही नदी के घाटो का निर्माण करते हैं। सस्कृत भाषा मे घाट के लिए 'तीर्थ' शब्द प्रयुक्त होता है। अत ये घाट के बनाने वाले तैराक, लोक मे तीर्थंकर कहलाते है। हमारे तीर्थंकर भगवान् भी इसी प्रकार घाट के निर्माता थे, अत तीर्थंकर कहलाते थे। आप जानते है, यह ससार-रूपी नदी कितनी भयकर है ? क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के हजारो विकार-रूप मगरमच्छ, भँवर और गर्त है इसमे, जिन्हे पार करना सहज नही है। साधारण साधक इन विकारो के भवर में फँस जाते हैं, और डूब जाते है। परन्तु, तीर्थंकर देवो ने सर्व-साधारण

साधको की सुविधा के लिए धर्म का घाट बना दिया है, सदाचार-रूपी विधि-विधानो की एक निश्चित योजना तैयार करदी है, जिस से हर कोई साधक सुविधा के साथ इस भीषण नदी को पार कर सकता है।

तीर्थ का अर्थ पुल भी है। विना पुल के नदी से पार होना वडे-से-वड़े वलवान् के लिए भी अशक्य है, परन्तु पुल वन जाने पर साधारण दुर्वल, रोगी यात्री भी वडे आनन्द से पार हो सकता है। और तो क्या, नन्ही-सी चींटी भी इधर से उधर पार हो सकती है। हमारे तीर्थंकर वस्तुत ससार की नदी को पार करने के लिए धर्म का तीर्थ वना गए हैं, पुल वना गए हैं। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध सघ की धर्म-साधना, ससार सागर से पार होने के लिए पुल है। अपने सामर्थ्य के अनुसार इनमे से किसी भी पुल पर चढिए, किसी भी धर्म-साधना को अपनाइए, आप पल्ली पार हो जाएँगे।

आप प्रश्न कर सकते हे कि इस प्रकार धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले तो भारतवर्ष मे सर्वप्रथम श्री ऋषभदेव भगवान् हुए थे, अत वे ही तीर्थंकर कहलाने चाहिएँ। दूसरे तीर्थंकरो को तीर्थंकर क्यो कहा जाता है? उत्तर मे निवेदन है कि प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग मे प्रचलित धर्म-परम्परा मे समयानुसार परिवर्तन करता है, अत नये तीर्थ का निर्माण करता है। पुराने घाट जव खराव हो जाते है, तव नया घाट ढूढा जाता है न? इसी प्रकार पुराने धार्मिक विधानो मे विकृति आ जाने के वाद नये तीर्थंकर, ससार के समक्ष नए धार्मिक विधानो की योजना उपस्थित करते हैं। धर्म का मूल प्राण नही होता है, केवल क्रियाकाण्ड रूप शरीर वदल देते हैं। जैन-समाज प्रारम्भ से, केवल धर्म की मूल भावनाओ पर विश्वास करता आया है, न कि पुराने शब्दो और पुरानी पद्धतियो पर। जैन तीर्थंकरो का शासन-भेद, उदाहरण के लिए भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर का शासन-भेद मेरी उपर्युक्त मान्यता के लिए ज्वलन्त प्रमाण है।

स्वयसम्बुद्ध

✿

तीर्थ कर भगवान् स्वयसम्बुद्ध कहलाते है। स्वयसम्बुद्ध का अर्थ है—अपने-आप प्रबुद्ध होने वाले, बोध पाने वाले, जगने वाले। हजारो लोग ऐसे है, जो जगाने पर भी नहीं जगते। उनकी अज्ञान निद्रा अत्यन्त गहरी होती है। कुछ लोग ऐसे होते है, जो स्वय तो नही जग सकते, परन्तु दूसरो के द्वारा जगाए जाने पर अवश्य जग उठते है। यह श्रेणी साधारण साधको की है। तीसरी श्रेणी उन पुरुषो की है, जो स्वयमेव समय पर जाग जाते है, मोहमाया की निद्रा त्याग देते है, और मोह-निद्रा मे प्रसुप्त विश्व को भी अपनी एक आवाज से जगा देते हैं। हमारे तीर्थ कर इसी श्रेणी के महापुरुष हैं। तीर्थ कर देव किसी के बताए हुए पूर्व निर्धारित पथ पर नही चलते। वे अपने और विश्व के उत्थान के लिए स्वय अपने-आप अपने पथ का निर्माण करते है। तीर्थ कर को पथ-प्रदर्शन करने के लिए न कोई गुरु होता है, और न कोई शास्त्र ! वह स्वय ही अपना पथ-प्रदर्शक है, स्वय ही उस पथ का यात्री है। वह अपना पथ स्वय खोज निकालता है। स्वावलम्बन का यह महान् आदर्श, तीर्थ करो के जीवन मे कूट-कूट कर भरा होता है। तीर्थंकर देव सडी-गली और पुरानी व्यर्थ परम्पराओ को छिन्न-भिन्न कर जन-हित के लिए नई परम्पराएँ, नई योजनाएँ स्थापित करते है। उनकी क्राति का पथ स्वय अपना होता है, वह कभी भी परमुखापेक्षी नही होते।

पुरुषोत्तम

✿

तीर्थंकर भगवान् पुरुषोत्तम होते हैं। पुरुषोत्तम, अर्थात् पुरुषो मे उत्तम—श्रेष्ठ। भगवान् के क्या बाह्य और क्या आभ्यन्तर, दोनो ही प्रकार के गुण अलौकिक होते हैं, असाधारण होते है। भगवान् का रूप त्रिभुवन-मोहक ! भगवान् का तेज सूर्य को भी हतप्रभ बना देने वाला ! भगवान् का मुखचन्द्र सुर-नर-नाग नयन मनहर ! भगवान् के दिव्य शरीर मे एक-से-एक उत्तम एक हजार आठ लक्षण होते है, जो हर किसी दर्शक को

उनकी महत्ता की सूचना देते हैं। वज्रर्षभनाराच सहनन और समचतुरस्र सस्थान का सौंदर्य तो अत्यन्त ही अनूठा होता है। भगवान् के परमौदारिक शरीर के समक्ष देवताओ का दीप्तिमान वैक्रिय शरीर भी बहुत तुच्छ एवं नगण्य मालूम देता है। यह तो है बाह्य ऐश्वर्य की बात ! अब जरा अन्तरग ऐश्वर्य की बात भी मालूम कर लीजिए। तीर्थ कर देव अनन्त चतुष्टय के धर्ता होते है। उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुणो की समता भला दूसरे साधारण देवपद-वाच्य कहाँ कर सकते है ? तीर्थ कर देव के अपने युग मे कोई भी ससारी पुरुष उनका समकक्ष नही होता।

पुरुषसिंह

*

तीर्थंकर भगवान् पुरुषो मे सिंह होते है। सिंह एक अज्ञानी पशु है, हिंसक जीव है। अत कहाँ वह निर्दय एव क्रूर पशु और कहाँ दया एव क्षमा के अपूर्व भडार भगवान् ? भगवान् को सिंह की उपमा देना, कुछ उचित नही मालूम देता ! बात यह है कि यह मात्र एकदेशी उपमा है। यहाँ सिंह से अभिप्राय, सिंह की वीरता और पराक्रम से है। जिस प्रकार वन मे पशुओ का राजा सिंह अपने बल और पराक्रम के कारण निर्भय रहता है, कोई भी पशु वीरता मे उसकी बराबरी नही कर सकता है, उसी प्रकार तीर्थ कर देव भी ससार मे निर्भय रहते हैं, कोई भी संसारी व्यक्ति उनके आत्म-बल और तपस्त्याग सम्बन्धी वीरता की बराबरी नही कर सकता।

सिंह की उपमा देने का एक अभिप्राय और भी हो सकता है। वह यह कि ससार मे दो प्रकृति के मनुष्य होते है—एक कुत्ते की प्रकृति के और दूसरे सिंह की प्रकृति के। कुत्ते को जब कोई लाठी मारता है, तो वह लाठी को मुँह मे पकडता है और समझता है कि लाठी मुझे मार रही है। वह लाठी मारने वाले को नही काटने दौडता, लाठी को काटने दौडता है। इसी प्रकार जब कोई शत्रु किसी को सताता है तो वह सताया जाने वाला व्यक्ति सोचता है कि यह मेरा शत्रु है, यह मुझे तग करता है, मैं उसे

क्यो न नष्ट कर दूँ ? वह उस शत्रु को शत्रु वनाने वाले अन्तर मन के विकारो को नही देखता, उन्हे नष्ट करने की वात नही सोचता। इसके विपरीत, सिंह की प्रकृति लाठी पकडने की नही होती, प्रत्युत लाठी वाले को पकडने की होती है। ससार के वीतराग महापुरुष भी सिंह के समान अपने शत्रु को शत्रु नही समझते, प्रत्युत उसके मन मे रहे हुए विकारो को ही शत्रु समझते है। वस्तुत, शत्रु को पैदा करने वाले मन के विकार ही तो हैं। अत उनका आक्रमण व्यक्ति पर न होकर व्यक्ति के विकारो पर होता है। अपने दया, क्षमा आदि सद्‌गुणो के प्रभाव से दूसरो के विकारो को शान्त करते हैं। फलत शत्रु को भी मित्र बना लेते है। तीर्थंकर भगवान् उक्त विवेचन के प्रकाश मे पुरुप-सिंह हैं, पुरुषो मे सिंह की वृत्ति रखते है।

पुरुषवर पुण्डरीक

तीर्थंकर भगवान् पुरुषो मे श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान होते हैं। भगवान् को पुण्डरीक कमल की उपमा वडी ही सुन्दर दी गई है। पुण्डरीक श्वेत कमल का नाम है। दूसरे कमलो की अपेक्षा श्वेत कमल सौन्दर्य एव सुगन्ध मे अतीव उत्कृष्ट होता है। सम्पूर्ण सरोवर एक श्वेत कमल के द्वारा जितना सुगन्धित हो सकता है, उतना अन्य हजारो कमलो से नही हो सकता। दूर-दूर से भ्रमर-वृन्द उसकी सुगन्ध से आकर्पित होकर चले आते हैं, फलत कमल के आस-पास भँवरो का एक विराट् मेला सा लगा रहता है। और इधर कमल विना किसी स्वार्थभाव के दिन-रात अपनी सुगन्ध विश्व को अर्पण करता रहता है। न उसे किसी प्रकार के वदले की भूख है, और न कोई अन्य वासना ! चुप-चाप मूक सेवा करना ही, कमल के उच्च जीवन का आदर्श है।

तीर्थंकरदेव भी मानव-सरोवर मे सर्व-श्रेष्ठ कमल माने गए हैं। उनके आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध अनन्त होती है। अपने समय मे वे अहिंसा और सत्य आदि सद्‌गुणो की सुगन्ध सर्वत्र फैला देते हैं। पुण्डरीक की सुगन्ध का अस्तित्व तो वर्तमान कालावच्छेदेन ही होता है, किन्तु तीर्थंकर देवो के जीवन की सुगन्ध तो हजारो-

लाखो वर्षों बाद आज भी भक्त-जनता के हृदयो को महका रही है। आज ही नही, भविष्य मे भी हजारो वर्षों तक इसी प्रकार महकाती रहेगी। महापुरुषों के जीवन की सुगन्ध को न दिशा ही अवच्छिन्न कर सकती है, और न काल ही। जिस प्रकार पुण्डरीक श्वेत होता है, उसी प्रकार भगवान् का जीवन भी वीतराग-भाव के कारण पूर्णतया निर्मल श्वेत होता है। उसमे कषायभाव का जरा भी रग नही होता। पुण्डरीक के समान भगवान् भी निस्वार्थ-भाव से जनता का कल्याण करते है, उन्हे किसी प्रकार की भी सासारिक वासना नही होती। कमल अज्ञान-अवस्था मे ऐसा करता है, जब कि भगवान् ज्ञान के विमल प्रकाश मे निष्काम भाव से जन-कल्याण का कार्य करते है। यह कमल की अपेक्षा भगवान् की उच्च विशेषता है। कमल के पास भ्रमर ही आते है, जब कि तीर्थंकरदेव के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध से प्रभावित होकर विश्व के भव्य प्राणी उनके चरणो मे उपस्थित हो जाते है। कमल की उपमा का एक भाव और भी है। वह यह है कि भगवान् ससार मे रहते हुए भी ससार की वासनाओ से पूर्णतया निर्लिप्त रहते है, जिस प्रकार पानी से लबालब भरे हुए सरोवर मे रह कर भी कमल पानी से लिप्त नही होता। कमलपत्र पर पानी की बूंद अपनी रेखा नही डाल सकती। यह कमल की उपमा आगम-प्रसिद्ध उपमा है।

गन्धहस्ती

भगवान् पुरुषो मे श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती के समान है। सिंह की उपमा वीरता की सूचक है, गन्ध की नही। और पुण्डरीक की उपमा गन्ध की सूचक है, वीरता की नही। परन्तु, गन्ध-हस्ती की उपमा सुगन्ध और वीरता दोनो की सूचना देती है।

गन्धहस्ती एक महान् विलक्षण हस्ती होता है। उसके गण्डस्थल से सदैव सुगन्धित मद जल बहता रहता है और उस पर भ्रमर-समूह गूंजते रहते है। गन्ध हस्ती की गन्ध इतनी तीव्र होती है कि युद्ध-भूमि मे जाते ही उसकी सुगन्धमात्र से दूसरे हजारो हाथी त्रस्त होकर भागने लगते है, उसके समक्ष कुछ देर

के लिए भी नही ठहर सकते। यह गन्धहस्ती भारतीय साहित्य मे बड़ा मंगलकारी माना गया है। जहाँ यह रहता है, उस प्रदेश मे अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि के उपद्रव नही होते। सदा सुभिक्ष रहता है, कभी भी दुर्भिक्ष नही पड़ता।

तीर्थंकर भगवान् भी मानव-जाति मे गन्धहस्ती के समान है। भगवान् का प्रताप और तेज इतना महान् है कि उनके समक्ष अत्याचार, वैर-विरोध, अज्ञान और पाखण्ड आदि कितने ही क्यो न भयंकर हो, ठहर ही नही सकते। चिरकाल से फैले हुए मिथ्या विश्वास, भगवान् की वाणी के समक्ष सहसा छिन्न-भिन्न हो जाते है, सब ओर सत्य का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

भगवान् गन्ध हस्ती के समान विश्व के लिए मंगलकारी है। जिस देश मे भगवान् का पदार्पण होता है, उस देश मे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि किसी भी प्रकार के उपद्रव नही होते। यदि पहले से उपद्रव हो रहे हो, तो भगवान् के पधारते ही सब-के-सब पूर्णतया शान्त हो जाते है। समवायांग-सूत्र मे तीर्थंकर देव के चौंतीस अतिशयो का वर्णन है। वहा लिखा है—"जहाँ तीर्थंकर भगवान् विराजमान होते है, वहा आस-पास सौ-सौ कोश तक महामारी आदि के उपद्रव नही होते। यदि पहले से हो, तो शीघ्र ही शान्त हो जाते है।" यह भगवान् का कितना महान् विश्वहितकर रूप है! भगवान् की महिमा केवल अन्तरंग के काम, क्रोध आदि उपद्रवो को शान्त करने मे ही नही है, अपितु बाह्य उपद्रवो की शान्ति मे भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि एक सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार तो जीवो की रक्षा करना, उन्हे दुःख से बचाना पाप है। दुःखो को भोगना, अपने पाप कर्मो का ऋण चुकाना है। अतः भगवान् का यह जीवो को दुःखो से बचाने का अतिशय क्या? उत्तर मे निवेदन है कि भगवान् का जीवन मंगलमय है। वे क्या आध्यात्मिक और क्या भौतिक, सभी प्रकार से जनता के दुःखो को दूर कर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करते है। यदि दूसरो को अपने निमित्त से सुख पहुँचाना पाप होता, तो भगवान् को यह पाप-वर्द्धक अतिशय मिलता ही क्यो? यह अतिशय तो

पुण्यानुवन्धी पुण्य के द्वारा प्राप्त होता है, फलत जगत् का कल्याण करता है। इसमे पाप की कल्पना करना तो वज्र-मूर्खता है। कौन कहता है कि जीवो की रक्षा करना पाप है ? यदि पाप है, तो भगवान् को यह पाप-जनक अतिशय कैसे मिला ? यदि किसी को सुख पहुँचाना वस्तुत पाप ही होता, तो भगवान् क्यो नही किसी पर्वत की गुहा मे बैठे रहे ? क्यो दूर-सुदूर देशो मे भ्रमण कर जगत् का कल्याण करते रहे ? अतएव यह भ्रान्त कल्पना है कि किसी को सुख-शान्ति देने से पाप होता है। भगवान् का यह मगल-मय अतिशय ही इसके विरोध मे सब से बडा और प्रबल प्रमाण है।

लोकप्रदीप

तीर्थंकर भगवान लोक मे प्रकाश करने वाले अनुपम दीपक है। जब ससार मे अज्ञान का अन्धकार घनीभूत हो जाता है, जनता को अपने हित-अहित का कुछ भी भान नही रहता है, सत्य-धर्म का मार्ग एक प्रकार से विलुप्त-सा हो जाता है, तब तीर्थंकर भगवान् अपने केवल ज्ञान का प्रकाश विश्व मे फैलाते है और जनता के मिथ्यात्व-अन्धकार को नष्ट कर सन्मार्ग का पथ आलोकित करते हैं।

घर का दीपक घर के कोने मे प्रकाश करता है, उसका प्रकाश सीमित और धुंधला होता है। परन्तु, भगवान् तो तीन लोक के दीपक है, तीन लोक मे प्रकाश करने का महान् दायित्व अपने पर रखते हैं। घर का दीपक प्रकाश करने के लिए तेल और बत्ती की अपेक्षा रखता है, अपने-आप प्रकाश नही करता, जलाने पर प्रकाश करता है, वह भी सीमित प्रदेश मे और सीमित काल तक। परन्तु तीर्थंकर भगवान् तो बिना किसी अपेक्षा के अपने-आप तीन लोक और तीन काल को प्रकाशित करने वाले हैं। भगवान् कितने अनोखे दीपक है !

भगवान् को दीपक की उपमा क्यो दी ? सूर्य और चन्द्र आदि की अन्य सब उत्कृष्ट उपमाएँ छोड कर दीपक ही क्यो अपनाया गया ? प्रश्न ठीक है, परन्तु जरा गम्भीरता से सोचिए, नन्हे से

दीपक की महत्ता, स्पष्टत झलक उठेगी। बात यह है कि सूर्य और चन्द्र प्रकाश तो करते है, किन्तु किसी को अपने समान प्रकाशमान नही बना सकते। इधर लघु दीपक अपने ससर्ग मे आए, अपने से सयुक्त हुए हजारो दीपको को प्रदीप्त कर अपने समान ही प्रकाशमान दीपक बना देता है। वे भी उसी तरह जगमगाने लगते है और अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने लगते है। हाँ, तो दीपक प्रकाश देकर ही नही रह जाता, वह दूसरो को भी अपने समान ही बना लेता है। तीर्थंकर भगवान् भी इसी प्रकार केवल प्रकाश फैला कर ही विश्रान्ति नही लेते, प्रत्युत अपने निकट ससर्ग मे आने वाले अन्य साधको को भी साधना का पथ प्रदर्शित कर अन्त मे अपने समान ही बना लेते है। तीर्थ करो का ध्याता, सदा ध्याता ही नही रहता, वह ध्यान के द्वारा अन्ततोगत्वा ध्येय-रूप मे परिणत हो जाता है। उक्त सिद्धान्त की साक्षी के लिए गौतम और चन्दना आदि के इतिहास प्रसिद्ध उदाहरण, हर कोई जिज्ञासु देख सकता है।

अभयदय अभयदान के दाता

ससार के सब दानो मे अभय-दान श्रेष्ठ है। हृदय की करुणा अभय-दान मे ही पूर्णतया तरगित होती है।

'दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण।'

—सूत्र कृताग, ६/२३

अस्तु, तीर्थ कर भगवान् तीन लोक मे अलौकिक एव अनुपम दयालु होते हैं। उनके हृदय मे करुणा का सागर ठाठे मारता रहता है। विरोधी-से-विरोधी के प्रति भी उनके हृदय से करुणा की धारा बहा करती है। गोशालक कितना उद्दण्ड प्राणी था? परन्तु भगवान् ने तो उसे भी क्रुद्ध तपस्वी की तेजोलेश्या से जलते हुए बचाया। चण्डकौशिक पर कितनी अनन्त करुणा की है? तीर्थ करदेव उस युग मे जन्म लेते हैं, जब मानव-सभ्यता अपना पथ भूल जाती है, फलत सब ओर अन्याय एव अत्याचार का दम्भपूर्ण साम्राज्य छा जाता है। उस समय तीर्थ कर भगवान् क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या राजा क्या रक, क्या ब्राह्मण क्या शूद्र,

सभी को सन्मार्ग का उपदेश करते है। ससार के मिथ्यात्व-वन मे भटकते हुए मानव-समूह को सन्मार्ग पर लाकर उसे निराकुल बनाना, अभय-प्रदान करना, एकमात्र तीर्थ कर देवो का ही महान कार्य है।

चक्षुर्दय ज्ञाननेत्र के दाता

✲

तीर्थ कर भगवान् आँखो के देने वाले हैं। कितना ही हृष्ट-पुष्ट मनुष्य हो, यदि आँख नही तो कुछ भी नही। आँखो के अभाव मे जीवन भार हो जाता है। अंधे को आँख मिल जाय, फिर देखिए, कितना आनदित होता है वह। तीर्थ कर भगवान् वस्तुत अंधो को आँखे देने वाले है। जब जनता के ज्ञान-नेत्रो के समक्ष अज्ञान का जाला छा जाता है, सत्यासत्य का कुछ भी विवेक नही रहता है, तब तीर्थ कर भगवान् ही जनता को ज्ञान-नेत्र अर्पण करते हैं, अज्ञान का जाला साफ करते है।

पुरानी कहानी है कि एक देवता का मन्दिर था, बडा ही चमत्कार पूर्ण ? वह, आने वाले अन्धो को नेत्र-ज्योति दिया करता था। अन्धे लाठी टेकते आते और इधर आँखे पाते ही द्वार पर लाठी फेक कर घर चले जाते। तीर्थ कर भगवान् ही वस्तुत ये चमत्कारी देव है। इनके द्वार पर जो भी काम और क्रोध आदि विकारो से दूषित अज्ञानी अन्धा आता है, वह ज्ञान-नेत्र पाकर प्रसन्न होता हुआ लौटता है। चण्डकौशिक आदि ऐसे ही जन्म जन्मान्तर के अन्धे थे, परन्तु भगवान् के पास आते ही अज्ञान का अन्धकार दूर हो गया, सत्य का प्रकाश जगमगा गया। ज्ञान-नेत्र की ज्योति पाते ही सब भ्रान्तियाँ क्षण-भर मे दूर हो गई।

धर्मचक्रवर्ती

✲

तीर्थंकर भगवान धर्म के श्रेष्ठ चक्रवर्ती है, चार दिशा रूप चार गतियो का अन्त करने वाले है। जब देश मे सब ओर अराजकता छा जाती है, तथा छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त हो कर देश की एकता नष्ट हो जाती है, तब चक्रवर्ती का चक्र

ही पुन राज्य की सुव्यवस्था करता है, सम्पूर्ण बिखरी हुई देश की शक्ति को एक शासन के नीचे लाता है। सार्वभौम राज्य के बिना प्रजा मे शान्ति की व्यवस्था नही हो सकती। चक्रवर्ती इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। वह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण इन तीन दिशाओ मे समुद्र पर्यन्त तथा उत्तर मे लघु हिमवान् पर्वत पर्यन्त अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित करता है, अत चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाता है।

तीर्थ कर भगवान् भी नरक, तिर्यं च आदि चारो गतियो का अन्तकर सम्पूर्ण विश्व पर अपना अहिंसा और सत्य आदि का धर्म राज्य स्थापित करते है। अथवा दान, शील, तप और भाव-रूप चतुर्विध धर्म की साधना स्वय अन्तिम कोटि तक करते हैं, और जनता को भी इस धर्म का उपदेश देते है, अत वे धर्म के चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाते है। भगवान् का धर्म चक्र ही वस्तुत ससार मे भौतिक एव आध्यात्मिक अखण्ड शान्ति कायम कर सकता है। अपने-अपने मत-जन्य दुराग्रह के कारण फैली हुई धार्मिक अराजकता का अन्त कर अखण्ड धर्म-राज्य की स्थापना तीर्थ कर ही करते है। वस्तुत यदि विचार किया जाए, तो भौतिक जगत के प्रतिनिधि चक्रवर्ती से यह ससार कभी स्थायी शान्ति पा ही नही सकता। चक्रवर्ती तो भोग-वासना का दास एक पामर ससारी प्राणी है। उसके चक्र के मूल मे साम्राज्य-लिप्सा का विष छुपा हुआ है, जनता का परमार्थ नही, अपना स्वार्थ रहा हुआ है। यही कारण है कि चक्रवर्ती का शासन मानव-प्रजा के निरपराध रक्त से सीचा जाता है, वहाँ हृदय पर नही, शरीर पर विजय पाने का प्रयत्न है। परन्तु हमारे तीर्थ कर धर्म-चक्रवर्ती हैं। अत वे पहले अपनी ही तप साधना के बल से काम, क्रोधादि अन्तरग शत्रुओ को नष्ट करते है, पश्चात् जनता के लिए धर्म-तीर्थ की स्थापना कर अखण्ड आध्यात्मिक शान्ति का साम्राज्य कायम करते है। तीर्थ कर शरीर के नही, हृदय के सम्राट् बनते हैं, फलत वे ससार मे पारस्परिक प्रेम एवं सहानुभूति का, त्याग एव वैराग्य का विश्व-हितकर शासन चलाते है। वास्तविक सुख-शान्ति, इन्ही धर्म चक्रवर्तियो के शासन की छत्रछाया मे प्राप्त हो सकती है, अन्यत्र नही। तीर्थ कर

पुरुष का कहा हुआ प्रवचन ही प्रमाणावाधित, तत्त्वो-पदेशक, सर्वजीव-हितकर, अकाट्य तथा मिथ्यामार्ग का निराकरण करने वाला होता है। आचार्य सिद्धसेन शास्त्र की परिभाषा वताते हुए इसी सिद्धान्त का उल्लेख करते है—

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-
मदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं,
शास्त्रं कापथ-घट्टनम् ॥ ९ ॥

—न्यायावतार

तीर्थंकर की वाणी · जन कल्याण के लिए

✿

तीर्थंकर भगवान् के लिए जिन, जापक, तीर्ण, तारक, बुद्ध, वोधक, मुक्त और मोचक के विशेषण वडे ही महत्त्वपूर्ण हैं। तीर्थंकरो का उच्च-जीवन वस्तुत इन विशेषणो पर ही अवलम्बित है। राग-द्वेष को स्वय जीतना और दूसरे साधको से जितवाना, ससार-सागर से स्वय तैरना और दूसरे प्राणियो को तैराना, केवलज्ञान पाकर स्वय वुद्ध होना और दूसरो को वोध देना, कर्म-वन्धनो से स्वय मुक्त होना और दूसरो को मुक्त कराना, कितना महान् एव मगलमय आदर्श है। जो लोग एकान्त निवृत्ति मार्ग के गीत गाते है, अपनी आत्मा को ही तारने मात्र का स्वप्न रखते है, उन्हे इस ओर लक्ष्य देना चाहिए।

मै पूछता हूँ—तीर्थंकर भगवान् क्यो दूर-दूर भ्रमण कर अहिंसा और सत्य का सन्देश देते हैं? वे तो, केवलज्ञान और केवल-दर्शन को पाकर कृतकृत्य हो गए हैं। अव उनके लिए क्या करना शेप है? ससार के दूसरे जीव मुक्त होते है या नही, इससे उनको क्या हानि-लाभ? यदि लोग धर्मसाधना करेंगे, तो उनको लाभ है और नही करेंगे, तो उन्ही को हानि है। उनके लाभ और हानि से भगवान् को क्या लाभ-हानि है? जनता को प्रवोध देने मे उनकी मुक्ति मे क्या विशेपता हो जाएगी? और यदि प्रवोध न दें तो कौन-सी विशेपता कम हो जाएगी?

का क्षय हो जाना। राग-द्वेष का सम्पूर्ण क्षय किए बिना, अर्थात् उत्कृष्ट वीतराग भाव सम्पादन किए बिना सर्वज्ञता सभव नही। सर्वज्ञता प्राप्त किए बिना पूर्ण आप्त पुरुष नही हो सकता। पूर्ण आप्त पुरुष हुए बिना त्रिलोक-पूज्यता नही हो सकती, तीर्थंकर पद की प्राप्ति नही हो सकती। उक्त, 'जिणाण' पद ध्वनित करता है कि जैन-धर्म मे वही आत्मा सुदेव है, परमात्मा है, ईश्वर है, परमेश्वर है, परब्रह्म है, सच्चिदानन्द है, जिसने चतुर्गति-रूप ससार-वन मे परिभ्रमण कराने वाले राग-द्वेष आदि अन्तरग शत्रुओ को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है। जिसमे राग-द्वेष आदि विकारो का थोडा भी अश हो, वह साधक भले ही हो सकता है, परन्तु देवाधिदेव परमात्मा नही हो सकता। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—

> सर्वज्ञो जितरागादि-दोपस्त्रैलोक्य-पूजित ।
> यथास्थितार्थ-वादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वर ॥
>
> —योगशास्त्र २/४

पाठ भेद

आवश्यक सूत्र की प्राचीन प्रतियो मे तथा हरिभद्र और हेमचन्द्र आदि आचार्यो के प्राचीन ग्रन्थो मे 'नमोत्थुण' के पाठ मे 'दीवो, ताण, सरण, गई, पइट्ठा' पाठ नही मिलता। बहुत आधुनिक प्रतियो मे ही यह देखने मे आया है और वह भी कुछ गलत ढग से। गलत यो कि 'नमोत्थुण' के सब पद षष्ठी विभक्ति वाले हैं, जब कि यह बीच मे प्रथमा विभक्ति के रूप मे है। प्रथमा विभक्ति का सम्बन्ध, 'नमोत्थुण' मे के नमस्कार के साथ किसी प्रकार भी व्याकरणसम्मत नही हो सकता। अतः हमने मूल-सूत्र मे इस अश को स्थान नही दिया। यदि उक्त अश को 'नमोत्थुण' मे बोलना ही अभीष्ट हो, तो इसे 'दीवताण-सरण-गइ-पइट्ठाण' के रूप मे समस्त षष्ठी विभक्ति लगा कर बोलना चाहिए। प्रस्तुत अश का अर्थ है—"तीर्थंकर भगवान् ससार समुद्र मे द्वीप-टापू, त्राण-रक्षक, शरण, गति एव प्रतिष्ठा रूप हैं।"

'नमोत्थुण' की पाठ विधि

'नमोत्थुण' किस पद्धति से पढना चाहिए, इस सम्बन्ध मे

प्राचीन ग्रन्थो तथा आगमो से प्रमाणित नही होता। 'नमोत्थुण' के पाठ को जब हम सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं, तब पता चलता है कि यह पाठ न सब सिद्धो के लिए है और न सब अरिहन्तो के लिए ही। यह तो केवल तीर्थंकरो के लिए है। अरिहन्त दोनो होते है—सामान्य केवली और तीर्थंकर। सामान्य केवली मे 'तित्थयराण, सय-सवुद्धाणं, धम्मसारहीण, धम्मवरचाउरतचक्कवट्टीण' आदि विशेपण किसी भी प्रकार से घटित नही हो सकते। सूत्र की शैली, स्पष्टतया 'नमोत्थुण' का सम्वन्ध तीर्थंकरो से तथा तीर्थंकरपद से मोक्ष पाने वाले सिद्धो से ही जोड़ती है, सव अरिहन्तो तथा सव सिद्धो से नही।

दो वार क्यो ?

*

मेरी तुच्छ सम्मति मे आजकल प्रथम सिद्ध-स्तुति-विपयक 'ठाण सपत्ताण' वाला 'नमोत्थुण' ही पढना चाहिए, दूसरा 'ठाण सपाविउकामाण' वाला नही। क्योकि, दूसरा 'नमोत्थुण' वर्तमानकालीन अरिहन्त तीर्थंकर के लिए होता है, सो आजकल भारतवर्प मे तीर्थंकर विद्यमान नही हैं। आप प्रश्न कर सकते हैं कि महा-विदेह क्षेत्र मे वीस विहरमान तीर्थंकर हैं तो सही। उत्तर है कि विद्यमान तीर्थंकरो को वन्दन, उनके अपने शासन-काल मे ही होता है, अन्यत्र नही। हाँ तो क्या आप वीस विहरमान तीर्थंकरो के शासन मे है, उनके वताए विधि-विधानो पर चलते है ? यदि नही तो फिर किस आधार पर उनको वन्दन करते है ? प्राचीन आगम-साहित्य मे कही पर भी विद्यमान तीर्थंकरो के अभाव मे दूसरा 'नमोत्थुण' नही पढा गया। ज्ञाता-सूत्र के द्रौपदी-अध्ययन मे धर्मरुचि अनगार संथारा करते समय 'सपत्ताण' वाला ही प्रथम 'नमोत्थुण' पढते हैं, दूसरा नही। इसी सूत्र मे कुण्डरीक के भाई पुण्डरीक और अर्हन्नक श्रावक भी सथारे के समय प्रथम पाठ ही पढते है, दूसरा नही। क्या उस समय भूमण्डल पर अरिहन्तो तथा तीर्थंकरो का अभाव ही हो गया था ? महा-विदेह क्षेत्र मे तो तीर्थंकर तव भी थे। और सामान्य केवलीअरिहन्त तो, अन्यत्र क्या, यहाँ भारतवर्प मे भी होंगे। उक्त विचारणा के द्वारा

काफी मत-भेद मिल रहे हैं। प्रतिक्रमण-सूत्र के टीकाकार आचार्य नमि पचाग नमन-पूर्वक पढने का विधान करते हैं। दोनो घुटने, दोनो हाथ और पाँचवा मस्तक—इनका सम्यक् रूप से भूमि पर नमन करना, पचाग-प्रणिपात नमस्कार होता है। परन्तु, आचार्य हेमचन्द्र और हरिभद्र आदि योग-मुद्रा का विधान करते है। योग-मुद्रा का परिचय ऐर्यापथिक—आलोचना सूत्र के विवेचन मे किया जा चुका है।

राजप्रश्नीय तथा कल्पसूत्र आदि आगमो मे, जहाँ देवता आदि. तीर्थंकर भगवान् को वन्दन करते है और इसके लिए 'नमोत्थुण' पढते है, वहाँ दाहिना घुटना भूमि पर टेक कर और बाँया खडा करके दोनो हाथ अजलि-बद्ध मस्तक पर लगाते है। आज की प्रचलित परम्परा के मूल मे यही उल्लेख काम कर रहा है। वन्दन के लिए यह आसन, नम्रता और विनय भावना का सूचक समझा जाता है।

आजकल स्थानक वासी सम्प्रदाय मे 'नमोत्थुण' दो वार पढा जाता है। पहले से सिद्धो को नमस्कार किया जाता है, और दूसरे से अरिहन्तो को। पाठ-भेद कुछ नही है, मात्र सिद्धो के 'नमोत्थुण' मे जहाँ 'ठाण सपत्ताण' बोला जाता है, वहाँ अरिहन्तो के 'नमोत्थुण' मे 'ठाण सपाविउ कामाण' कहा जाता है। 'ठाण सपाविउकामाण' का अर्थ है—'मोक्ष पद को प्राप्त करने का लक्ष्य रखने वाले जीवन्मुक्त श्री अरिहन्त भगवान अभी मोक्ष मे नही गए है, शरीर के द्वारा भोग्य-कर्म भोग रहे है, जब कर्म भोग लेंगे तब मोक्ष मे जाएँगे, अत. वे मोक्ष पाने की कामना वाले है। कामना का अर्थ यहाँ वासना नही है, आसक्ति नही है। तीर्थंकर भगवान् तो मोक्ष के लिए भी आसक्ति नही रखते। उनका जीवन तो पूर्णरूप से वीतराग-भाव का होता है। अत. यहाँ कामना का अर्थ आसक्ति न लेकर ध्येय, लक्ष्य, उद्देश्य आदि लेना चाहिए। आसक्ति और लक्ष्य मे बडा भारी अन्तर है। बन्धन का मूल आसक्ति मे है, लक्ष्य मे नही।

उपर्युक्त प्रचलित परम्परा के सम्बन्ध मे कुछ थोडी-बहुत विचारने की वस्तु है। वह यह है कि दो 'नमोत्थुण' का विधान

प्राचीन ग्रन्थो तथा आगमो से प्रमाणित नहीं होता। 'नमोत्थुणं' के पाठ को जब हम सूक्ष्म दृष्टि से देखते है, तब पता चलता है कि यह पाठ न सब सिद्धो के लिए है और न सब अरिहन्तो के लिए ही। यह तो केवल तीर्थंकरो के लिए है। अरिहन्त दोनो होते हैं—सामान्य केवली और तीर्थंकर। सामान्य केवली मे 'तित्थयराणं, सय-सबुद्धाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरतचक्कवट्टीणं' आदि विशेषण किसी भी प्रकार से घटित नही हो सकते। सूत्र की शैली, स्पष्टतया 'नमोत्थुणं' का सम्बन्ध तीर्थंकरो से तथा तीर्थंकरपद से मोक्ष पाने वाले सिद्धो से ही जोडती है, सब अरिहन्तो तथा सब सिद्धो से नही।

दो बार क्यो ?

मेरी तुच्छ सम्मति में आजकल प्रथम सिद्ध-स्तुति-विषयक 'ठाणं सपत्ताणं' वाला 'नमोत्थुणं' ही पढना चाहिए, दूसरा 'ठाणं सपाविउकामाणं' वाला नही। क्योकि, दूसरा 'नमोत्थुणं' वर्तमानकालीन अरिहन्त तीर्थंकर के लिए होता है, सो आजकल भारतवर्ष मे तीर्थंकर विद्यमान नहीं हैं। आप प्रश्न कर सकते हैं कि महा-विदेह क्षेत्र मे वीस विहरमान तीर्थंकर हैं तो सही। उत्तर है कि विद्यमान तीर्थंकरो को वन्दन, उनके अपने शासन-काल मे ही होता है, अन्यत्र नही। हाँ तो क्या आप वीस विहरमान तीर्थंकरो के शासन मे है, उनके बताए विधि-विधानो पर चलते है ? यदि नही तो फिर किस आधार पर उनको वन्दन करते हैं ? प्राचीन आगम-साहित्य में कही पर भी विद्यमान तीर्थंकरो के अभाव मे दूसरा 'नमोत्थुणं' नही पढा गया। ज्ञाता-सूत्र के द्रौपदी-अध्ययन मे धर्मरुचि अनगार सथारा करते समय 'सपत्ताणं' वाला ही प्रथम 'नमोत्थुणं' पढते हैं, दूसरा नही। इसी सूत्र मे कुण्डरीक के भाई पुण्डरीक और अर्हन्नक श्रावक भी सथारे के समय प्रथम पाठ ही पढते है, दूसरा नही। क्या उस समय भूमण्डल पर अरिहन्तो तथा तीर्थंकरो का अभाव ही हो गया था ? महा-विदेह क्षेत्र मे तो तीर्थंकर तब भी थे। और सामान्य केवलीअरिहन्त तो, अन्यत्र क्या, यहाँ भारतवर्ष में भी होंगे। उक्त विचारणा के द्वारा

स्पष्टत सिद्ध हो जाता है कि आगम की प्राचीन मान्यता 'नमोत्थुण' के विषय मे यह है कि—"प्रथम नमोत्थुण तीर्थंकर पद पाकर मोक्ष जाने वाले सिद्धो के लिए पढा जाए। यदि वर्तमान काल मे तीर्थंकर विद्यमान हो, तो राजप्रश्नीय—सूर्याभदेवताधिकार, कल्पसूत्र—महावीरजन्माधिकार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—तीर्थंकरजन्माभिषेकाधिकार, औपपातिक—अबडशिष्याधिकार और अन्तकृद्दशाग अर्जुनमालाकाराधिकार आदि के उल्लेखानुसार उनका नाम लेकर 'नमोत्थुण समणस्स भगवतो महावीरस्स ठाणं सपाविउकामस्स' आदि के रूप मे पढना चाहिए।"

यहाँ जो कुछ लिखा है, किसी आग्रह-वश नही लिखा है, प्रत्युत विद्वानो के विचारार्थ लिखा है। अत. आगमाभ्यासी विद्वान्, इस प्रश्न पर, यथावकाश विचार करने की कृपा करे।

नौ सपदा

*

प्रस्तुत 'नमोत्थुण' सूत्र मे नव सम्पदाएँ मानी गई हैं। सम्पदा का क्या अर्थ है, यह पहले के पाठो मे बताया जा चुका है। पुन' स्मृति के लिए आवश्यक हो, तो यह याद रखना चाहिए कि सम्पदा का अर्थ विश्राम है।

प्रथम स्तोतव्य-सम्पदा है। इसमे ससार के सर्वश्रेष्ठ स्तोतव्य—स्तुति योग्य तीर्थंकर भगवान् का निर्देश किया गया है।

दूसरी सामान्य-हेतु-सम्पदा है। इसमे स्तोतव्यता मे कारण-भूत सामान्य गुणो का वर्णन है। जैनधर्म वैज्ञानिक धर्म है, अत. उसमे किसी की स्तुति यो ही नही की जाती, प्रत्युत गुणो को ध्यान मे रख कर ही स्तुति करने का विधान है।

तीसरी विशेष-हेतु-सम्पदा है। इसमे स्तोतव्य महापुरुष तीर्थंकर देव के विशेष गुण वर्णन किए गए हैं।

चतुर्थ उपयोग-सम्पदा है। इसमे ससार के प्रति तीर्थंकर भगवान् की उपयोगिता-परोपकारिता का सामान्यतया वर्णन है।

पांचवी उपयोगसम्पदा-सम्बन्धिनी हेतु-सम्पदा है। इसमे बताया गया है कि तीर्थंकर भगवान् जनता पर किस प्रकार महान् उपकार करते है।

छठी विशेष-उपयोग-सम्पदा है। इसमे विशेष एव असाधारण शब्दो मे भगवान् की विश्वकल्याणकारिता का वर्णन है।

सातवी सहेतुस्वरूप-सम्पदा है। इसमे भगवान् के दिक्कालादि के व्यवधान से अनवच्छिन्न, अत अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन का वर्णन करके उनका स्वरूप-परिचय कराया गया है।

आठवी निजसमफलद-सम्पदा है। इसमे 'जावयाण, वोहयाण, मोयगाण' आदि पदो के द्वारा सूचित किया गया है कि तीर्थंकर भगवान् ससार-दु ख-सतप्त भव्य जीवो को धर्मोपदेश देकर अपने समान ही जिन, बुद्ध, और मुक्त बनाने की क्षमता रखते है।

नौवी मोक्ष-सम्पदा है। इसमे मोक्ष-स्वरूप का शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्यावाध आदि विशेषणो के द्वारा बडा ही सरल एव भव्य वर्णन किया है।

तार्किक प्रश्न करते है कि नौवी मोक्ष सम्पदा मे जो मोक्ष-स्वरूप का वर्णन है, उसका सम्बन्ध सूत्रकार ने स्थान शब्द के साथ जोडा है, वह किसी भी तरह घटित नही होता। स्थान सिद्ध-शिला अथवा आकाश जड पदार्थ है, अत वह अरुज, अनन्त, अव्यावाध कैसे हो सकता है? उत्तर मे निवेदन है कि अभिधा-वृत्ति से सम्बन्ध ठीक नही बैठता है। परन्तु, लक्षणा-वृत्ति के द्वारा सम्बन्ध होने मे कोई आपत्ति नही रहती। यहाँ स्थान और स्थानी आत्माओ के मोक्ष-स्वरूप मे अभेद का आरोप किया गया है। अत मोक्ष के धर्म, स्थान मे आरोपित कर दिए गए है। अथवा यहाँ स्थान का अर्थ यदि अवस्था या पद लिया जाए, तो फिर कुछ भी विकल्प नही रहता। मोक्ष, साधक आत्मा की एक अतिम पवित्र अवस्था या उच्च पद ही तो है।

विभिन्न नाम

जैन-परम्परा मे प्रस्तुत सूत्र के कितने ही विभिन्न नाम प्रचलित है। 'नमोत्थुण' यह नाम, अनुयोग द्वार-सूत्र के उल्लेखानुसार प्रथम अक्षरो का आदान करके बनाया गया है, जिस प्रकार भक्तामर और कल्याण मन्दिर आदि स्तोत्रो के नाम है।

दूसरा नाम शक्र-स्तव है, जो अधिक ख्याति-प्राप्त है। जम्बू-द्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र तथा कल्पसूत्र आदि सूत्रो मे वर्णन आता है कि प्रथम स्वर्ग के अधिपति शक्र-इन्द्र प्रस्तुत पाठ के द्वारा ही तीर्थ करो को वन्दन करते है, अत 'शक्र-स्तव' नाम के लिए काफी पुरानी अर्थ-धारा हमे उपलब्ध है।

तीसरा नाम प्रणिपात-दण्डक है। इसका उल्लेख योगशास्त्र की स्वोपज्ञवृत्ति और प्रतिक्रमणवृत्ति आदि ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। प्रणिपात का अर्थ नमस्कार होता है, अत. नमस्कार-परक होने से यह नाम भी सर्वथा युक्ति मूलक है।

उपर्युक्त तीनो ही नाम शास्त्रीय एव अर्थ-सगत है। अत' किसी एक ही नाम का मोह रखना और दूसरो का अपलाप करना अयुक्त है।

महत्त्व

'नमोत्थुण' के सम्बन्ध में काफी विस्तार के साथ वर्णन किया जा चुका है। जैन सम्प्रदाय मे प्रस्तुत सूत्र का इतना अधिक महत्त्व है कि जिस की कोई सीमा नही बांधी जा सकती। आज के इस श्रद्धा-शून्य युग मे; सैकडो सज्जन अव भी ऐसे मिलेंगे, जो इतने लम्बे सूत्र की नित्यप्रति माला तक फेरते है। वस्तुत' इस सूत्र मे भक्ति-रस का प्रवाह वहा दिया गया है। तीर्थंकर महाराज के पवित्र चरणो मे श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने के लिए, यह वहुत सुन्दर एव समीचीन रचना है। उत्तराध्ययन-सूत्र मे तीर्थंकर भगवान् की स्तुति करने का महान् फल वताते हुए कहा है—

"थवथुइमगलेण नाण—दंसण—चरित्त—वोहिलाभ जणयइ। नाण—दसण—चरित्त—वोहिलाभसपन्ने य ण जीवे अतकिरिय कप्पविमाणोव—वत्तिय आराहण आराहेइ।"

—उत्तराध्ययन २६/१४

उपर्युक्त प्राकृत सूत्र का भाव यह है कि तीर्थंकर देवो की स्तुति करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप वोधि का लाभ होता है। वोधि के लाभ से साधक साधारण दशा मे कल्प विमान तथा उत्कृष्ट दशा मे मोक्ष पद का आराधक होता है। ज्ञान, दर्शन

और चारित्र ही जैन-धर्म है। अतः उपर्युक्त भगवद्-वाणी का सार यह निकला कि भगवान् की स्तुति करने वाला साधक सम्पूर्ण जैनत्त्व का अधिकारी हो जाता है और अन्त में अपनी साधना का परम फल मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। सूत्रकार ने हमारे समक्ष अक्षय-निधि खोल कर रख दी है। आइए, हम इस निधि का भक्ति-भाव के साथ उपयोग करें और अनादिकाल की आध्यात्मिक दरिद्रता का समूल उन्मूलन कर अक्षय एव अनन्त आत्म-वैभव को प्राप्त करें।

* *

११ || समाप्ति सूत्र

[आलोचना]

(१)

एयस्स नवमस्स सामाइयवयस्स,
पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा।
तंजहा—
मण-दुप्पणिहाणे,
वय-दुप्पणिहाणे,
काय-दुप्पणिहाणे,
सामाइयस्स सइ अकरणया,
सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

(२)

सामाइयं सम्मं काएण,
न फासियं, न पालियं,
न तीरियं, न किट्टियं,
न सोहियं, न आराहियं,
आणाए अणुपालियं न भवइ,
तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शब्दार्थ

(१)

एयस्स=इस
नवमस्स=नौवें
सामाइयवयस्स=सामायिक व्रत के
पंच अइयारा=पाँच अतिचार
जाणियव्वा=जानने योग्य हैं
समायरियव्वा=आचरण करने योग्य
न=नही हैं
तंजहा=वे इस प्रकार है
मण-दुप्पणिहाणे=मन की अनुचित्त प्रवृत्ति
वय दुप्पणिहाणे=वचन की अनुचित प्रवृत्ति
काय-दुप्पणिहाणे=शरीर की अनुचित प्रवृत्ति
सामाइयस्स=सामायिक की
सइअकरणया=स्मृति न रखना
सामाइयस्स=सामायक को
अणवट्ठियस्स=अव्यवस्थित
करणया=करना
तस्स=उस अतिचार सम्बन्धी
मि=मेरा
दुक्कड=दुष्कृत
मिच्छा=मिथ्या होवे

(२)

सामाइय=सामायिक को
सम्म=सम्यक् रूप मे
काएण=शरीर से—जीवन से
न फासिय=स्पर्श न किया हो
न पालिय=पालन न किया हो
न तीरिय=पूर्ण न किया हो
न किट्टिय=कीर्तन न किया हो
न सोहिय=शुद्ध न किया हो
न आराहिय=आराधन न किया हो
आणाए=वीतराग देव की आज्ञा से
अणुपालिय=अनुपालित-स्वीकृत
न भवइ=न हुआ हो तो
तस्स मिच्छामि दुक्कड=वह मेरा पाप निष्फल हो

भावार्थ

(१)

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार—दोप हैं, जो मात्र जानने योग्य है, आचरण करने योग्य नहीं। वे पाँच दोप इस प्रकार हैं—१—मन को कुमार्ग मे लगाना २—वचन को कुमार्ग मे लगाना, ३—शरीर को कुमार्ग मे लगाना, ४—सामायिक को वीच में ही अपूर्ण दशा मे पार लेना अथवा सामायिक की स्मृति—खयाल न रखना तथा ५—सामायिक को अव्यवस्थित रूप से—चचलता से करना। उक्त दोपो के कारण जो भी पाप लगा हो, वह आलोचना के द्वारा मिथ्या—निष्फल हो।

(२)

सामायिक व्रत सम्यग्रूप से स्पर्श न किया हो, पालन न किया हो, पूर्ण न किया हो, कीर्तन न किया हो, शुद्ध न किया हो, आराधन न किया हो एव वीतराग की आज्ञा के अनुसार पालन न हुआ हो, तो तत्सम्बन्धी समग्र पाप मिथ्या—निष्फल हो।

विवेचन

साधक, आखिर साधक ही है, चारो ओर अज्ञान और मोह का वातावरण है, अत' वह अधिक-से-अधिक सावधानी रखता हुआ भी कभी-कभी भूले कर बैठता है। जब घर गृहस्थी के अत्यन्त स्थूल कामो मे भी भूलें हो जाना साधारण है; तब सूक्ष्म धर्म-क्रियाओ मे भूल होने के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है? वहाँ तो रागद्वेप की जरा-सी भी परिणति, विपय-वासना की जरा सी भी स्मृति, धर्म-क्रिया के प्रति जरा-सी भी अव्यवस्थिति, आत्मा को मलिन कर डालती है। यदि शीघ्र ही उसे ठीक न किया जाए, साफ न किया जाए, तो आगे चल कर वह अतीव भयकर रूप मे साधना का सर्वनाश कर देती है।

चार प्रकार के दोप

*

सामायिक बडी ही महत्त्व-पूर्ण धार्मिक क्रिया है। यदि यह ठीक रूप से जीवन मे उतर जाए, तो ससार-सागर से बेडा पार है। परन्तु, अनादिकाल से आत्मा पर जो वासनाओ के सस्कार पड़े हुए है, वे धर्म-साधना को लक्ष्य की ओर ठीक प्रगति नही करने देते। साधक का अन्तर्मुहूर्त जितना छोटा-सा काल भी शान्ति से नही गुजरता है। इसमे भी ससार की उधेड-बुन चल पडती है! अत साधक का कर्तव्य है कि वह सामायिक के काल मे पापो से बचने की पूरी-पूरी सावधानी रक्खे, कोई भी दोप जानते या अजानते जीवन मे न उतरने दे। फिर भी, कुछ दोप लग ही जाते हैं। उनके लिए यह है कि सामायिक समाप्त करते समय शुद्ध हृदय से आलोचना कर ले! आलोचना अर्थात् अपनी भूल को स्वीकार करना, अन्तर्हृदय से पश्चात्ताप करना, दोप-शुद्धि के लिए अचूक महौपध है।

प्रत्येक व्रत चार प्रकार से दूषित होता है—अतिक्रम से, व्यतिक्रम से, अतिचार से और अनाचार से। मन की निर्मलता का नष्ट होना, मन मे अकृत्य कार्य करने का सकल्प करना, अतिक्रम है। अयोग्य कार्य करने के सकल्प को कार्य-रूप मे परिणत करने और व्रत का उल्लघन करने के लिए तैयार हो जाना, व्यतिक्रम है। व्यतिक्रम से आगे बढ कर विषयो की ओर आकृष्ट होना, व्रत-भग करने के लिए सामग्री जुटा लेना, अतिचार है। और अन्त मे आसक्ति-वश व्रत का भग कर देना, अनाचार कहलाता है—

"मन की विमलता नष्ट होने को अतिक्रम है कहा,
और शीलचर्या के विलघन को व्यतिक्रम है कहा।
हे नाथ! विषयो में लिपटने को कहा अतिचार है,
आसक्त अतिशय विषय में रहना महाऽनाचार है॥"

अतिचार और अनाचार मे भेद

*

यहाँ पर हमे अतिचार और अनाचार का भेद भी समझ लेना चाहिए, अन्यथा, विपर्यय हो जाने की सभावना बनी रहती है। अतिचार का अर्थ है—'व्रत का अशत भग' और अनाचार का अर्थ है—'सर्वत भग'। अतिचार तक के दोष व्रत मे मलिनता लाते हैं, व्रत को नष्ट नही करते, अत इन की शुद्धि आलोचना एव प्रतिक्रमण आदि से हो जाती है। परन्तु, अनाचार मे तो व्रत का मूलत भग ही हो जाता है, अत व्रत नये सिरे से लेना पडता है। साधक का कर्तव्य है कि वह प्रथम तो 'अतिक्रम' आदि सभी दोषो से बचता रहे। सभव है, फिर भी भ्रान्ति-वश कोई भूल शेष रह जाए, तो उसकी आलोचना कर ले। परन्तु, अनाचार की ओर तो बिल्कुल ही अग्रसर न होना चाहिए। इसके लिए विशेष जागरूकता की आवश्यकता है। जीवन मे जितना अधिक जागरण है, उतना ही अधिक सयम है!

सामायिक-व्रत मे भी 'अतिक्रम' आदि दोष लग जाते है। अत साधक को उनकी शुद्धि का विशेष लक्ष्य रखना चाहिए। यही कारण है कि सामायिक की समाप्ति के लिए सूत्रकार ने जो प्रस्तुत

पाठ लिखा है, इसमे सामायिक मे लगने वाले अतिचारो की आलोचना की गई है। व्रत मे मलिनता पैदा करने वाले दोषों मे अति-चार ही मुख्य है, अत' अतिचार की आलोचना के साथ-साथ अतिक्रम और व्यतिक्रम की आलोचना स्वय हो जाती है।

पांच अतिचार

✿

सामायिक-व्रत के पांच अतिचार है—मनोदुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, सामायिक-स्मृति-भ्र श, और सामायिक-अनवस्थित। सक्षेप मे अतिचारो की व्याख्या इस प्रकार है .—

१—सामायिक के भावो से बाहर मन की प्रवृत्ति होना, मन को सासारिक-प्रपचों मे दौडाना, और सासारिक कार्य के लिए इधर-उधर के सकल्प-विकल्प करना, मनो-दुष्प्रणिधान है।

२—सामायिक के समय विवेक-रहित कटु, निष्ठुर एव अश्लील वचन बोलना, निरर्थक प्रलाप करना, कषाय बढाने वाले सावद्य वचन कहना, वचन-दुष्प्रणिधान है।

३—सामायिक मे शारीरिक चपलता दिखाना, शरीर से कुचेष्टा करना, बिना कारण शरीर को इधर-उधर फैलाना, असाव-धानी से बिना देखे-भाले चलना, काय-दुष्प्रणिधान है।

४—मैंने सामायिक की है अथवा कितनी सामायिक ग्रहण की है, इस बात को ही भूल जाना, अथवा सामायिक ग्रहण करना ही भूल बैठना, सामायिक-स्मृति-भ्र श है। मूल-पाठ मे आए 'सइ' शब्द का सदा अर्थ भी होता है। अत इस दिशा मे प्रस्तुत अतिचार का रूप होगा, सामायिक सदाकाल—निरन्तर न करना। सामायिक की साधना नित्य-प्रति चालू रहनी चाहिए। कभी करना और कभी न करना, यह निरादर है।

५—सामायिक से ऊबना, सामायिक का समय पूरा हुआ या नहीं—इस बात का बार-बार विचार लाना, अथवा सामायिक का समय पूर्ण होने से पहले ही सामायिक समाप्त कर लेना, सामायिक का अनवस्थित दोष है।

यदि सामायिक का समय पूर्ण होने से पहिले, जान बूझकर सामायिक समाप्त की जाती है, तब तो अनाचार है, परन्तु 'सामायिक का समय पूर्ण हो गया होगा' ऐसा विचार कर समय

पूर्ण होने से पहले ही सामायिक समाप्त कर ले, तो वह अनाचार नही, प्रत्युत अतिचार है।

शंका-समाधान

*

प्रश्न—मन की गति बड़ी सूक्ष्म है। वह तो अपनी चचलता किए विना रहता ही नही। और, उधर सामायिक के लिए मन से भी सावद्य-व्यापार करने का त्याग किया है, अत प्रतिज्ञा भग होजाने के कारण सामायिक तो भग हो ही जाती है। अस्तु, सामायिक करने की अपेक्षा सामायिक न करना ही ठीक है। प्रतिज्ञा-भग करने का दोष तो नही लगेगा?

उत्तर—सामायिक की प्रतिज्ञा के लिए छह कोटि बताई गई हैं। अत यदि एक मन की कोटि टूटती है, तो बाकी पाँच कोटि तो बनी ही रहती हैं, सामायिक का सर्वथा भग या अभाव तो नही होता। मनोरूप अशत भग की शुद्धि के लिए शास्त्रकारो ने पश्चात्ताप-पूर्वक 'मिच्छा मि-दुक्कड' का कथन किया है। विघ्न के भय से काम ही प्रारम्भ न करना, मूर्खता है। सामायिक, शिक्षाव्रत है। शिक्षा का अर्थ है, निरन्तर अभ्यास के द्वारा प्रगति करना। अभ्यास चालू रखिए, एक दिन मन पर नियन्त्रण हो ही जाएगा। यह असन्दिग्ध है।

* *

परिशिष्ट

१ || विधि

(१)

सामायिक लेने की विधि

शान्त तथा एकान्त स्थान,
भूमि का अच्छी तरह प्रमार्जन,
श्वेत तथा शुद्ध आसन,
गृहस्थोचित पगडी तथा कोट आदि उतार कर शुद्ध वस्त्रो का उपयोग,
मुखवस्त्रिका का उपयोग
पूर्व तथा उत्तर की ओर मुख,

[पद्मासन आदि से बैठकर या जिन-मुद्रा से खडे होकर]

नमस्कार-सूत्र=नवकार, तीन वार
सम्यक्त्व-सूत्र=अरिहतो, तीनवार
गुरुगुण स्मरण-सूत्र=पचिदिय, एक वार
गुरुवन्दन-सूत्र=तिक्खुत्तो, तीन वार

[वन्दना करके आलोचना की आज्ञा लेना और जिन-मुद्रा से आगे के पाठ पढना]

आलोचना-सूत्र=ईरियावहिय, एक वार
कायोत्सर्ग-सूत्र=तस्स उत्तरी, एक वार
आगार-सूत्र=अन्नत्थ, एक वार

[पद्मासन आदि से वैठकर या जिन-मुद्रा से खड़े होकर कायोत्सर्ग—ध्यान करना]

कायोत्सर्ग में लोगस्स, 'चन्देसु निम्मलयरा' तक
'नमो अरिहंताण' पढकर ध्यान खोलना,
प्रकट रूप में लोगस्स सम्पूर्ण एक वार
गुरु-वन्दन-सूत्र=तिक्खुत्तो तीन वार
[गुरु से, यदि गुरु न हो तो भगवान् की साक्षी से सामायिक की आज्ञा लेना]
सामायिक प्रतिज्ञा सूत्र=करेमि भंते, तीन वार
[दाहिना घुटना भूमि पर टेक कर, बाया खड़ा कर, उस पर अञ्जलि-बद्ध दोनो हाथ रखकर]
प्रणिपात-सूत्र=नमोत्थुण, दो वार
[४८ मिनिट तक स्वाध्याय, धर्म-चर्चा, आत्म ध्यान आदि]

दो नमोत्थुण मे पहला सिद्धो का और दूसरा अरिहंतो का है। अरिहन्तो के नमोत्थुण मे 'ठाण सपत्ताण' के वदले 'ठाण सपाविउ-कामाण' पढ़ना चाहिए। यह प्रचलित परम्परा है। हमारी अपनी धारणा के लिए 'प्रणिपात-सूत्र—नमोत्थुण' का विवेचन देखिए।

(२)

सामायिक पारने की विधि

नमस्कारसूत्र=तीन वार,

सम्यक्त्वसूत्र=तीन वार,

गुरु-गुण स्मरण-सूत्र=एक वार,

गुरु-वन्दन-सूत्र=तीन वार,

[वन्दना करके आलोचना की आज्ञा लेना,
और जिन-मुद्रा से आगे के पाठ पढना]

आलोचना-सूत्र=ईरियावहिय, एक वार,

कायोत्सर्ग-सूत्र=तस्स उत्तरी, एकवार,

आगार-सूत्र=अन्नत्थ, एक वार,

[पद्मासन आदि से बैठकर, या जिन-मुद्रा से खडे होकर
कायोत्सर्ग—ध्यान करना]

कायोत्सर्ग—ध्यान मे लोगस्स 'चन्देसु निम्मलयरा' तक,
'नमो अरिहंताणं' पढकर ध्यान खोलना,
प्रकट रूप मे लोगस्स सम्पूर्ण एक बार,

[दाहिना घुटना टेक कर, बायां खडा कर, उस पर
अजलिवद्ध दोनो हाथ रखकर]

प्रणिपात-सूत्र=नमोत्थुणं दो वार,

सामायिक-समाप्ति-सूत्र=एयस्स नवमस्स आदि, एक वार

नमस्कार-सूत्र=नवकार तीन वार

* *

संस्कृत-च्छायानुवाद

[१]

नमोक्कार—नमस्कार-सूत्र

नमोऽर्हद्भ्यः
नमः सिद्धेभ्यः
नम आचार्येभ्य.
नम उपाध्यायेभ्यः
नमो लोके सर्वसाधुभ्यः।

एष पञ्चनमस्कार,
सर्व-पाप-प्रणाशन ।
मगलानां च सर्वेषा,
प्रथम भवति मगलम् ॥

[२]

अरिहतो—सम्यक्त्व-सूत्र

अर्हन् मम देव,
यावज्जीव सुसाधवः गुरव ।
जिन-प्रज्ञप्त तत्त्वं,
इति सम्यक्त्व मया गृहीतम् ॥

[३]

पंचिदिय—गुरुगुण-स्मरण-सूत्र

पञ्चेन्द्रिय-सवरणः,
तथा नवविध-ब्रह्मचर्य-गुप्तिधरः ।
चतुर्विध-कषायमुक्त',
इत्यष्टादशगुणै सयुक्त ॥१॥
पञ्चमहाव्रत-युक्तः,
पञ्चविधाचार-पालनसमर्थः ।
पञ्चसमितः त्रिगुप्त',
षट्त्रिशद्गुणो गुरुर्मम ॥२॥

[४]

तिक्खुत्तो—गुरुवन्दन-सूत्र

त्रिकृत्वः आदक्षिण प्रदक्षिणा करोमि,
वन्दे,
नमस्यामि,
सत्करोमि, सम्मानयामि,
कल्याणम् ,
मगलम् ,
दैवतम् ,
चैत्यम् ,
पर्युपासे ,
मस्तकेन वन्दे ।

[५]

ईरियावहिय—आलोचना-सूत्र

इच्छाकारेण सन्दिशत भगवन् !
ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रमामि, इष्टम् ।

इच्छामि प्रतिक्रमितुम् ,
ईर्यापथिकायां विराधनायाम् , गमनागमने,
प्राणाक्रमणे बीजाक्रमणे, हरिताक्रमणे,
अवश्यायोत्तिग-पनकदकमृत्तिका-मर्कट-सन्तानसक्रमणे,
ये मया जीवा विराधिताः
एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः,
चतुरिन्द्रियाः, पञ्चेन्द्रियाः,
अभिहताः, वर्तिताः, श्लेषिताः,
संघातिताः, सघट्टिताः, परितापिताः,
क्लामिताः, अवद्राविताः,
स्थानात् स्थान सक्रामिताः,
जीविताद् व्यपरोपिताः,
तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।

[६]

तस्स उत्तरी—कायोत्सर्ग-सूत्र

तस्य उत्तरीकरणेन,
प्रायश्चित्त-करणेन,
विशोधी-करणेन,
विशल्यी-करणेन,
पापाना कर्मणा निर्घातनार्थाय,
तिष्ठामि कायोत्सर्गम् ।

[७]

अन्नत्थ ऊससिएण—आकार-सूत्र

अन्यत्र उच्छ्वसितेन, नि.श्वसितेन,
कासितेन, क्षुतेन,
जम्भितेन, उद्गारितेन,

वातनिसर्गेण, भ्रमर्या,
पित्तमूर्च्छया,
सूक्ष्मैः अंगसंचालैः,
सूक्ष्मैः श्लेष्मसंचालैः,
सूक्ष्मैः दृष्टि-संचालैः,
एवमादिभिः आकारैः
अभग्नः अविराधितः,
भवतु मे कायोत्सर्गः।
यावदर्हतां भगवतां
नमस्कारेण न पारयामि,
तावत्कायं,
स्थानेन, मौनेन, ध्यानेन,
आत्मानं व्युत्सृजामि !

[८]

लोगस्स—चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र

लोकस्य उद्द्योतकरान्
धर्म-तीर्थकरान् जिनान्।
अर्हतः कीर्तयिष्यामि,
चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ॥१॥
ऋषभमजितं च वन्दे,
संभवमभिनंदनं च सुमतिं च।
पद्म-प्रभं सुपार्श्वं,
जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ॥२॥
सुविधिं च पुष्पदन्तं,
शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्यं च।
विमलमनन्तं च जिनं,
धर्मं शान्तिं च वन्दे ॥३॥

कुन्थुमर च मल्लि,
वन्दे मुनिसुव्रत नमिजिन च ।
वन्दे अरिष्टनेमि,
पार्श्वं तथा वर्द्धमान च ॥४॥
एव मया अभिष्टुता·,
विधूतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः ।
चतुर्विंशतिरपि जिनवराः,
तीर्थकरा· मयि प्रसीदन्तु ॥५॥
कीर्तिताः, वन्दिता., महिता.,
ये एते लोकस्य उत्तमाः सिद्धाः ।
आरोग्य-बोधि-लाभ,
समाधिवरमुत्तम ददतु ॥६॥
चन्द्रेभ्यो निर्मलतराः,
आदित्येभ्योऽधिक प्रकाशकराः ।
सागरवर-गम्भीरा ,
सिद्धाः सिद्धि मम दिशन्तु ॥७॥

[९]

करेमि भन्ते—सामायिक-सूत्र

करोमि भदन्त ! सामायिकम्,
सावद्य योग प्रत्याख्यामि,
यावन्नियम पर्युपासे,
द्विविध,
त्रिविधेन,
मनसा, वाचा, कायेन,
न करोमि, न कारयामि,
तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि
निन्दामि गर्हे,
आत्मान व्युत्सृजामि ।

[१०]

नमोत्थुरण—प्रणिपात-सूत्र

नमोऽस्तु—
अर्हद्भ्यः, भगवद्भ्यः,
आदिकरेभ्य , तीर्थकरेभ्यः, स्वयसम्बुद्धेभ्य.,
पुरुषोत्तमेभ्यः, पुरुषसिंहेभ्य·,
पुरुषवरपुण्डरीकेभ्य· पुरुषवरगन्धहस्तिभ्य·,
लोकोत्तमेभ्य , लोकनाथेभ्यः, लोकहितेभ्य·,
लोकप्रदीपेभ्यः, लोकप्रद्योतकरेभ्य·,
अभयदेभ्यः, चक्षुर्देभ्यः, मार्गदेभ्य ,
शरणदेभ्य जीवदेभ्यः बोधिदेभ्य· धर्मदेभ्य·,
धर्मदेशकेभ्य·, धर्मनायकेभ्य·, धर्मसारथिभ्यः,
धर्मवर-चतुरन्त-चक्रवर्तिभ्यः,
[द्वीप-त्राण-शरण-गति-प्रतिष्ठेभ्यः,]
अप्रतिहत-वर-ज्ञान-दर्शन-धरेभ्य.,
व्यावृत्त-छद्मभ्य·,
जिनेभ्य·, जापकेभ्यः,
तीर्णेभ्यः, तारकेभ्य ,
बुद्धेभ्य·, बोधकेभ्यः,
मुक्तेभ्यः, मोचकेभ्यः,
सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः,
शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्यावाधम्—
अपुनरावृत्ति-सिद्धिगतिनामधेयं स्थान
सप्राप्तेभ्य·,
नमो जिनेभ्य·, जितभयेभ्यः ।

कुन्थुमर च मल्लि,
वन्दे मुनिसुव्रत नमिजिन च ।
वन्दे अरिष्टनेमि,
पार्श्व तथा वर्द्धमान च ॥४॥
एव मया अभिष्टुताः,
विधूतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः ।
चतुर्विंशतिरपि जिनवराः,
तीर्थंकराः मयि प्रसीदन्तु ॥५॥
कीर्तिताः, वन्दिता, महिताः,
ये एते लोकस्य उत्तमा. सिद्धाः ।
आरोग्य-बोधि-लाभ,
समाधिवरमुत्तम ददतु ॥६॥
चन्द्रेभ्यो निर्मलतरा.
आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकरा ।
सागरवर-गम्भीरा,
सिद्धा. सिद्धि मम दिशन्तु ॥७॥

[६]

करेमि भन्ते—सामायिक-सूत्र

करोमि भदन्त ! सामायिकम्,
सावद्य योग प्रत्याख्यामि,
यावन्नियम पर्युपासे,
द्विविध,
त्रिविधेन,
मनसा, वाचा, कायेन,
न करोमि, न कारयामि,
तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामि
निन्दामि गर्हे,
आत्मान व्युत्सृजामि ।

[१०]

नमोत्थुरण—प्रणिपात-सूत्र

नमोऽस्तु—
अर्हद्भ्यः, भगवद्भ्यः,
आदिकरेभ्य , तीर्थकरेभ्य , स्वयसम्बुद्धेभ्यः,
पुरुषोत्तमेभ्यः, पुरुषसिंहेभ्यः,
पुरुषवरपुण्डरीकेभ्यः पुरुषवरगन्धहस्तिभ्य.,
लोकोत्तमेभ्यः, लोकनाथेभ्यः, लोकहितेभ्यः,
लोकप्रदीपेभ्यः, लोकप्रद्योतकरेभ्य',
अभयदेभ्यः, चक्षुर्देभ्य., मार्गदेभ्य',
शरणदेभ्य. जीवदेभ्यः बोधिदेभ्य' धर्मदेभ्य.,
धर्मदेशकेभ्य , धर्मनायकेभ्य , धर्मसारथिभ्यः,
धर्मवर-चतुरन्त-चक्रवर्तिभ्य',
[द्वीप-त्राण-शरण-गति-प्रतिष्ठेभ्य',]
अप्रतिहत-वर-ज्ञान-दर्शन-धरेभ्य.,
व्यावृत्त-छद्मभ्यः,
जिनेभ्यः, जापकेभ्यः,
तीर्णेभ्य., तारकेभ्य',
बुद्धेभ्यः, बोधकेभ्य ,
मुक्तेभ्यः, मोचकेभ्यः,
सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्य',
शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधम्—
अपुनरावृत्ति-सिद्धिगतिनामधेयं स्थान
सप्राप्तेभ्य',
नमो जिनेभ्यः, जितभयेभ्यः ।

[११]

सामायिक-सम्पन्न-सूत्र

: १ :

एतस्य नवमस्य सामायिकव्रतस्य—
पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, न समाचरितव्याः
तद्यथा—
१—मनो-दुष्प्रणिधानम्,
२—वचो-दुष्प्रणिधानम्,
३—काय-दुष्प्रणिधानम्,
४—सामायिकस्य स्मृत्यकरणता,
५—सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणता,
तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम्,

: २ :

सामायिक सम्यक्-कायेन
न स्पृष्ट, न पालितम्,
न तीरित, न कीर्तितम्,
न शोधित, न आराधितम्,
आज्ञया अनुपालित न भवति,
तस्य मिथ्या मम दुष्कृतम् ।

० ०

३ ‖ सामायिक-सूत्र : हिंदी पद्यानुवाद

: १ :

नमस्कार सूत्र

[कुकुभ की ध्वनि]

नमस्कार हो अरिहन्तो को,
राग-द्वेष — रिपु-सहारी !
नमस्कार हो श्री सिद्धो को,
अजर अमर नित अविकारी !
नमस्कार हो आचार्यो को,
सघ-शिरोमणि आचारी !
नमस्कार हो उवज्झायो को,
अक्षय श्रुत-निधि के धारी !
नमस्कार हो साधु सभी को,
जग मे जग-ममता मारी !
त्याग दिए वैराग्य-भाव से,
भोग-भाव सब ससारी !
पाँच पदो को नमस्कार यह,
नष्ट करे कलि-मल भारी !
मगलमूल अखिल मगल मे
पापभीरु जनता तारी !

: २ :

सम्यक्त्व-सूत्र

[पीयूषवर्ष की ध्वनि]

देव मम अर्हन् विजेता कर्म के,
साधुवर गुरुदेव धारक धर्म के !
जिन-प्रभाषित धर्म केवल तत्व है,
ग्रहण की मैंने यही सम्यक्त्व है !

: ३ :

गुरुगुणस्मरण-सूत्र

[दिक्पाल की ध्वनि]

चंचल, चपल, हठीली नित पांच इन्द्रियों का,—
संवर-नियन्त्रणा से भव-विष-उतारते हैं !
नव गुप्ति शील व्रत का आदर सदैव पालें,
कलुषित कषाय चारों दिन-रात टारते हैं !
पाँचों महाव्रतों के धारक सुधैर्य-शाली,
आचार पाँच पाले जीवन सुधारते हैं !
गुरुदेव पांच समिती तीनों सुगुप्ति धारी,
छत्तीस गुण विमल हैं, शिव-पथ सँवारते हैं !

: ४ :

गुरुवन्दन-सूत्र

[लावनी की ध्वनि]

तीन बार गुरुवर ! प्रदक्षिणा,
आदक्षिणा मैं करता हूँ !
वन्दन, नति, सत्कार और,
सम्मान हृदय से करता हूँ !

मगल-मय, कल्याण-रूप,
देवत्व-भाव के धारक हो !
ज्ञान-रूप हो, प्रबल अविद्या-
अन्धकार — सहारक हो !
पर्युपासना श्री चरणो की,
एकमात्र जीवन-धन है !
हाथ जोडकर शीश झुका कर
वार वार अभिवन्दन है !

· ५

आलोचना-सूत्र

[चन्द्रमणि की ध्वनि]

आज्ञा दीजे हे प्रभो ! प्रतिक्रमण की चाह है,
ईर्यापथ-आलोचना, करने का उत्साह है !
आज्ञा मिलने पर करू प्रतिक्रमण प्रारंभ मैं,
आते पथ गन्तव्य मे, किया जीव आरभ मैं !
प्राणी, वीज तथा हरित, ओस, उत्तिग, सेवाल का,
किया विमर्दन मृत्तिका, जल, मकडी के जाल का !
एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय तथा त्रीन्द्रिय की सीमा नही,
चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय नष्ट हुए हो यदि कही !
सम्मुख आते जो हने और ढके हो धूल से,
मसले हो यदि भूमि पर, व्यथित हुए हो भूल से !
आपस मे टकरा दिए, छू कर पहुँचाई व्यथा,
पापो की गणना कहाँ, लम्बी है अब भी कथा !
दी हो कटु परितापना, ग्लानि, मरण सम भी किए,
त्रास दिया, इक स्थान से अन्य स्थान हटा दिए !
अधिक कहूं क्या प्राण भी, नष्ट किए निर्दय वना;
दुष्कृत हो मिथ्या सकल, अमल सफल हो साधना।

. ६ .

कायोत्सर्ग-सूत्र

[छप्पय की ध्वनि]

पापमग्न निज आत्म-तत्त्व को विमल बनाने,
प्रायश्चित्त ग्रहण कर अन्तर ज्ञान-ज्योति जगाने !
पूर्ण शुद्धि के हेतु समुज्ज्वल ध्यान लगाने,
शल्य-रहित हो पाप-कर्म का द्वन्द्व मिटाने !
राग-द्वेष-सकल्प तज, कर समता-रस पान,
स्थिर हो कायोत्सर्ग का करूँ पवित्र विधान !

७ .

आगार-सूत्र

[रूपमाला की ध्वनि]

नाथ ! पामर जीव है यह, भ्रान्ति का भडार,
अस्तु, कायोत्सर्ग मे कुछ, प्राप्त है आगार !
श्वास ऊँचा, श्वास नीचा, छींक अथवा काश,
जृम्भणा, उद्गार, वातोत्सर्ग, भ्रम मतिनाश !
पित्तमूर्च्छा, और अणु भी अग का सचार;
श्लेष्म का और दृष्टि का यदि सूक्ष्म हो प्रविचार !
अन्य भी कारण तथाविध हैं अनेक प्रकार,
चचलाकृति देह जिनसे शीघ्र हो सविकार !
भाव कायोत्सर्ग मम, हो, पर अखड अभेद्य,
भावना-पथ है सुरक्षित देह ही है भेद्य !
जाव कायोत्सर्ग, पढ नवकार ना लूँ पार,
ताव स्थान, सुमौन मे स्थित ध्यान की झनकार !
देह का सब भान भूलूँ, साधना इक तार,
आत्म-जीवन मे हटाऊँ, पाप का व्यापार !

: ८ :

चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र
[हरिगीतिका की ध्वनि]

ससार मे उद्द्योत-कर श्रीधर्म-तीर्थ कर महा;
चौवीस अर्हन् केवली वन्दू अखिल पापापहा!
श्री आदि नरपुगव ऋषभ जिनवर अजित इन्द्रियजयी;
सभव तथा अभिनन्द जी शोभा अमित महिमामयी!
श्री सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि जिनराज का,
शीतल तथा श्रेयास का तप तेज है दिनराज का!
श्री वासुपूज्य, विमल, अनन्त, अनन्तज्ञानी धर्म जी;
श्री शान्ति, कुन्थु तथैव अर, मल्ली, नशाए कर्म जी!
भगवान् मुनिसुव्रत, गुणी नमि, नेमि, पार्श्व जिनेश को;
वर वन्दना है भक्ति से श्री वीर धर्म-दिनेश को!
हो कर्ममल-विरहित जरा-मरणादि सब क्षय कर दिए;
चौवीस तीर्थ कर जिनेन्द्र कृपालु हो गुण-स्तुति किए!
कीर्तित, महित, वन्दित सदा ही सिद्ध जो हैं लोक मे,
आरोग्य, बोधि, समाधि, उत्तम दे, न आएं शोक मे!
राकेश से निर्मल अधिक उज्ज्वल अधिक दिवसेश से;
व्यामोह कुछ भी है नही, गभीर सिन्धु जलेश से!
ससार की मधु-वासना अन्तर्हृदय मे कुछ नहीं,
श्री सिद्ध तुम—सी सिद्धि मुझको भी मिले आशा यही!

: ९

सामायिक-प्रतिज्ञा-सूत्र
[घनाक्षरी की ध्वनि]

भगवन्! सामायिक करता हू समभाव,
पापरूप व्यापारो की कल्पना हटाता हूँ!

यावत् नियम धर्म-ध्यान की उपासना है,
युगल करण तीन योग से निभाता हूँ !
पापकारी कर्म मन, वच और तन द्वारा,
स्वयं नहीं करता हूं और न कराता हूँ !
करके प्रतिक्रमण, निन्दा तथा गर्हणा मैं,
पापात्मा को वोसिरा के विशुद्ध बनाता हूं !

१०

प्रणिपात-सूत्र

[रोला की ध्वनि]

नमस्कार हो वीतराग अर्हन् भगवन् को;
आदि धर्म की कर्ता श्री तीर्थंकर जिन को !
स्वयंबुद्ध है, भूतल के पुरुषों में उत्तम,
पुरुष-सिंह है, पुरुषों मे अरविन्द महत्तम !
पुरुषों मे है श्रेष्ठ गन्धहस्ती से स्वामी,
लोकोत्तम हैं, लोकनाथ है, जगहित-कामी !
लोक-प्रदीपक है, अति उज्ज्वल लोक-प्रकाशक
अभयदान के दाता अन्तर चक्षु-विकाशक !
मार्ग, शरण, सद्बोधि, धर्म, जीवन के दाता,
सत्य धर्म के उपदेशक, अधिनायक त्राता !
धर्म-प्रवर्तक, धर्म-चक्रवर्ती जग-जेता,
द्वीप-त्राण-गति-शरण-प्रतिष्ठामय शिवनेता !
श्रेष्ठ तथा अनिरुद्ध ज्ञान दर्शन के धारी;
छद्मरहित, अज्ञान भ्रान्ति की सत्ता टारी !
राग-द्वेष के जेता और जिताने वाले;
भवसागर से तीर्ण तथैव तिराने वाले !
स्वयं बुद्ध हो, बोध भव्य जीवों को दीना;

मुक्त और मोचक का पद भी उत्तम लीना।
लोकालोक-प्रकाशी अविचल केवलज्ञानी,
केवलदर्शी परम अहिंसक शुक्ल-ध्यानी !
मगल-मय, अविचचल, शून्य सकल रोगो से,
अक्षय, और अनन्त रहित वाधा-योगो से।
एक वार जा वहाँ, न फिर जग मे आए हैं,
सर्वोत्तम वह स्थान मोक्ष का अपनाए है !
('एक वार जा वहाँ, न फिर जग मे आना है,
सर्वोत्तम वह स्थान मोक्ष का अपनाना है।)
नमस्कार हो श्री जिन अन्तर-रिपु जयकारी,
अखिल भयो को जीत पूर्ण निर्भयता धारी।

११

समाप्ति-सूत्र

[घनाक्षरी की ध्वनि]

(१)

सामायिक व्रत का समग्र काल पूरा हुआ,
भूल चूक जो भी हुई आलोचना करूँ मैं,।
मन, वच, तन बुरे मार्ग मे प्रवृत्त हुए,
अन्तरग शुद्धि की विभग्नता से डरूँ मैं।॥
स्मृतिभ्रश तथा व्यवस्थिति-हीनता के दोप,
पश्चात्ताप कर पाप-कलिमा से टरूँ मैं,।
अखिल दुरित मम शीघ्र ही विफल होवे,
अतल असीम भवसागर से तरूँ मैं !!

(२)

सामायिक भली भाँति उतारी न अन्तर मे,
स्पर्शन, पालन, यथाविधि पूर्ण की नही,।

१—उक्त कोष्ठांकित पाठान्तर अरिहन्तों के लिए है।

वीतराग, वचनो के अनुसार कीर्तना की,
शुद्धि की, आराधना की दिव्य ज्योति ली नही !!
ससार की ज्वालाओ से पिपासित हृदय ने,
शान्तिमूल समभावना की सुधा पी नही, ।
आलोचना, अनुताप करता हू बार-बार,
साधना मे क्यो न सावधान वृत्ति की नही !!

* *

४ ‖ # सामायिक पाठ

[आचार्य अमितगति]

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थ्य–भाव विपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥

—हे जिनेन्द्र देव ! मैं यह चाहता हूँ कि यह मेरी आत्मा सदैव प्राणिमात्र के प्रति मित्रता का भाव, गुणी-जनो के प्रति प्रमोद का भाव, दु खित जीवो के प्रति करुणा का भाव, और धर्म से विपरीत आचरण करने वाले अधर्मी तथा विरोधी जीवो के प्रति राग-द्वेषरहित उदासीनता का भाव धारण करे ।

शरीरत. कर्तुमनन्त—शक्ति,
विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टि,
तव प्रसादेन ममास्तु शक्ति . ॥२॥

—हे जिनेन्द्र आपकी स्वभाव-सिद्ध कृपा से मेरी आत्मा मे ऐसा आध्यात्मिक बल प्रकट हो कि मैं अपनी आत्मा को कार्मण शरीर आदि से उसी प्रकार अलग कर सकूँ, जिस प्रकार म्यान से-तलवार अलग की जाती है। क्योकि, वस्तुत मेरी आत्मा अनन्त शक्ति से

सम्पन्न है, और सम्पूर्ण दोषों से रहित होने के कारण निर्दोष वीतराग है !

दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे,
योगे वियोगे भवने वने वा ।
निराकृताशेष-ममत्व-बुद्धेः,
समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ॥३॥

—हे नाथ ! संसार की समस्त ममता-बुद्धि को दूर करके मेरा मन सदा काल दुःख में, सुख में, शत्रुओं में, बन्धुओं में, संयोग में, वियोग में, घर में, वन में सर्वत्र राग-द्वेष की परिणति को छोड़कर सम बन जाए !

मुनीश ! लीनाविव कीलिताविव,
स्थिरौ निखाताविव बिम्बिताविव ।
पादौ त्वदीयौ मम तिष्ठतां सदा,
तमो धुनानौ हृदि दीपकाविव ॥४॥

—हे मुनीन्द्र ! अज्ञान अन्धकार को दूर करने वाले आपके चरण-कमल दीपक के समान है, अतएव मेरे हृदय में इस प्रकार बसे रहें, मानो हृदय में लीन होगए हों, कील की तरह गड़ गए हों, बैठ गए हों, या प्रतिबिम्बित हो गए हों !

एकेन्द्रियाद्या यदि देव ! देहिनः,
प्रमादतः संचरता इतस्ततः ।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडितास्-
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥५॥

—हे जिनेन्द्र ! इधर उधर प्रमादपूर्वक चलते-फिरते मेरे से यदि एकेन्द्रिय आदि प्राणी नष्ट हुए हों, टुकड़े किये गए हों, निर्दयतापूर्वक मिला दिए गए हों, किं बहुना, किसी भी प्रकार से दुःखित किए हों, तो वह सब दुष्ट आचरण मिथ्या हो !

विमुक्तिमार्ग-प्रतिकूल-वर्तिना,
मया कषायाक्षवशेन दुर्धिया ।

चारित्र-शुद्धेर्यदकारि लोपनं,
तदस्तु मिथ्या मम दुष्कृत प्रभो ! ॥६॥

—हे प्रभो ! मैं दुर्बुद्धि हूँ, मोक्षमार्ग से प्रतिकूल चलने वाला हूँ, अतएव चार कषाय और पाँच इन्द्रियो के वश मे होकर मैंने जो-कुछ भी अपने चारित्र की शुद्धि का लोप किया हो, वह सब मेरा दुष्कृत मिथ्या हो !

विनिन्दनालोचन—गर्हणैरह,
मनोवचःकाय—कषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पाप भवदु.खकारण,
भिषग् विष मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥७॥

—मन, वचन, शरीर एव कषायो के द्वारा जो-कुछ भी ससार के दु ख का कारणभूत पापाचरण किया गया हो, उस सब को निन्दा, आलोचना और गर्हा के द्वारा उसी प्रकार नष्ट करता हूँ, जिस प्रकार कुशल वैद्य मन्त्र के द्वारा अग-अग मे व्याप्त समस्त विष को दूर कर देता है !

अतिक्रम य विमतेर्व्यतिक्रम,
जिनातिचार सुचरित्रकर्मणः ।
व्यधामनाचारमपि प्रमादतः,
प्रतिक्रम तस्य करोमि शुद्धये ॥८॥

—हे जिनेश्वर देव ! मैंने विकार-बुद्धि से प्रेरित होकर अपने शुद्ध चारित्र मे जो भी प्रमाद वश अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार रूप दोष लगाए हो, उन सब की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करता हूँ !

क्षति मन शुद्धिविधेरतिक्रम,
व्यतिक्रम शीलवृतेर्विलङ्घनम् ।
प्रभोऽतिचार विषयेषु वर्तन,
वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥९॥

—हे प्रभो ! मन की शुद्धि मे क्षति होना अतिक्रम है, शील-वृत्ति

का अर्थात् स्वीकृत प्रतिज्ञा के उल्लघन का भाव व्यतिक्रम है, विषयों मे प्रवृत्ति करना अतिचार है, और विषयो मे अतीव आसक्त हो जाना—निरर्गल हो जाना—अनाचार है !

यदर्थमात्रापदवाक्य—हीनं,
मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी,
सरस्वती केवल—बोध-लब्धिम् ॥१०॥

—यदि मैंने प्रमाद-वश होकर अर्थ, मात्रा, पद और वाक्य से हीन या अधिक कोई भी वचन कहा हो, तो उसके लिए जिन-वाणी मुझे क्षमा करे और केवल ज्ञान का अमर प्रकाश प्रदान करे !

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः ।
चिन्तामणि चिन्तितवस्तुदाने,
त्वा वन्द्यमानस्य ममास्तु देवि ! ॥११॥

—हे जिनवाणी देवी ! मै तुझे नमस्कार करता हूँ । तू अभीष्ट वस्तु के प्रदान करने मे चिन्तामणि-रत्न के समान है । तेरी कृपा से मुझे रत्नत्रय-रूप बोधि, आत्मलीनता-रूप समाधि, परिणामो की पवित्रता, आत्म-स्वरूप का लाभ और मोक्ष का सुख प्राप्त हो!

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्र—वृन्दैर्—
यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रैः
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१२॥

—जिन परमात्मा को ससार के सब मुनीन्द्र स्मरण करते है, जिनकी नरेन्द्र और सुरेन्द्र तक भी स्तुति करते है, और जिसकी महिमा ससार के समस्त वेद, पुराण एव शास्त्र गाते है, वह देवो का भी आराध्य देव वीतराग भगवान् मेरे हृदय मे विराजमान होवे !

यो दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावः,
समस्तससार-विकार-बाह्यः ।

समाधिगम्यः परमात्म-संज्ञः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१३॥

—जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सुख का स्वभाव धारण करता है, जो ससार के समस्त विकारो से रहित है, जो निर्विकल्प समाधि (ध्यान की निश्चलता) के द्वारा ही अनुभव मे आता है, वह परमात्मा देवाधिदेव मेरे हृदय मे विराजमान होवे !

निषूदते यो भवदुःख-जाल,
निरीक्षते यो जगदन्तरालम् ।
योऽन्तर्गतो योगिनिरीक्षणीयः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥१४॥

—जो ससार के समस्त दु ख-जाल को विध्वस्त करता है, जो त्रिभुवनवर्ती सव पदार्थो को देखता है, और जो अन्तर्हृदय मे योगियो द्वारा निरीक्षण किया जाता है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे विराजमान होवे !

विमुक्ति-मार्ग-प्रतिपादको यो,
यो जन्ममृत्यु-व्यसनाद् व्यतीतः ।
त्रिलोकलोकी विकलोऽकलङ्कः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १५ ॥

—जो मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करने वाला है, जो जन्म-मरण-रूप आपत्तियो से दूर है, जो तीन लोक का द्रष्टा है, जो शरीर-रहित है और निष्कलक है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे विराजमान होवे ।

क्रोडीकृताशेष शरीरि-वर्गा,
रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १६ ॥

—समस्त ससारी जीवों को अपने नियन्त्रण मे रखने वाले रागादि दोष जिसमे नाममात्र को भी नही है, जो इन्द्रिय तथा मन से रहित है,

अथवा अतीन्द्रिय है, जो ज्ञानमय है और अविनाशी है, वह देवाधिदेव मेरे हृदय मे विराजमान होवे ।

यो व्यापको विश्वजनीनवृत्तिः,
सिद्धो विबुद्धो धुत-कर्मबन्धः ।
ध्यातो धुनीते सकल विकार,
स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥ १७ ॥

—जो विश्व-ज्ञान की दृष्टि से अखिल विश्व मे व्याप्त है, जो विश्व-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होता है, सिद्ध है, बुद्ध है, कर्म-बन्धनो से रहित है, जिसका ध्यान करने पर समस्त विकार दूर हो जाते है, वह देवाधिदेव मेरे अन्तर्मन मे विराजमान होवे ।

न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषैर्,
यो ध्वान्तसघैरिव तिग्मरश्मिः ।
निरञ्जन नित्यमनेकमेक,
त देवमाप्तं शरण प्रपद्ये ॥ १८ ॥

—जो कर्म-कलक-रूपी दोषो के स्पर्श से उसी प्रकार रहित है, जिस प्रकार प्रचण्ड सूर्य अन्धकार-समूह के स्पर्श से रहित होता है, जो निरजन है, नित्य है, तथा जो गुणो की दृष्टि से अनेक है और द्रव्य की दृष्टि से एक है, उस परम सत्य-रूप आप्तदेव की शरण मे स्वीकार करता हूँ ।

विभासते यत्र मरीचिमालि-
न्यविद्यमाने भुवनावभासि ।
स्वात्मस्थित बोधमयप्रकाश,
त देवमाप्त शरण प्रपद्ये ॥ १९ ॥

—लौकिक सूर्य के न रहते हुए भी जिसमे तीन लोक को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान का सूर्य प्रकाशमान हो रहा है, जो निश्चय नय की अपेक्षा से अपने आत्म-स्वरूप मे ही स्थित है, उस आप्त देव की शरण मे स्वीकार करता हूँ ।

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं,
विलोक्यते स्पष्टमिद विविक्तम् ।
शुद्धं शिव शान्तमनाद्यनन्तं,
तं देवमाप्त शरण प्रपद्ये ॥२०॥

—जिसके ज्ञान मे सम्पूर्ण विश्व अलग-अलग रूप मे स्पष्टतया प्रतिभासित होता है, और जो शुद्ध है, शिव है, शान्त है, अनादि है, अनन्त है, उस आप्त देव की शरण मैं स्वीकार करता हूँ।

येन क्षता मन्मथ-मान-मूर्च्छा,
विषाद-निद्रा-भय-शोक-चिन्ता ।
क्षय्योऽनलेनेव तरू-प्रपञ्चस्—
त देवमाप्त शरणं प्रपद्ये ॥२१॥

—जिस प्रकार दावानल वृक्षो के समूह को भस्म कर डालता है, उसी प्रकार जिसने काम, मान, मूर्च्छा, विपाद, निद्रा, भय, शोक और चिन्ता को नष्ट कर डाला है, उस आप्त देव की शरण मैं स्वीकार करता हूँ ।

न सस्तरोऽश्मा न तृण न मेदिनी,
विधानतो नो फलको विनिर्मितः ।
यतो निरस्ताक्षकषाय-विद्विष ,
सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलो मत ॥२२॥

—सामायिक के लिए विधान के रूप मे न तो पत्थर की शिला को आसन माना है, और न तृण, पृथ्वी, काष्ठ आदि को। निश्चय दृष्टि के विद्वानो ने उस निर्मल आत्मा को ही सामायिक का आसन-आधार माना है, जिसने अपने इन्द्रिय और कपाय-रूपी शत्रुओ को पराजित कर दिया है ।

न संस्तरो भद्र ! समाधिसाधनं,
न लोकपूजा न च सघमेलनम् ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिश,
विमुच्य सर्वामपि वाह्यवासनाम् ॥२३॥

—हे भद्र ! यदि वस्तुत देखा जाए तो समाधि का साधन न आसन है,न लोक-पूजा है, और न सघ का मेल-जोल ही है। अतएव तू तो ससार की समस्त वासनाओ का परित्याग कर निरन्तर अध्यात्म-भाव मे लीन रह।

न सन्ति बाह्याः मम केचनार्था,
भवामि तेषा न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र ! मुक्त्यै ॥२४॥

—ससार मे जो भी बाह्य भौतिक पदार्थ हैं, वे मेरे नही हैं और न मैं ही कभी उनका हो सकता हूँ—इस प्रकार हृदय मे निश्चय ठान कर हे भद्र ! तू बाह्य वस्तुओं का त्याग कर दे और मोक्ष की प्राप्ति के लिए सदा आत्म-भाव मे स्थिर रह।

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्—
त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र-तत्र,
स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

—जब तू अपने को अपने-आप मे देखता है, तब तू दर्शन और ज्ञान रूप हो जाता है, पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। जो साधक अपने चित्त को एकाग्र बना लेता है, वह जहाँ कहीं भी रहे, समाधि-भाव को प्राप्त कर लेता है।

एक. सदा शाश्वतिको ममात्मा,
विनिर्मलः साधिगमस्वभाव. ।
बहिर्भवा. सन्त्यपरे समस्ता,
न शाश्वता. कर्मभवाः स्वकीयाः॥२६॥

—मेरी आत्मा सदैव एक है, अविनाशी है, निर्मल है और केवल ज्ञान-स्वभाव है। ये जो-कुछ भी बाह्य पदार्थ हैं, सब आत्मा से भिन्न हैं। कर्मोदय से प्राप्त, व्यवहार दृष्टि से अपने कहे जाने वाले जो भी बाह्य-भाव हैं, सब अशाश्वत हैं, अनित्य हैं।

यस्यास्ति नैक्य वपुषाऽपि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र मित्रैः ?
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥२७॥

—जिसकी अपने शरीर के साथ भी एकता नही है, भला उस आत्मा का पुत्र, स्त्री और मित्र आदि से तो सम्बन्ध ही क्या हो सकता है ? यदि शरीर के ऊपर से चमड़ा अलग कर दिया जाए, तो उसमे रोम-कूप कैसे ठहर सकते हैं ? विना आधार के आधेय कैसा ?

सयोगता दुःखमनेकभेद,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

—ससार रूपी वन मे प्राणियो को जो यह अनेक प्रकार का दुख भोगना पडता है, वह सब सयोग के कारण है, अतएव अपनी मुक्ति अभिलापियो को यह सयोग मन, वचन एव शरीर तीनो ही प्रकार से छोड देना चाहिए ।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजाल,
ससार-कान्तार-निपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो,
निलीयसे त्व परामात्म-तत्त्वे ॥२९॥

—ससार--रूपी वन मे भटकाने वाले सब दुर्विकल्पों का त्याग करके तू अपनी आत्मा को पूर्णतया जड से भिन्न रूप मे देख और परमात्मतत्त्व मे लीन हो ।

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फल तदीय लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुट,
स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ॥३०॥

—आत्मा ने पहले जो कुछ भी शुभाशुभ कर्म किया है, उसी का

५ ‖ प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

१ रत्नकरण्ड-श्रावकाचार—आचार्य समन्तभद्र

२ प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्ति—आचार्य जयसेन

३. सूत्रकृताङ्गसूत्र-टीका—आचार्य शीलाङ्क

४. आवश्यक-निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु

५. दशवैकालिक-टीका—आचार्य हरिभद्र

६. पञ्चाशक—आचार्य हरिभद्र

७. शास्त्रवार्ता,समुच्चय—आचार्य हरिभद्र

८. अष्टक-प्रकरण—आचार्य हरिभद्र

९. षोडशक-प्रकरण—आचार्य हरिभद्र

१०. व्यवहारभाष्य-टीका—आचार्य मलयगिरि

११ प्रतिक्रमणसूत्र-वृत्ति—आचार्य नमि

१२. सामायिक-पाठ—आचार्य अमितगति

१३ तत्त्वार्थ-सूत्र—आचार्य उमास्वाति

१४. योग-शास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र

१५ आवश्यक-बृहद्वृत्ति—आचार्य हरिभद्र

१६. विशेषावश्यक-भाष्य—जिनभद्र क्षमाश्रमण

१७. आत्म-प्रबोध—जिनलाभसूरि

१८ तीन-गुणव्रत—पूज्य जवाहिराचार्य

१९ तत्त्वार्थसूत्र-टीका—वाचक यशोविजय
२० द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका—यशोविजय
२१ व्यवहार-भाष्य—सघदासगणी
२२ राजप्रश्नीयसूत्र टीका—मलयगिरि
२३ स्थानाङ्गसूत्र-टीका—अभयदेव
२४ सर्वार्थसिद्धि—पूज्यपाद
२५ धर्म-सग्रह—मानविजय
२६ सर्वार्थसिद्धि—कमलशील
२७. तत्त्वार्थ-राजवार्तिक—भट्टाकलङ्क
२८ अष्टाध्यायी-व्याकरण—पाणिनि
२९ अमरकोषटीका—भानुजी दीक्षित
३० भगवती सूत्र-वृत्ति—अभयदेव
३१ सामायिक-सूत्र—स० मोहनलाल देसाई
३२ वैदिक-सन्ध्या—दामोदर सातवलेकर
३३ नैषधचरित—श्रीहर्ष
३४ दशवैकालिक-सूत्र
३५ निशीथ-सूत्र
३६. प्रायश्चित-समुच्चयवृत्ति
३७ निरुक्त
३८ योगशास्त्र-स्वोपज्ञवृत्ति
३९ निशीथसूत्र-चूर्णि
४० आचाराङ्ग-सूत्र
४१. अन्तकृद्दशाग-सूत्र
४२ कल्प-सूत्र
४३ औपपातिक-सूत्र
४४ उत्तराध्ययन-सूत्र
४५ स्थानाङ्ग-सूत्र
४६ सूत्रकृताङ्ग-सूत्र

४७. ज्ञातासूत्र
४८. प्रश्नव्याकरण सूत्र
४९ भगवती-सूत्र
५० अमितगति-श्रावकाचार
५१. उपासकदशाग, सूत्र
५२. भगवद्गीता
५३ यजुर्वेद
५४. अथर्ववेद
५५ शतपथ-ब्राह्मण

✿ ✿